सहजानंद शास्त्रमाला

समयसार कलश प्रवचन

चतुर्थ भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'समयसार कलश प्रवचन चतुर्थ भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। इस ग्रन्थ में समयसार के बंधाधिकार एवं मोक्षाधिकार पर आचार्य अमृतचंद्र रचित कलशों पर प्रवचन संकलित किये गये हैं। ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रंथ की PDF फाईल http://is.gd/varniji से download की जा सकती है ।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री **सुरेशजी पांड्या**, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 3500/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्री शांतिलालजी बड़जात्या,** इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी''सहजानन्द'' महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।

अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय.....2
आत्मकीर्तन.....3
आत्म रमण.....4
कलश 163.....1
कलश 164.....7
कलश 165.....13
कलश 166.....19
कलश 167.....22
कलश 168.....26
कलश 169.....33
कलश 170.....37
कलश 171.....42
कलश 172.....51
कलश 173.....57

कलश 174.....72
कलश 175.....75
कलश 176.....81
कलश 177.....87
कलश 178.....94
कलश 179.....110
कलश 180.....116
कलश 181.....122
कलश 182.....128
कलश 183.....133
कलश 184.....146
कलश 185.....152
कलश 186.....158
कलश 187.....164
कलश 188.....170
कलश 189.....175
कलश 190.....181
कलश 191.....187
कलश 192.....192

समयसार कलश प्रवचन चतुर्थ भाग

(बन्धाधिकार)

कलश 163

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडन्तं रसभावनिर्भरमहानाटय्येन बन्धं धुनत् ।
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्-
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति ॥163॥

1284- बन्ध को धुनते हुए निरुपाधि ज्ञान का उपयोगभूमि में प्रवेश-

अब निरुपाधि ज्ञान प्रकट होता है याने उपयोग में रागद्वेषादिक विभाव अंतरंग उपाधियों से रहित यह ज्ञान प्रकट होता है, जो ज्ञान इस बंध को धुनता हुआ प्रकट हो रहा, जहाँ आत्मस्वभाव स्पर्शी ज्ञान है वहाँ बंध की क्या कथा है? बंध किसे कहते हैं? बंध की क्या तारीफ है? उपयोग कर्मविपाजक विकारभाव में, विकल्प में अपने आपको जोड़ता याने विभावों के अधीन बन गया उपयोग। अब विभावरूप, विकाररूप यह अपनी परिणति करे, यह है अपने आपमें बंध। और ऐसा बंध बना कैसे? ऐसा कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं है कि वह विभावों के अधीन विभावरूप परिणमन, ज्ञानविकल्प यों ही अपने आप बनाया करे, ऐसा स्वभाव नहीं है। करता यह जीव ही विकारपरिणाम है, मगर कर्मविपाक सन्निधान में यह जीव अपने आपमें इस प्रकार का विकार करता है, तभी यह विकार दूर हो सकता है, नैमित्तिक है, अतएव वह विकार दूर हो सकता है; जो अनैमित्तिक तत्त्व है, अहेतुक है, स्वाभाविक है वह दूर नहीं किया जा सकता। तो यहाँ इस बंध को इस रूप में जो रखता है यह मेरा स्वरूप नहीं, स्वभाव नहीं, स्वाभाविक भाव नहीं, यह औपाधिक है, पर लक्ष्य करके उत्पन्न हुआ भाव है, ये सारी बातें जब इस ज्ञानी के निर्णय में हैं तो उसमें एक ऐसा बल होता है कि इसको तो ज्ञानबल के द्वारा क्षणमात्र में दूर किया जा सकता है।

1285- रागोद्गारमहारस से बन्ध द्वारा जगत् की विडम्बना-

यह बंध राग के उदयविपाकरस से सारे जगत को प्रमत्त कर चुका है, कर रहा है। कैसा प्रमत्त? बेहोश, स्वरूप की सुध नहीं हो पाती। इस जीव पर राग बहुत बड़ी विपत्ति है। स्वरूप से देखो तो सब जीव आनन्दमय हैं, स्वरूप में निरखिये, स्वरूप कष्ट के लिए नहीं होता। एक आत्मा ही क्या, किसी भी पदार्थ का स्वरूप अपनी बरबादी के लिए नहीं हुआ करता। मुझ आत्मा का स्वरूप है चैतन्य प्रकाश, उसमें कष्ट का कहाँ अवसर है? स्वरूप को निरखिये- स्वरूप आनन्दमय है। मगर पूर्वबद्ध निजकर्मविपाकवश बन रहे हैं ज्ञान विकल्प। इन ज्ञान विकल्पों ने इस जीव को झकझोर दिया, यह जीव परेशान हो गया। परेशान शब्द यद्यपि है उर्दू का, किन्तु इसको संस्कृत शब्द अगर मान लें तो परेशान का अर्थ क्या होगा? पर ईशान, ईशान कहते हैं स्वामी को। तो पर पदार्थों को अपना स्वामी मानना या पर का स्वामी अपने को मानना, जहाँ यह बुद्धि जगती है वहाँ इस जीव को परेशानी शुरू हो जाती है। सूक्ष्मरूप से, मोटेरूप से, ऐसे ही कोई पर के प्रति

लगाव बनाता है जीव तो यह परेशान है, दु:खी है, यह परतन्त्र है। यह विह्वलता, यह राग के उद्गार से प्रकट हुई है।

1286- ज्ञानवासित वैराग्ययुक्त जीवन की धन्यता-

भैया, किसी भी वस्तु का राग न करें तो क्या बिगड़ता है यहाँ? आत्मा के गुणों में से कोई गुण क्या कम हो जाता है? किसी भी वस्तु विषयक किसी भी परतत्त्व में, किसी भी वस्तुधर्म में राग न हो तो आत्मा का क्या बिगाड़ है सो बतलाओ? जरा अपने जीवन से अंदाज करो, इस जीवन तक इस कुटुम्ब में कितने लोग गुजर गए? आपके बाबा थे, बड़ा प्यार रखते थे वे भी नहीं रहे, जो जो नहीं रहे, दादा, बाबा, पिता, किसी के पुत्र भी नहीं रहे, जो जो भी जिनके नहीं रहे, वे जरा विचारें तो सही कि हमने पूर्व समय में ऐसी ऐसी चेष्टायें की, राग किया, प्रीति की। यदि मैं प्रीति न रखता, राग न रखता तो मेरा क्या बिगाड़ था? यह बात अब जरा समझ में आ सकती है, क्योंकि वे साधन सामने नहीं हैं, वे गुजर गए हैं और उसके प्रति जो प्रीति की है, उसकी एक बड़ी चोट है, आघात है, दु:ख है, तो यह बात झट समझ में आ सकती है कि उन जीवों से यदि प्रीति न की होती तो मेरा क्या बिगाड़ था। बल्कि मैं तब भी आनन्द में रह लेता, इतना समय व्याकुलता में तो न जाता, यह बात झट समझ में आती, ऐसी ही बात मिली हुई सम्पत्ति और परिचय में यदि बन सके तो उसका जीवन धन्य है। जल से भिन्न कमल है। जल से भिन्न रहेगा कमल तो वह सड़ेगा नहीं, जल से ही पैदा होता और वह जल से राग करने लगे, जल में पड़ जावे तो कुछ दिन में वह सड़ जायगा। वह जल से न्यारा रहता है तो प्रफुल्लित है, ऐसे ही हम आप घर में पैदा होते, इसी कुटुम्ब में पलते-पुषते, इसके बीच रहकर भी अगर अपने स्वरूप का भान रहे तो प्रसन्न रहेंगे और जो परिजन में, परिग्रह में इनमें अनुरक्त होंगे, आसक्त होंगे तब तो फिर सैकड़ों प्रकार के झगड़े रहेंगे, वहाँ फिर आदर न रहेगा, उसमें सड़ जायेंगे मायने बरबाद हो जायेंगे। इसका खूब भली प्रकार अंदाज कर लो- घर के बीच रहकर अगर बालबच्चों से अधिक मोह रहेगा तो वे बाल-बच्चे भी यही समझेंगे कि बाप तो बड़ा बुद्धू बन रहा, मेरे लिए रात-दिन जुत रहा, मैं जो कहूँगा सो यह करेगा...और जो कुछ ज्ञान और वैराग्य की ओर प्रेरित रहेगा यह तो उसके प्रति उन सबको भय रहेगा कि हमसे कहीं कोई अनुचित बात न बनने पावे। कहीं ऐसा न हो कि ये पूर्ण विरक्त हो जावें। तो ज्ञान और वैराग्य से वासित होकर घर में रहना बनेगा तो वहाँ प्रसन्नता रहेगी और आसक्त होकर घर में रहेगा तो वहाँ क्लेश रहेगा। यह राग का उद्गार ऐसा ही महान मदिरारस है।

1287- बंध की अज्ञानियों पर मार और ज्ञानियों की बन्ध पर मार-

इस बंध ने क्या किया, इस कर्मविपाक ने क्या किया कि राग-उद्गाररूपी मदिरारस से सारे जगत को प्रमत्त कर दिया और स्वयं अपना अनुभागरस भरा हुआ होने से एक अपना नृत्य बनाये, क्रीड़ा कर रहा अर्थात् इन सब प्राणियों को जैसी चाहे दुर्दशा बनाने में यह कारण हो रहा, निमित्त हो रहा। अथवा भावबंध से

देखो तो यह भावबंध इस जगत को नाना प्रकार से नाच नचा रहा, ऐसे स्वच्छंद क्रीड़ा करने वाले बंध को अब इस ज्ञान ने धुना। धातु एक अर्थ में अनेक होती हैं फिर भी सूक्ष्मता से देखें तो भेद पड़ता है, जैसे देखना, निरखना, परखना, लखना, अवलोकन आदि ये सब देखने के अर्थ में हैं, मगर सबके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। इनकी सावधानी हिन्दी में अधिक नहीं रखते पर इंग्लिश में और संस्कृत में इसकी बड़ी सावधानी होती है। कैसे कहाँ किन शब्दों का प्रयोग करना होता। यहाँ यह ज्ञान इस बंध को धुन रहा है, नष्ट कर रहा है, पीट- पीटकर, मार-मारकर उसके अंश-अंश को धुन रहा है, ऐसा यह ज्ञान अब प्रकट होता है। यह चल रहा है बंधाधिकार। तो बंधाधिकार के मायने यह न जानना कि इसमें बंधने-बंधने की बात की जायगी, इसमें बंध के धुन की बात कही जायगी। प्रकरणवश बंध के लक्षण भी आयेंगे। बंध का स्वरूप बताया जायगा, पर प्रयोजन है बंध को दूर करने का। बंध का यहाँ प्रवेश होता है याने इस उपयोगभूमि में अब बंध की चर्चा चलती है तो चर्चा धुन के रूप से चलेगी। बंध क्या कहलाता है? वह कैसे मिटता है? उसके प्रति क्या अपने को पौरुष करना है, ये सब चर्चायें इस अधिकार में आयेंगी तो यह ज्ञान विभाव-उपाधि से रहित होकर विलास कर रहा है। ज्ञानबल के द्वारा विभावभाव हट गए।

1288- अविकार स्वरूप पर विकार लदने की विडम्बना-

यह हूँ मैं अनादि चैतन्य प्रकाशमात्र, इसमें विकार नहीं, किन्तु इस पर विकार लद गए, जैसे सिनेमा का पर्दा है, तो उस पर्दे में फिल्म फोटो नहीं है, दिन में देख लो, कहाँ है? जब चाहे देख ली कहाँ है? सिनेमा के पर्दे पर फोटो नहीं पड़ी हुई है, वहाँ से वह फोटो नहीं आयी किन्तु उस पर फोटो का रंग लद गया है, कब? उस फिल्म मशीन से जो भी कार्य किया जा रहा है उसका सन्निधान पाकर। ऐसे ही मेरे स्वरूप में विकार नहीं हैं और स्वरूप में से विकार नहीं निकले किन्तु अशुद्धता की योग्यता से मुझ पर विकार लद गए हैं। जैसे उस पर्दे पर इतनी योग्यता है कि उस पर फोटो लद सकती है, चित्रण हो सकता है ऐसे ही इस उपयोग में ऐसी योग्यता है कि उस पर विकार लद सकते हैं। कब? रागोद्गाररस-निर्भर कर्मविपाक का सान्निध्य पाकर। ये विकार मेरे स्वरूप नहीं हैं। ऐसा जो एक, दोनों की संधि में, महान एक छेद किया है, दूर किया है, टुकड़े किया है ज्ञान द्वारा, अब ये विभाव अब इस स्वभाव में जुड़ सकें, जुड़ते तो किसी के न थे, पर अज्ञानी भ्रम से अपनाता रहा, यह अब भ्रम भी नहीं रख रहा है तो एकदम स्पष्ट मामला बन गया। यह मैं चैतन्यप्रकाश मात्र हूँ, ऐसी दृढ़ दृष्टि के कारण अब यहाँ निरन्तर बन्ध का धुनना बन रहा। आ रहे जा रहे, उसे अपना नहीं रहा ज्ञानी।

1289- अध्यात्मशास्त्र में बुद्धिगत पौरुष एवं कार्य का वर्णन-

देखिये- अध्यात्मशास्त्र में बुद्धिपूर्वक वर्णन होता है तो अन्य-अन्य बातें जानने पर भी जब एक अध्यात्म में केवल अंतस्तत्त्व का लक्ष्य रखा जाता है तो वहाँ फिर ज्ञान में एक ऐसा ध्यान नहीं लाया जाता कि बंध तो यहाँ तक चलता, आस्रव तो यहाँ तक होते 9 वें गुणस्थान तक, 10 वें गुणस्थान तक, तो वह जान तो

गया, जान लिया, मगर अबुद्धिपूर्वक जो बातें हैं उन पर आप क्या पौरुष करें? बुद्धिपूर्वक जो गंदगियाँ हैं उन्हें हटाना है। जब बुद्धिपूर्वक गंदगियाँ हटेंगी, अबुद्धिपूर्वक गंदगियाँ भी हटेंगी। यह ही तो सम्यग्दृष्टि पौरुष करता है कि बुद्धिपूर्वक पर तत्त्व पर-विजय किया तो अबुद्धिपूर्वक पर-तत्त्व पर विजय करने का उसका यही पौरुष है। जो राग को दूर करने का पौरुष है, कोई भिन्न पौरुष नहीं, अपने सहज स्वरूप का आश्रय करना और एक ही मात्र यह पौरुष है जिसके बल से सभी प्रकार के आस्रव बंध धुने चले जाते हैं जहाँ एक ज्ञान प्रकट हुआ। अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूप में, मैं हूँ ऐसा अनुभवने वाला वह ज्ञान नित्य ही आनन्दरूपी अमृत का भोजन करने वाला है अर्थात् उस ज्ञान के साथ ही आनन्द लगा हुआ है। फिर उस विशुद्ध आनन्द से ही ज्ञान का पोषण चल रहा, यह ज्ञान और आनन्द सहभावी हैं, ऐसा आत्मीय ज्ञान और आत्मीय आनन्द ये दोनों ही चल रहे हैं। तो आनन्दामृत का नित्य भोजन करते हुए यह ज्ञान प्रकट होता है।

1290- आनन्द को उमगाता हुआ ही शुद्ध ज्ञान के अभ्युदय की विलास-

जिसे सम्यग्ज्ञान हुआ, स्वानुभव बना, आत्मा की सुध हुई उसे आनन्द होगा ही। वहाँ कभी ऐसा नहीं सोचा जा सकता कि मैंने ज्ञान का तो अनुभव किया और देखो मुझे आनन्द हुआ कि नहीं। जैसे अनेक लोग ऐसा सोचते हैं कि मैंने जिंदगी भर धर्म तो किया मगर मेरे को दु:ख न मिटा, धन न बढ़ा, बच्चे न बने...अरे ! ऐसी दृष्टि करने वालों ने धर्म किया कहाँ? समस्त परभावों से विविक्त सहज चैतन्यप्रकाश की रुचि की हो, उसमें ही लगन होने की, मग्न होने की धुन बनी हो, ऐसे पुरुष को कष्ट कहाँ है? बच्चों को वह क्या मानता है, सब पर चीजें हैं, पर का सम्बन्ध, पर के लगाव को तो, वह एक विपत्ति समझता है। तो जैसे एक मोटे रूप में कोई कहे कि ज्ञान की हम बहुत बहुत बारीक चर्चा भी करते हैं, उसी का अर्जन भी करते हैं और फिर भी आनन्द नहीं मिलता, तो समझो अभी धर्म नहीं कर सका। धर्मपरिणाम हो और आनन्द न आये, यह बात कैसे हो सकती है? यदि सविधि जैसा कि यह ज्ञान करे, इस सहज ज्ञानस्वभाव को ज्ञेय कर ले, ज्ञान में वह सहज ज्ञानस्वरूप समाये ऐसी कभी वृत्ति बने तो वहाँ तत्काल ही उसको अद्भुत आनन्द प्रकट होता है। वेदान्त की एक टीका में दृष्टांत दिया है कि कोईनई बहू जिसके पहली बार गर्भ रहा था तो जब कुछ उसे पेट दर्द सा होने लगा, कुछ जरा तकलीफ सी हुई तो वह अपनी सास से बोली- माँजी ! जब मेरे बच्चा पैदा हो तो मुझे जगा देना, कहीं ऐसा न हो कि मैं सोती ही रहूँ और बच्चा पैदा हो जाय या कुछ से कुछ गड़बड़ी हो जाय। तो वहाँ सास बोली- बेटी घबड़ा मत, बच्चा जब भी पैदा होगा तो तुझे जगाता हुआ ही पैदा होगा। तो ऐसे समझो कि यह ज्ञान जब भी पैदा होगा तो आनन्द को जगाता हुआ ही पैदा होगा। स्व का ज्ञान बने, स्व की अनुभूति बने और वहाँ आनन्द न हो यह कभी नहीं हो सकता।

1291- अनर्थविभाव को छोड़कर चैतन्य महाप्रभु के दर्शन की कला से अपने को आत्माभिमुख बनाने का संदेश-

इस संसार के ये सब जीव अपनी सुध न पाने के कारण इतने दु:खी हैं और संसार में भ्रमण कर रहे हैं। इनको आनन्दामृत का पता ही नहीं, न जाने बाहर में कहाँ- कहाँ दिमाग लगाते, न जाने कितनी ही पक्ष-विपक्ष की बातें चलती, न जाने किन-किन चीजों को अपनी मानकर गर्व करते, पर जरा सोचो तो सही कि इस जगत में कोई भी पर पदार्थ अपना है क्या? यहाँ गर्व किए जाने लायक कोई बात भी है क्या? जिसके मिथ्यात्व है, मोह है उसको इतना विष व्याप्त रहा है कि जिसको समझ लिया अपना, जिसको मान लिया, अपना बस उसके लिए अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व अर्पित करता और जिन्हें गैर समझ रखा उनके प्रति रंच भी उदारता का भाव नहीं उमड़ता, मानो उनसे कुछ मतलब ही न हो, यह मिथ्यात्व-महाविष की छाप है। नहीं तो जिसकी विशुद्ध दृष्टि हो गई वह सब जगत के जीवों को निरखें तो सबसे पहले उसे ब्रह्मस्वरूप के दर्शन होना चाहिये ज्ञानबल से। सब जीवों में यही चैतन्यस्वरूप है। वहाँ की गड़बड़ियाँ, वहाँ की अटपट प्रवृत्तियाँ, इन बातों में चित न देकर सर्वप्रथम उनके सहज चैतन्य महाप्रभु का दर्शन हो।

1292- निज सहज स्वरूप के दर्शन के दृढ़ अभ्यासी को सर्वत्र चैतन्य महाप्रभु के दर्शन-

सर्व जीवों को निरखते ही प्रथम वहाँ चैतन्य महाप्रभु का ख्याल आ सके तो समझिये कि वह उसका अभ्यासी है। होता भी तो ऐसा ही है। जो पुरुष हर तरह से सांसारिक सुख में मग्न है, कुटुम्ब अच्छा है, वैभव ठीक है, लोगों में इज्जत भी है। सब कुछ बात हो रही है तो उसे कहीं भी कुछ दिखता है तो सर्वप्रथम वह सुखमय वातावरण ही दिखता है, क्योंकि वह खुद सुखी है, वैसी उसकी दृष्टि बनी है। वही उसके अनुभव में चल रहा है। वह तो उसे सहज ही ऐसा लगेगा कि सब सुखी हैं, सब सुखमय हैं, किसी को कष्ट नहीं, और खुद को भी कोई बड़ा सांसारिक कष्ट आ जाय, मानो किसी का परम इष्ट गुजर गया, या अन्य कोई विपत्ति आ गई तो वह जब कुछ भी देखता है तो बाहर उसे ऐसा लगता है कि सारी दुनिया कष्ट में पड़ी हुई है। जैसी अपने अन्दर बात है वैसी ही बात बाहर नजर आती है। तो जिसने अपने इस चैतन्यस्वरूप का अभ्यास किया है ज्ञान से, वही भीतर अपने उस तत्त्व को निरखने के पौरुष में सफल हुआ है, अनुभव बना है उसे जगत के सब जीवों को निरखकर प्रथम उसके अन्त: स्वरूप का दर्शन होता है, होना चाहिये। बात यह भी सत्य है, पर्याय की भी बात ठीक है, ये परिणतियाँ चल रही हैं मगर अन्तर में उसे इस प्रभुता का अवश्य स्मरण होता हैं क्योंकि यह ज्ञान, यह स्वरूप अपने इस आनन्दामृत से तृप्त हुआ है।

1293- निरुपाधि ज्ञान का सहज विलास-

आनन्दामृतनित्यभोजी ज्ञान ने अपनी सहज अवस्था को स्फुट साफ-साफ स्पष्ट प्रकट किया है अर्थात् अपने ज्ञान में जाना कि यह मैं आत्मा, यह मैं ज्ञान हूँ। यदि कोई पौरुष बाहर का न करूँ, किसी तरह का विकल्प न बनाऊँ, कहीं मोह ममत्व की बातें न करूँ तो इसकी सहज हालत क्या होगी, यह उसके निर्णय में भली-भाँति पड़ा हुआ है। विकल्प करते हैं तो क्या स्थिति बनती है और बाहरी विकल्प नहीं रखते हैं तो क्या स्थिति बनती है? दोनों का इसको परिचय है। तो जब वह ज्ञान प्रकट होता है, जिसके विभावों से उपेक्षा है

ऐसे ज्ञान के समय वह ज्ञान अपनी सहज अवस्था को स्पष्ट नचा रहा है, प्रकट कर रहा है। नचाना किसे कहते हैं? जब मन आये तब काम कर लें, इसे कहते हैं नचाना। यहाँ भी तो ऐसा कहते हैं कि इसने तो उसे नचा रखा है, मायने जब मन चाहे तब उसे दु:ख में डाल दे कष्ट में डाल दे, जैसा चाहे तैसा काम करा दे, इसे कहते हैं नचाना। तो इस ज्ञान ने किसे नचा रखा है? अपनी सहज अवस्था को नचा रखा है। जब दृष्टि दे तो वह सहज अवस्था इसके ज्ञान में स्पष्ट है। दुष्ट लोग दूसरों को नचायेंगे, किसी प्रकार? तो यह ज्ञान, सहज ज्ञान अपनी शुद्ध अवस्था को नचाता है मायने वही-वही बना रहता है, और कदाचित् कोई ज्ञानी कुछ वीतराग अवस्था से नीचे है, सराग अवस्था में है और कभी-कभी उसका ज्ञानविकल्प बनता भी है तो भी उसके हाथ यह बात है कि जब दृष्टि दें तब ही अपने आपकी सुध लें, बस अपने में आनन्द सामने पा लेते हैं। दृष्टि की ओर वह चीज सामने है। जब अपने पास यात्रा करने में टिफिन बाक्स में रखा हुआ भोजन है तो जहाँ भूख लगी वहाँ ही खा लिया। उसके लिए अधिक चिन्ता नहीं करनी पड़ती कि पता नहीं कौनसे स्टेशन में खाना मिलेगा,...ऐसे ही ज्ञानी जीव को प्रतीति में निज सहज तत्त्व है, ऐसी जब इसकी सुध होती, जब भी इसकी दृष्टि होती तब ही अपने तत्त्व का अनुभव कर लेता है। तो ऐसी सहज अवस्था को स्पष्ट नचाता हुआ यह ज्ञान अब प्रकट होता है।

1294- धीर उदार अनाकुल निरुपाधि ज्ञान का प्रताप-

बंध को धुनता हुआ यह ज्ञान धीर है। धीर कहते हैं ''धीरांति इति धीर:'' जो बुद्धि दे, बुद्धि का विकास करे, ज्ञान का विकास करे वही ज्ञान है। ऐसा ज्ञान प्रकट होता है कि अब उसके विकास ही विकास चलेगा। अवनति की बात नहीं। जैसे लौकिकजन कहते हैं कि धन से धन बढ़ता है, उनकी बात और है। जिनके पास धन है वे व्यापार करेंगे, धन बढ़ेगा। यहाँ देखो ज्ञान में ज्ञान बढ़ रहा है और निरुपाधि धन प्रकट होता है। वह विशुद्ध ज्ञान ज्ञानविकास में ही बढ़ा हुआ रहता है इसलिये वह ज्ञानविकास को ही दे रहा है, अतएव धीर है। धैर्य का अर्थ लोग कहते हैं घबराहट न होना यों धीरता रखें, यह फलित अर्थ है, इस शब्द का अर्थ नहीं है। जिसका भाव ऐसा है कि ज्ञान ज्ञान को, बुद्धि को साफ रखता है, विकसित करता है, वहाँ घबराहट होती नहीं है, इसलिए धैर्य का अर्थ घबराहट नहीं होता, यह फलित अर्थ निकलता है। यह ज्ञान धीर है, उदार है। इसमें सब तुच्छ बातें विभाव गन्दगियाँ नहीं आती हैं। सर्व जीवों में स्वरूपसाम्य इसकी नींव है, जिस पर कि यह ज्ञान का विकास चल रहा। यह निराकुल है। आकुलता नहीं है। ज्ञान में आकुलता नहीं। देखिये- जब कहा जाय कि ज्ञानी के बन्ध नहीं होता तो उसका एक तो अर्थ यह लेना कि बुद्धिपूर्वक बन्ध नहीं है, आस्रव नहीं हैं; दूसरा अर्थ यह लेना कि इस जीव को ज्ञानी शब्द से कहा है इसलिए ज्ञानभाव के नाते से ही उसको निरखना है। और भाव के नाते से है बन्ध है तो हो मगर उसका सम्बोधन तो नहीं किया। जिस शब्द से सम्बोधन किया उस शब्द की कला से ही देखें तो ज्ञान की कला में क्या बन्ध हुआ करता है? तो यों परखो,

ज्ञान को ज्ञान-ज्ञान स्वरूप मात्र में ही निरखा जाय तो ज्ञानकला के द्वारा बन्ध नहीं होता। यहाँ अब यह निरुपाधि ज्ञान प्रकट होता है जो कि इस सम्बन्ध को धुनता हुआ विलास करता रहता है।

कलश 164

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत् ।
यदैक्यमुपयोगमभू: समुपयाति रागादिभि:
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥164॥

1295- बन्धहेतु के सम्बन्ध में विचार-

यह जीव अपने आप अपने स्वरूप से स्वभावत: अपने एकत्व में रहता है। इसमें स्वरूपदृष्टि से निरखें तो कोई असुन्दरता नहीं, और जब आज की स्थिति निरखते हैं, घटना देखते हैं तो यहाँ विपत्ति हैं, बंधन में हैं। शरीर में कैसा बँधा है? सो परख लो। स्वरूपदृष्टि से तो निराला है, पर बन्धन भी देख लो, अगर कहा जाय कि आपका शरीर तो वहीं बैठा रहने दो और केवल आप हमारे पास आ जावो तो नहीं आ पाते, ऐसी घटना है। तो ऐसा बन्धन क्यों हुआ इस जीव को? उसका कारण क्या है? देखिये- शरीर का बन्धन हुआ उसका कारण तो उस प्रकार का कर्मोदय और उदय तब आया जब यह सत्ता में आया। सत्ता हुई इसकी तब जब इसका बंध हुआ। तो उस कर्मबन्ध का कारण क्या हैं? आपत्ति तो सब बन्धमूलक हुई ना? तो उस बंध का हेतु क्या है? इस तथ्य का इस छंद में विचार किया है याने यह जीव ज्ञानावरणादिक अष्टकर्मों से बँध गया उसका कारण क्या है? इस तथ्य पर इस छंद में विचार किया गया है।

1296- बन्धप्रसंग के समय की कुछ बाहरी घटनाओं का चित्रण-

देखिये- यहाँ बाहरी घटनायें किस प्रकार की हैं। इस संसार में हम आप हैं जिनमें कार्माणवर्गणायें खूब भरी पड़ी हुई हैं। प्रत्येक जीव के साथ अनन्त तो पुद्गल कर्मपरमाणु हैं और उससे अनन्त गुणे कार्माणवर्गणा के विस्रसोपचय परमाणु हैं याने जो कर्मरूप अभी नहीं हैं, पर कर्मरूप बन सकेंगे, ऐसा इसके साथ बना हुआ है एक क्षेत्रावगाही, इनसे यहाँ बन्ध नहीं है। जहाँ कार्माण वर्गणा के विस्रसोपचय हैं वहाँ बन्धन नहीं है। जीव के साथ बद्ध कर्म परमाणुओं का बन्धन है, मगर देखिये- जब जीव एक भव छोड़ता है, दूसरे भव में जाता है तो बद्ध कर्म जाते हैं साथ, मगर ये विस्रसोपचय भी इसके साथ जाते हैं। उसमें बँधा होकर भी कैसा यह बँधा-सा चिपटा हुआ है। अब एक घटना देखो- कार्माणवर्गणा के जो विस्रसोपचय है, (विस्रसोपचय का

अर्थ है विस्रसा उपचय, स्वभाव से ही ढेर लगा), वे ही कर्मरूप बन जाते हैं। तो ऐसा होने का कारण क्या? तो एक बात तो यह दिख रही कि सारे संसार में कर्म भरे पड़े हैं। दूसरी बात यह दिख रही कि जीव बड़ी दौड़ लगा रहा है, मन, वचन, काय की बड़ी-बड़ी प्रवृत्तियाँ कर रहा है, यह भी दिख रहा है। यह भी दिख रहा है कि यह जीव बहुत से साधनों के बीच रह रहा, घर में रह रहा, कुटुम्ब में रह रहा, जहाँ जो संग प्रसंग हैं उनमें रह रहा यह जीव नजर आ रहा है। यह जीव का जिसको चाहे सताने का काम करना, किसी का बंध कर देना, किसी का चित्त हटा देना, ऐसी अनेक बातें दिख रही हैं।

1297- कर्मबहुल जगत का बन्धहेतुता में अनियम-

कोई कह रहा है शंकाकार कि हम तो यह जानते हैं कि जब कर्मों से भरा हुआ यह संसार है और इसके बीच यह जीव रह रहा है तो उसमें अधिक क्या दिमाग लगाना? अरे- काजल की कोठरी में कैसा ही सयाना जाय, कालिमा की रैख तो लागे पै लागे ही। ऐसे ही कर्मों से भरा हुआ संसार है और उसमें पड़ा हुआ यह संसारी जीव है तो यह बचकर कहाँ जायगा? उसको कर्म बंधेगे ही, एक लौकिक पुरुष ने अपना ऐसा विचार रखा, मगर यह विचार बन्ध के कारण की असलियत को नहीं बता रहा। कर्म तो भरे है संसार में, सिद्धभगवान विराजे हैं वहाँ पर भी कर्म भरे हैं। निगोद जीव वहाँ भी रह रहे हैं और उनकी कार्माण वर्गणायें तो हैं ही और अनेक वर्गणायें जीव से अलग भी रहा करती है। तो कर्म जब सारे लोक में भरे हैं और कर्म भरे रहने के कारण इनका बन्ध हुआ ऐसी बात मान लेते, तब तो सिद्ध में बन्ध होना चाहिए। याने कर्मबन्ध का कारण कर्म से भरे हुए संसार में निवास नहीं बताया जा सकता। अरहंत भगवान तो यहीं रह रहे। वे तो सिद्ध लोक में अभी नहीं हैं और कर्म यहाँ भरे पड़े हैं ही। उनको क्यों नहीं बन्ध हो रहा? तो यह कारण बताना कि कर्म से भरे संसार में रहते हैं इस कारण कर्मबन्ध होता है, यह बात ठीक नहीं बैठती, कारण तो वह बताना चाहिए कि उसके होने पर कार्य हो ही हो, जिनके न होने पर कार्य न हो। तब तो वह निमित्त की बात बतानी वाली है अन्वयव्यतिरेकी हो तो उसको निमित्त बताया जावे। यह कर्मों से भरा संसार है इस कारण नवीन कर्मों से बँधता है, यह बात तो युक्त नहीं है। देखिये- बन्ध के बारे में दोनों ही दृष्टियों से निरख सकते हैं। इसके भाव-बन्ध क्यों होता? द्रव्यबन्ध क्यों होता? अच्छा, अब द्रव्यबन्ध की चर्चा है कि अष्ट कर्मों का बन्ध है उसका कारण कर्म भरे संसार में रहना नहीं हैं।

1298- चलनात्मक कर्म का बंध हेतुता में अनियम-

दूसरा कोई कहता है कि बात बिल्कुल स्पष्ट है कि यह लोक यह प्राणी इसका मन डोलता है, कहाँ कहाँ मन का योग होता है, कहाँ अटपट वचन व्यवहार है, शरीर की कैसी चेष्टायें रखता है; पापमयविषयों में, व्यसनों में ऐसी-ऐसी जब इसकी प्रवृत्तियाँ हैं, मन, वचन, काय की ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं तो यह ही कर्मबन्ध का कारण है। कर्मबंध का कारण अधिक खोजने में क्या दिमाग लगाना? तो इस दूसरे का क्या भाव आया कि मन, वचन, काय का जो हलन-चलन है, योग है, यह कर्मबन्धन का कारण है। तो यह बात भी सूक्ष्मता

से विचारें तो युक्त यों नहीं बैठती कि अरहंत भगवान के मनोयोग है कि नहीं? मनोबल तो नहीं, भावमन तो नहीं, पर द्रव्यमन का योग वहाँ भी है, परन्तु बन्ध तो नहीं। वचनयोग वहाँ है कि नहीं? ''भवि भागन बच जोगे बसाय''। कहा ही है कि भव्य जीवों का सौभाग्य और भगवान का वचनयोग, उसके वश दिव्यध्वनि खिरती है। अरहंत भगवान के काययोग भी है कि नहीं है। वे विहार करते हैं, काययोग भी चल रहा पर उनका बन्ध नहीं हो रहा, इसलिए बन्ध के कारण में योग की बात बताना युक्त नहीं है। जिसके होने पर कार्य हो, न होने पर कार्य न हो ऐसा अन्वयव्यतिरेक वाला कारण बताना चाहिए।

1299- अनेक करण साधनों का बन्धहेतुता में अनियम-

तीसरा बोला कि बात बिल्कुल सामने है, यह गृहस्थ, यह जीव कैसा मोहियों के बीच पड़ा है, वैभव धन सम्पत्ति के बीच पड़ा है, आहार आदिक प्रसंग रखे हुए है, मकान सजावट बहुत-बहुत बातें, इनके बढ़िया साधन बने हुए हैं। इन साधनों के बीच रह रहे हैं इसीलिए तो बंध होता रहता है और तब ही तो ज्ञानी पुरुष इन सबसे विरक्त होकर इन्हें त्यागकर निर्जनस्थान में आत्मसाधना करने जाता है, तो यह सारा बंध इन बाह्य साधनों से हो रहा है। सो ये अनेक कारण याने बाह्य पदार्थों का जो निकटपना है, बस यह बंध का कारण है अथवा ये स्पर्शन, रसना आदिक इन्द्रियाँ बंध के कारण हैं। यह बात तीसरे पुरुष ने रखी। इस पर भी विचार करें, तो यह संगत यों नहीं बनता कि जहाँ-जहाँ ये बाह्य पदार्थ हों वहाँ-वहाँ बंध हों, ऐसा नियम तो नहीं बन पा रहा है, क्योंकि यहाँ तो आपका एक मकान और जिसमें आप रहते हैं, वहाँ आपको बंध बता दिया और समवशरण कितना बड़ा मकान, कितनी बड़ी शोभा, वहाँ अरहंत भगवान रह रहे हैं उनको भी बंध बता दिया। प्रभु के होता है क्या बंध? बाह्य साधन, प्रसंग से बंध नहीं होता। इन्द्रिय, शरीर भी वीतराग मुनि के हैं वहाँ भी बंध होता नहीं।

1300- चिन्दचिब्दध का बन्धहेतुपने में अनियम-

अच्छा तो चौथा पुरुष बोला, ये बातें आपने फेल कर दी ठीक, मगर एक बात बिल्कुल सही जँच रही है कि यह जीव अन्य जीवों का वध करता, जीवों को दु:ख पहुँचाता, चेतन-अचेतन पदार्थों का यह विग्रह करता, तोड़ मरोड़ करता, ऐसी कठिन बातें जब यह कर रहा है तो बंध क्यों न होगा? और लोग कहते भी खूब हैं- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदिक, हिंसायें करना, दूसरे जीवों का वध करना, दिल दु:खाना ये सब पाप हैं और इनसे बंध होता है तो जब चेतन-अचेतन का विग्रह किया जा रहा है तो बंध हो रहा है यह बात एक चौथे पुरुष ने रखी। पर इस पर भी विचार करें, सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो युक्त यों नहीं बैठती। देखो मुनि महाराज जो समितिपूर्वक चलते हैं, जिनको कोई प्रमाद नहीं है, जिनके चित्त में नाना परिणतियाँ चल रही है और अचानक छोटा जीव ही मानो कहीं से उड़कर कैसा ही नीचे आ जाय और उसका वध हो जाय तो इतने पर भी मुनि महाराज के बंध नहीं बताया। तो यह बात भी तो युक्त न रही।

1301- बन्धहेतुता पर यथार्थ प्रकाश-

अच्छा, तो अब ये चारों के चारों शंकाकार बोले तो फिर तुम ही बताओ कि बंध का कारण क्या है? होता है ना ऐसा? कोई बच्चा एक पहेली पूछे तो चार लडके अपना- अपना जवाब दे रहे है पर वे जवाब ठीक नहीं बैठ रहे तो ठीक नहीं है यह बात तो चारों बोलते हैं फिर बोलते हैं कि अच्छा तुम ही बताओ। वहाँ इतनी बात जरूर होती कि वह लड़का यह कहे कि तुम यह कह दो कि हार गए तो हम बतायें। यहाँ भी कहना चाहो तो कह लो नहीं तो इतना तो पूछ ही लो कि बंध का कारण क्या है सो बताओ? सो आचार्यदेव बतलाते हैं कि देखो, आत्मा की ही बात देखो, आत्मा में ही उस बात को निरखना है तो उत्तर आयगा। बाहरी बातों से उत्तर सही न आयगा। यह आत्मा है उपयोग स्वरूप, यह आत्मा है उपयोग लक्षण वाला, उपयोग की भूमि। सो यह आत्मा, यह उपयोग जब रागादिक विकारों के साथ एकता करता है, बस उन रागादि विकारों में आत्मीयता जो आशय है यह मैं हूँ अपने को भूल गया और विकाररूप अपने को अनुभवने लगा, बस ऐसी जो विकार के साथ एकता है यह ही बंध का कारण है। देखिये- जहाँ अज्ञान नहीं रहता, मिथ्यात्व नहीं रहता, भेदविज्ञान जगता वहाँ भी यथाख्यात चारित्र अवस्था से पहले रागादिक का सद्भाव होने से बन्ध है, आस्रव है, मगर उसे बन्ध की गिनती में यों न लेना कि संसार-परम्परा का करने वाला बन्ध तो यह मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी के विपाक में होता है, और इनका जहाँ छेद हो गया, स्वभाव और विभाव की सन्धि दो टूक कर दी गई, सन्धि तोड़ दी गई। स्वभाव और विभाव ये एकदम उपयोग में, ज्ञान में अलग जँचे, वहाँ संसार का बन्धन नहीं। अंधकार नहीं रहा अब? तो रागादिक विकारों के साथ यह उपयोग जब एकता को करता है तो वह बन्ध का कारण होता है। वह एकता क्या? वही स्नेह, चिपकाव, लगाव। विभाव में और उपयोग में ऐसा बन जाना, जम जाना कि इसे यह भान ही नहीं रहता कि मैं अविकार ज्ञानस्वरूप वस्तु कुछ परमार्थ हूँ।

1302- बन्धहेतुता के तथ्य का संकेतक एक दृष्टान्त-

बन्धहेतुता के तथ्य को एक दृष्टान्त में देख लो। कोई पहलवान तेल लगाकर लंगोट कसकर किसी उद्यान में स्थित अखाड़े में कूद गया। अपने हाथ में शस्त्र लिए हुए वह अपनी कला का अभ्यास कर रहा था। वहाँ पर कदली के वृक्ष भी खड़े थे। उस अखाड़े में, उद्यान में धूल भी बहुत भरी हुई थी। अब वह पहलवान उस धूल भरे अखाड़े में अपने हाथों में शस्त्र लेकर व्यायाम का अभ्यास कर रहा था। उसके उस अभ्यास में सैकड़ों कदली वृक्ष भी कट-कटकर गिर रहे थे। धूल भरी वह जगह थी, हवा भी चल रही थी सो वह धूल उड़-उड़कर उस पहलवान के सारे शरीर में लिपट रही थी। अब वहाँ आप बताओ कि उस पुरुष को धूल क्यों लग गई? तो वहाँ कुछ ऐसे बच्चे बोल उठे कि धूल क्यों न लगे? जब धूल भरी जगह में ऐसा खेल करने आया है तो धूल तो लगेगी ही, तो दूसरा बोला- अजी, यह बात नहीं है। बात यह है कि इसने जो इतनी खटपट की, हाथ पैर चलाया, खूब घूमा इसलिए उसको धूल लगी। तीसरा बोला- वाह, यह बात नहीं

है, वह जो शस्त्र लेकर आया और ऐसी तैयारी में आया इसलिए धूल लग गई। तो चौथा बोला- बात यह नहीं है, इसने कितने ही कदली के वृक्षों को काट गिराया है, जो इतना खोटा काम करे उसके धूल तो चिपकेगी ही। पर उन चारों की बातों पर जब विचार करें तो ये कोई उत्तर सही नहीं हैं। सही उत्तर तो यह होगा कि इस धूल के चिपकने का असली कारण है शरीर में तैल का लगा होना। यह बात न हो तो फिर बतलाओ कि यदि वह तैल न लगाये, 10-5 दिन पहले से ही अपने शरीर को रूखा रखे, वह पुरुष यदि उस ढंग का व्यायाम करता है तो उसके शरीर पर धूल चिपकते तो नहीं देखी जाती। तो जैसे उस धूल के चिपकने का कारण तैल का संग है, ऐसे ही कर्मबंध का कारण स्नेह, रागद्वेष, मोह ये भाव हैं। ये भाव ये पद की परिणतियाँ हैं।

1303- बन्धहेतुविदारण का स्वाधीन सुगम उपाय-

कर्मबंध के हेतुभूत रागादिकभावों के दूर करने का उपाय खुद की निगरानी है। यह काम इतना सुगम और सरल है कि जिसमें किसी पर की अपेक्षा नहीं पड़ती। कोई ऐसा कार्य तो नहीं है कि अभी यह नेग नहीं हुआ, यह बात नहीं हुई। कैसे काम बने? कोई ऐसी बाहरी बात तो नहीं है आत्मकल्याण की। जैसे एक कथानक है कि एक सेठ के घर एक बिल्ली पली हुई थी तो जब उसका कोई विवाहकाज आये तो उस बिल्ली को अशगुन समझकर उसे किसी पिटारे में बंद कर दिया करता था। वहाँ विवाहकाज हो जाय, बस बिल्ली को पिटारे से खोल देता था। आखिर सेठ तो गुजर गया, वह बिल्ली भी गुजर गई। सेठ के लड़के तो सयाने हुए, तो किसी लड़के ने जब अपनी लड़की का विवाह किया तो भाँवर पड़ने का समय आया, वहाँ एक लड़का बोल उठा- अरे ठहरो, अभी भाँवर नहीं पड़ेगी, अभी तो एक दस्तूर बाकी है, कौन सा दस्तूर?...अरे ! अभी एक बिल्ली कहीं से पकड़कर लाना है, उसको पिटारे में बंद करना है तब भाँवर पड़ेगी। अब यहाँ कहाँ धरी बिल्ली? बिल्ली ढूंढ़ने में, उसे पकड़ने में और पिटारे के अन्दर बंद करने में कोई 7-8 घण्टे का समय लग गया, तब कहीं भाँवर पड़ी। तो जैसे उस बाहरी विकल्प बात के करने के लिए पराधीनता की बात रही ऐसी कोई बात आत्मकल्याण के लिए नहीं है कि भाई अभी अमुक चीज नहीं है तो कैसे यह आस्रव रुक सकता, कैसे यह बंध रुकेगा? अरे ! अपने आत्मा के सहज निरपेक्ष स्वभाव की दृष्टि करें। जान जावें कि यह स्वभाव अविकार है और इसमें ही अपना मनन बनावें। मैं यह हूँ। तो कर्म के बन्ध आदि में सब फर्क आ जायगा।

1304- अनुभावानुकूल उपयोग का व्यापार-

देखिये- जिस तरह का अपना प्रयोग बनता कि यह मैं हूँ उस तरह की उसकी प्रवृत्ति होने लगती है। कहीं-कहीं सुना होगा कि नाटक में मानो किसी ने दीवान अमरसिंह राठौर का पार्ट अदा किया। उस पार्ट अदा करने वाले बालक को उस समय यह ध्यान में न रहा कि मैं अमुक बालक हूँ और अमरसिंह राठौर का पार्ट अदा कर रहा हूँ, उसने अपने को अमरसिंह राठौर रूप में अनुभव किया और अपने विरोधी को तलवार से

मार गिराया। वह मरण को प्राप्त हो गया। ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलेंगे। बड़े-बड़े मंत्र सिद्ध करने वाले लोग भी तो अपने को ठीक उस रूप अनुभव करके वैसी वृत्तियाँ कर डालते हैं। और इसी समयसार में दृष्टान्त दिया है ना कि ''गरुड़ध्यानपरिणत: गरुड़:'' गरुड़ का ध्यान लोग करते हैं, जो गरुड़ देवता को मानते तो ऐसा ध्यान करते वे कि अपने को यह अनुभव करने लगते- मैं गरुड़ हूँ। समयसार टीका में बताया है कि जैसे कोई पुरुष भैंसे का ध्यान करने लगता कि मैं एक बहुत बड़ा भैंसा हूँ, जिसके सींग बड़े लम्बे और ऐसी सींगे लम्बी चली गई जैसे कि महाराष्ट्र की भैंसों के सींग। पंजाब की भैंसों के सींग तो छोटे और गोल होते, पर महाराष्ट्र की भैंसों के बड़े लम्बे सींग होते। तो जैसे मानो अपने कमरे के अन्दर बैठा हुआ ऐसा ध्यान बना ले कि मैं तो एक बहुत लम्बी सींगों वाला भैंसा हूँ और उस कमरे का दरवाजा था छोटा तो उस ध्यान में यह विषाद करने लगता कि अरे ! मैं अब इस दरवाजे से बाहर कैसे निकलूँगा? अरे ! कहाँ तो बैठा है अपने आराम के कमरे में और भ्रम की धारा में ऐसा बह गया कि वहाँ भारी विषाद करता है। तो जैसा कोई तत्त्व में अहंकार अनुभव करे, उस प्रकार की उसकी वार्ता चलती है। तो भला ज्ञानी ने एक सहज निरपेक्ष, चैतन्यप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, जाननमात्र, प्रतिभासमात्र, उस ही में दृष्टि स्थापित की, उस ही में अनुभव बनाया कि मैं यह हूँ, यह मैं हूँ, तो उसकी प्रवृत्ति ज्ञाता रहने की ही तो रहेगी। वह विकार अथवा कोई अटपट क्रियायें कैसे करेगा? जब भीतर यह अनुभव चल रहा है कि मैं यह हूँ।

1305- ज्ञानी के सर्वत्र मिथ्यात्व व अनंतानुबंधीकृत बन्ध का अभाव-

जब अंतस्तत्त्व का अनुभव नहीं भी चल रहा और ज्ञानी है, प्रतीति में तो निरंतर है, और कदाचित् कर्मविपाकवश उसे सारी प्रवृत्तियाँ भी करनी पड़ती हैं तो वहाँ भी वह अपनी सावधानी बनाये हुए है। अनुभूति जितनी सावधानी तो नहीं है कि यह उपयोगी ज्ञानस्वभाव में ही उपयुक्त रह जाये, मगर प्रतीति का भी बल इतना बड़ा बल है कि उसके 41 कर्मप्रकृतियों का बंध अब नहीं है। चाहे वह किसी प्रसंग में लगा हो, यह भीतर की बात है? मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, इस ओर उसकी दृष्टि चल रही है और बाहर में कर्मविपाकवश चेष्टायें चल रही, मगर उसका सम्मान कहाँ है? अंतरंग कहाँ है? यह देखिये- उसी का ही प्रताप है कि मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कर्म के उदय से जितने प्रकार का बंध हो जाता था, सो अब यहाँ नहीं चल रहा। है ही नहीं कुछ। तो बंध का कारण है रागादिक विकारों में अपने को लगा देना, एकमेक कर लेना। एकमेक के मायने वह भ्रम कर रहा है और जान रहा है कि मैं यह हूँ।

1306- सकल संकटों का मूल रागद्वेष मोह-

स्नेह, रागद्वेष, मोह ये भाव सारी विपत्तियों की जड़ हैं। आज मनुष्य हैं, मरण करके मानो अच्छी जिन्दगी न गुजारें तो कीड़ा बन गए, स्थावर बन गए। अब वहाँ कौन पूछे? यहाँ तो स्वयं जैसा कष्ट है सो पा रहा है। इतनी बड़ी विपत्ति का कारण क्या है? रागद्वेष, मोह, अज्ञान। तो जो बात आज बहुत सस्ती सी जँच रही है, कर लो राग, आखिर घर का ही तो बेटा है, घर के ही तो लोग हैं, अपनी ही तो सम्पत्ति है। निरख-

निरखकर खूब हृदय भर लो, ऐसी जो यहाँ एक स्वच्छन्दता है, रागभाव है सो यह बहुत सस्ता लग रहा- हमारा ही घर है, खूब मौज से रहो, खूब मौज मानो, यह सस्ता तो लग रहा मगर इसका परिणाम बहुत महँगा पड़ता है। किस गति में जाय, कहाँ जन्म ले, क्या बात बने? तो जो बात आज है, पुण्योदय है, चीजें मिली हैं, मन स्वच्छन्द है, खूब रम रहे हैं, रागद्वेष बढ़ाये जा रहे हैं और मन में एक हठ बनाये जा रहे हैं ये सब बातें आज सुगम सी लग रही हैं, क्योंकि ऐसी बहुत योग्यता मिली, मगर यह ध्यान में रखें कि अपने स्वभाव से चिगकर किसी भी बाह्य विकार प्रसंग में अपने उपयोग को उलझा लेना इतना बड़ा पाप है कि जिसका फल संसार-परिभ्रमण है। क्यों, क्या पाप कर दिया है? इसने तो अपने अन्दर ही एक भावना की है। एक दूसरे से प्रेम ही तो किया, किसी पर अन्याय किया क्या? घर है मेरा, कुटुम्ब है मेरा, इनमें राग रखता हूँ, इसमें कौनसी अन्याय की बात है? और, क्यों इतना विकट फल मिल रहा है कि संसार में घूमें? उसका समाधान देखो- अपना यह आत्मस्वरूप, यह भगवान आत्मा, यह जैसा सिद्ध का स्वरूप वैसा अपना स्वरूप। इस भगवान पर हम अन्याय कर रहे, इतनी बात तो है कि यह दूसरे पर अन्याय नहीं है, मान लो थोड़ी देर को। मगर हम एक इस भगवान आत्मा पर इतना विकट अन्याय कर रहे हैं। इसके विकास को तोड़-मरोड़ कर दिया है हमारे विभावों ने, इसकी सुध नहीं है, इसने विभावों को ढक दिया है, यों समझो, जैसा कि यहीं दिख रहा है, इन विभाव मल्लों ने मिलकर इस स्वभाव को दृढ़ता से दबा रखा है, इतना बड़ा अन्याय यहाँ किया जा रहा है, तो भला किसी एक व्यक्ति पर अन्याय करे तो दो चार लट्ठ मारे और हम जब भगवान पर ही अन्याय कर बैठे तो उसे क्या कठोर फल न मिलना चाहिए? मिलना ही चाहिये कठोर दंड, तो यह समझ लो कि यह कठोर दंड यही संसार का परिभ्रमण है। यह ही इसका खोटा फल है। इस भगवान आत्मतत्त्व की रक्षा इसमें है कि इसका जो निरपेक्ष स्वरूप अपना सहजभाव है वह दृष्टि में आये, यह है असली बात, परमार्थ स्वरूप। यह हूँ मैं इस तरह का परमार्थ स्वरूप में अनुभव हो। मैं अपने में अहं प्रत्यय वेद्य हूँ, उसमें एकता करें, स्वरूप में एकता करें तब तो बंध न होगा और विकार में एकता मचायें तो उसका फल है बंध। तो जिन्हें बंध न चाहिए उनको यह ही पौरुष करना है कि अपने सहज स्वभाव की परख करें और उस रूप अपने आपका अनुभव बने। एतदर्थ उपाय तो तत्त्वज्ञान है। जो-जो तत्त्वज्ञान-स्वभाव का आश्रय करा सकें वे सब आगमवर्णित हैं। वस्तुस्वातन्त्र्य, निमित्तनैमित्तिकयोग, जीवदशायें, निरपेक्ष सहजस्वरूप, सप्त तत्त्व, पदार्थस्वरूप, उपादानोपादेयभाव, अभिन्नकारकत्व आदि विषयों का यथार्थ परिचय विकारों से उपेक्षा कराकर स्वभाव की अभिमुखता कराते हैं।

कलश 165

लोक: कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्

तान्यस्मिन्करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत् ।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन्केवलं
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ॥165॥

1307- परपदार्थप्रसंगों के बंधहेतुत्व के प्रतिपादन का समर्थन-

इससे पहले के कलश में यह बात आयी थी कि कर्मों से भरा हुआ यह जगत बंध का कारण नहीं। चलनात्मक यह योग कर्मबंध का कारण नहीं, अनेक प्रकार के ये बाह्य साधन इन्द्रिय आदिक ये बंध के कारण नहीं। चेतन-अचेतन का विघात, विग्रह होना यह बंध का कारण नहीं क्योंकि बन्ध का कारण तो इनसे अन्य है, रागादिक भावों के साथ उपयोग –भूमि का एकमेक बनना, जुड़ना, भ्रम होना यह बन्ध का कारण है। इस बात को दृष्टान्तपूर्वक भी बताया गया था। यद्यपि ऐसा जानकर स्वच्छंद न बनना कि वध किसी बंध का कारण है। दूसरे का दिल दु:खाना बंध का कारण नहीं बताया। अरे ! तो बन्ध का कारण रागादिक भाव तो बताया, उसके अंदर आपकी लगन है या नहीं, यह बात तो देखो। तो स्वच्छन्दता के लिये इस कथन का उपयोग न करना किन्तु वास्तविकता से देखना और जब-जब भी हिंसा में बन्ध, झूठ में बन्ध, चोरी में बन्ध, तो वह बन्ध जो हुआ है तो भीतर में विकारभाव आया उस कारण से बन्ध हुआ, हाथ उठाने-धरने से बन्ध नहीं होता। जो उमंग रख करके, भाव रख करके जान-जानकर हिंसा, झूठ, चोरी कर रहा तो भीतर में जो उसका दुर्भाव है तत्कृत बन्ध है, यह बात यहाँ बतायी जा रही है।

1308- विकारों को उपयोगभूमि में न ले जाते हुए के कर्मबन्ध का अभाव-

अब प्रतिलोमविधि से बन्धहेतुता के ही समर्थन में यह कलश आया है। तब फिर क्या निर्णय? संसार रहा आये तो रहा आवो। कार्माण वर्गणाओं से भरा हुआ जगत रहा आये तो रहा आवो, बंध का कारण तो यह है नहीं। जगत जैसे भरा-बना है तो बना रहने दो, उसके ज्ञाता रहो, जाननहार रहो कि है ऐसा। बंध तो उसका कारण नहीं ना? बन्ध तो तब है जब रागादिक भावों के साथ ये विकार जुटे, एकमेक बने, यह जीव तन्मय अपने को मानने लगे, वहाँ है यह संसार का बंध। जहाँ-जहाँ बन्ध की बात आये, अध्यात्मशास्त्रों में वहाँ-वहाँ प्राय: मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधीकृत बंध नहीं होता, यह अर्थ लेना चाहिए और बुद्धिपूर्वक हमारा यह ही पौरुष है और इस तरह अपने को आत्मा से जुटाना है, यह बात तो बोल रहे ताकि चित्त में खुद को या दूसरे को कोई विवाद की बात न आये। क्योंकि धर्मसाधना होती है तो निर्विवाद, नि:शल्य रहकर। अपने लिए बाहर में मेरे विचार की अनुकूलता ही बने और ऐसा ही दूसरा माने, इस प्रकार का हठ न हो, बस ज्ञाता रहें, जैसा हो सो ठीक है, ऐसी कोई साधारण स्थिति बने खुद की तो वहाँ स्वानुभव का एक मार्ग मिलता है और इस असार संसार में अपने को करना ही क्या है? कितने दिनों की जिन्दगी? बहुत-सी आयु

पार हो गई। रहा-सहा थोड़ा सा समय है तो उस समय ये केवल आत्महित की भावना रखते हुए तत्त्व का रुचिया होना चाहिए। हाँ बात यह कही जा रही है कि बन्ध किस वजह से है? जो बन्ध संसार संकटों का जनक है, जन्ममरण की परम्परा बढ़ाने वाला है उस ही बन्ध से तो निवृत्त होना है और विधिपूर्वक जिस बन्ध से हम निवृत्त हो सकते हैं उस ही का तो जिक्र और उस ही का तो प्रयोग है। यद्यपि यह ही प्रयोग अबुद्धिपूर्वक बन्ध को दूर करने का कारण है, तो भी एक पौरुष जो चला प्रथम प्रथम वह बुद्धिपूर्वक रागद्वेष को दूर करने के लिए चलता है।

1309- कर्मवर्गणापूरित लोक में तथा चलनात्मक कर्म में कर्मबन्धहेतुत्व का अघटन-

हे सिद्ध प्रभो !क्या फिक्र है, बना रहने दो, कामार्ण वर्गणा से भरा हुआ क्षेत्र। सिद्ध प्रभु की कुछ भी खराबी नहीं है। जैसे लोक में कहते ना बस शंका ही नहीं। यदि कर्मभरा लोक बंधहेतु होता तो सिद्धों के बंध क्यों नहीं? वे अपने स्वरूप में विराजे हैं। वहाँ किसी भी प्रकार का निमित्तनैमित्तिक योग नहीं बन पाता है। विशुद्धि हुई, निर्विकार हुए, सदा के लिए मुक्त हो गए। रहा आये वही चलनात्मक योग वह भी बंधहेतु नहीं। अरहंत के योग है, पर बंध नहीं। देखो जब किसी बड़े पुरुष के अंदर उदारता, विशुद्धि, निर्मलता की बात समझ में आती है, जो कि एक खास बात है, और ऊपरी कोई बात जो किसी लोक में भी हो सकती है, हो भी जाये तो भी उसके गुणों की भक्ति में ऐसी अन्त:आवाज उठती है कि हो ऐसा, मगर आप तो आप ही हैं। प्रभु अरहंत के विहार होता, दिव्य ध्वनि खिरती, किन्तु वह बन्ध कारण नहीं है। आपके जो वीतरागता प्रकट हुई है, जिसके फलस्वरूप सर्वज्ञता प्रकट हुई है वह एक ऐसा प्रसाद है कि जिस प्रसाद पर जिसकी दृष्टि जाय उसको प्रसाद मिल जाता है। तो चलनात्मक कर्म रहते हैं तो रहें, तत्कृत बन्ध नहीं हुआ करता।

1310- अनेक करणों में कर्मबन्धहेतुत्व का अघटन-

यह करण, यह साधन, यह बाहरी संग प्रसंग यह भी बन्धहेतु नहीं। समवशरण की अद्भुत रचना के बीच अरहंत हैं उनका बंध नहीं। समवशरण, अरहंत प्रभु जहाँ विराजे हैं ना, तो वीतरागता तो वीतरागता में ही है, मगर रागी इन्द्रदेव भक्ति में क्या करें? देवों के प्रयत्न से समवशरण बनता है। किस प्रकार बनता समवशरण? कोई चीज बनती क्या? कहाँ बनती? समवशरण जमीन से करीब 5 हजार धनुष ऊपर बनता है। इन्द्र ने ऐसा क्यों सोचा?वहाँ क्यों बनाया? तो आप ही बताओ कहाँ बनावें? अगर किसी नगर के पास या किसी गाँव के पास बनायें तो उतनी बड़ी जगह में कितने ही गाँव पड़ते है? उतना बड़ा मैदान कहाँ से आये? बारहकोश का मैदान। आकाश में बहुत बड़ा समवशरण बनाया। अहमदाबाद में एक भाई कह रहे थे कि यहाँ तो जमीन बहुत महँगी है, कोई 300) गज जमीन बिक रही पर आसमान के लिए एक धेला भी नहीं लगता। चाहे जितने खण्ड का मकान ऊपर बनाते चले जावो। तो आसमान सस्ता हुआ ना इस मामले में। इसी से समवशरण की रचना देवगण आसमान में करते। अब लोग वहाँ पहुँचे कैसे? तो नीचे से सीढ़ियों की रचना बनाते। सीढ़ियों के लिए तो सब जगह स्थान मिल जाता है। उसके ऊपर समवशरण की कैसी अद्भुत रचना,

कितना श्रृंगार, कितनी विशिष्ट शोभा। आप उसका अगर नक्शा देखें तो उससे ही प्रभावित हो जायें। कितनी कैसी वेदिकायें, कैसी भीतर रचना, फूलवाड़ी, तालाब, चैत्यालय, कल्पवृक्ष, कैसी-कैसी रचनायें, फिर स्फटिक मणि का कोट बनाकर वहाँ बारह सभायें हुई। प्रभु चारों ओर देखते हैं सबको, क्योंकि बहुत बड़ी सभा थी, गोल सभा थी। गोल-गोल सभा में बैठे श्रोता वक्ता को चारों ओरसे देखें तब सभा का आनन्द आये। प्रभु की धर्मसभा ऐसी थी किप्रभु का मुख चारों ओर से दिखता था। ऐसा ही कुछ अतिशय था। वह इन्द्र की क्रिया है, इन्द्र की कलायें हैं। मनुष्य भी थोड़ा-थोड़ा ऐसा बना सकते। उस समवशरण को रचा कैसे गया? कुछ लोग तो यह कहते कि देवों ने विक्रिया से बनाया तो वह देवों की विक्रिया वाला शरीर कहलायेगा, और एक कोई पुराने अच्छे पंडित थे उन्होंने बताया कि देवों में ऐसी कला है, इतनी बड़ी कारीगरी है कि किसी भी स्कंध को अन्तर्मुहूर्त में इस प्रकार से बढ़ाकर, घटाकर, सजाकर तैयार कर सकते हैं। अब आप यह सोचिये कि इतने अद्भुत समवशरण की रचना जिसमें विराजमान अरहंत प्रभु हैं। अगर कोई यों देखने लगें कि यह कैसे घर में रहते हैं, ये बाबू साहब या सेठ जी, ये बड़े आदमी हैं, ये बड़े धर्मात्मा भी हों, इनके बंध कैसे नहीं है? तो फिर वे प्रभु को भी तो देखें। भैया ! प्रभु के इस प्रकार की बात नहीं होती। प्रभु का ध्यान समवशरण में स्थित किसी भी चीज में नहीं होता। क्योंकि परपदार्थ का लगाव ही कर्मबन्धन का कारण है। ये बाह्यसाधन यहाँ रहें तो, न रहें तो, इनसे यदि लगाव है तो कर्मबंधन है और यदि लगाव नहीं है तो कर्मबंधन नहीं है। आप लोग अपने-अपने घरों में बड़े-बड़े आराम के साधन रखते, पर उनके प्रति लगाव है तो बंधन है और यदि लगाव नहीं तो बंधन नहीं। कोई भी चीज हो अगर उसके प्रति लगाव है, प्रीति है, आसक्तिबुद्धि है तो वह बुद्धिपूर्वक कर्मबंधन कर रहा और यदि उसके प्रति लगाव नहीं, आसक्ति नहीं तो वहाँ कर्मबंध नहीं। जो बुद्धिपूर्वक ये सब कर रहा तो उसने ऐब रख ही लिया फिर क्यों न बंध हो? यह बात चल रही है एक सीधी-सीधी उस ही वस्तु से।

1311- व्यापादन में कर्मबंधहेतुत्त्व का अघटन-

अच्छा, चेतन-अचेतन पदार्थों का पीड़न विघात होता है तो यह किसके लिए बात कही जा रही है? जो रागादिक भावों में उपयोग की एकता नहीं कर रहा और अपने को ज्ञानमय ही देख रहा है, ऐसे साधुसंत महात्मा की बात कही गई है, मगर कदाचित् अबुद्धिपूर्वक ही तो होगा सो चेतन-अचेतन का व्यापादन है तो हो, पर जो पुरुष रागादिक भावों को उपयोगभूमि में नहीं ला रहा है, अपने आत्मा में उसे तन्मय नहीं मान रहा, रागमय अपने को नहीं बना रहा उस पुरुष की बात कह रहे। वह ज्ञानरूप होता हुआ बंध को प्राप्त नहीं होता। अपने-अपने उपयोग के विशुद्ध करने की दया जरूर लाना चाहिए। मेरे परिणामों में विशुद्धि जगे। स्वभावाश्रय करने की मेरे में प्रकृति बने, कला बने, यही भावना हो और कुछ आकांक्षा नहीं हो। होती हैं बातें प्राक् पदवी में, कर्मविपाकवश चलती हैं सब, मगर जिसे कहते हैं प्रधान लक्ष्य, जीवन का एक उद्देश्य वह स्वरूपाश्रय ही हो। हमने बुद्धि पायी तो उस समस्त बुद्धि का प्रयोग वास्तव में कैसे किया जाना चाहिए,

इसका निर्णय बस यही है? सो ज्ञानी में मुख्य रूप से जो होना उचित है सो होता ही है। तो एक ही प्रोग्राम मुख्य होना चाहिए कि इन विभावों से उपेक्षा होकर एक स्वभाव की ओर अभिमुखता रहे, और यह बात तब बनती है जब बाहर में इष्ट-अनिष्ट, शत्रु-मित्र,उपकारी-अपकारी की कल्पना न रहे, और जितने भी चैतन्यशक्तियों से अतिरिक्त भाव हैं वे सब भाव मेरे स्वरूप नहीं। मेरा स्वरूप तो एक चेतना, प्रतिभास है।

1312- स्याद्वादविमुखता के कारण द्रव्यदृष्टि के दर्शन की एकान्तमतता-

देखिये, कल्याण की भावना पहले भी करने वाले अनेक हुए कि मेरे आत्मा का उद्धार हो और उसके लिए अनेकों ने बहुत ज्ञान वाला प्रयत्न भी किया। जैसे यही तो सुना कि आत्मा का स्वरूप अखण्ड, सीमारहित, असीम, व्यापक, एक मात्र यह ही तत्त्व है। बात तो बड़ी भली है, पर इसके एकान्त में जो चला गया याने इस प्रतीति को तज दिया कि इसमें परिणति भी होती है, इसका बाह्य सम्पर्क भी है, अन्दर पदार्थ भी है यों घटना चला करती। इन सब परिणामों के प्रसंग की बात का जिसने निषेध किया, बस वह ही तो बन गया एक अद्वैतवादी, सांख्यादिक जो एक विशुद्ध चैतन्य को ही सर्वप्रकार निरखते हैं। जब वस्तुसिद्धि की बात चलती है, द्रव्यसिद्धि की, तो वहाँ यह ही तो बात दृष्टि में आयगी कि सर्व से विविक्त, गुणपर्याय के भेद से भी परे मात्र एक अनादि अनन्त स्वभाव, मगर यही जिसका सर्व पदार्थ बन गया, जिसके विकल्प में यह ही है और सब स्थितियों में कुछ है ही नहीं तो उनका एकान्त हो गया। अद्वैत, सांख्य आदिक ने क्या गलती की? जो जैन सिद्धान्त कहता है सो ही तो उन्होंने माना, कोई दूसरी बात तो नहीं मानी। जैन सिद्धान्त भी तो यही बात कह रहा, अनादि, अनन्त, अहेतुक, सीमारहित, निर्विकल्प, अखण्ड एक चिद्ब्रह्म ही तत्त्व है, यह ही वे कह रहे। मुख से दोनों की ही आवाज एक-सी चल रही मगर आशय के भेद से सम्यक् और मिथ्या का अन्तर आ जाता है, स्याद्वादी के आशय में वस्तु का सब कुछ है, जाना सब कुछ, पर्याय दृष्टि से भी निर्णय पड़ा है और फिर द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से कह रहे, मगर उन एकान्तवादियों के पर्यायदृष्टि वाला निर्णय नहीं पड़ा, उन्हें वे पूर्ण एकान्त बन गया, तो मिथ्यावाद हो गया। स्याद्वाद का आश्रय छोड़ने से मिथ्या हो जाता और स्याद्वाद का सहारा लेने से सम्यक हो जाता।

1313- स्याद्वादविमुखता के कारण पर्यायदृष्टि के दर्शन की एकान्तमतता-

निरंशवादियों ने कौनसी त्रुटि की? जो स्याद्वादी जैन कहते हैं वही तो वे भी कह रहे हैं। स्याद्वादी जैन पर्यायार्थिकनय को दृष्टि से कहते हैं कि प्रति समय की पर्याय भिन्न-भिन्न है। एक का दूसरे से कुछ सम्बन्ध नहीं। भिन्न पर्याय ही तो नजर आ रही है, अन्वय तो नजर नहीं आ रहा। अन्वय नजर आये तो सम्बन्ध की बात कहो, संतान की बात कहो, पर जब केवल पर्यायदृष्टि का वर्णन है, प्रति समय में एक-एक पर्याय स्वतन्त्र-स्वतन्त्र है, उसका कोई कार्य-कारण नहीं, कोई भी उपादान-उपादेय नहीं, संतति नहीं, एक ही समय की पर्याय नजर आ रही है। कह रहे हैं ना स्याद्वादी वही तो बोद्ध कह रहे हैं, बस नाम भर बदल दिया। पर्याय की जगह पदार्थ नाम धर दिया। पदार्थ है प्रतिक्षण, एक क्षण को होता है, दूसरे क्षण नहीं रहता और

वह पदार्थ अहेतुक है, विनश्वर है। अन्तर क्या आया? अंतर यह आया कि स्याद्वादी ने कहा तो सब, पर उसकी दृष्टि में द्रव्यदृष्टि की भी प्रतीति साथ है। द्रव्यदृष्टि से वह वस्तु त्रैकालिक है, अविनाशी है, यह भी उसके साथ प्रतीति में है। तो उसकी पर्यायदृष्टि का यह कथन सम्यक् है, पर क्षणिकवादियों की दृष्टि में द्रव्यदृष्टि की बात असत्य है, कपोल-कल्पित है, सम्वृत्ति है, असत्य हैं याने केवल व्यवहार में लोग कहते हैं कि वही आत्मा है जो सुबह था इसलिए मान लेते हैं, कह लेते हैं, पर आत्मा या कोई भी पदार्थ एक समय को ही होता है, दूसरे समय ठहरता ही नहीं है। तो स्याद्वाद का विरोध रखकर उस पर्याय दृष्टि का एकान्त किया, लो वह मिथ्या हो गया।

1314- आत्महितोपयोगी शासन की उपलब्धि का सदुपयोग करने की प्रेरणा-

यहाँ ऐसा एक शासन मिला है अपूर्व, जहाँ कोई धोखा नहीं, जहाँ कोई विवाद नहीं, और बड़े आराम से, बड़ी सुगमता से इस तीर्थ में अपने आपको आत्महित में बढ़ाने का यह धोखारहित मौका है। कुञ्जी एक ही है। प्रतिपक्षनय का विरोध न रखकर प्रयोजनवश विवक्षितनय की प्रधानता से इस ढंग का मनन करें कि अपने को स्वभाव का आश्रय मिले, बस एक ही मार्ग, एक ही नीति, एक ही ध्यान रखें। जीवन में फिर कभी धोखा नहीं हो सकता, न कोई अँधेरा रह सकता।

1315- उपयोग में विकार को ले जाना इन दो प्रतिपादन पद्धतियों का तथ्य-

यहाँ प्रसंग में कह रहे हैं कि ये सारी बातें हो रही, मगर जीव जो रागादिक को अपनी उपयोग-भूमि पर नहीं ले जा रहा उसके बंध नहीं। देखो, इस बात को यों भी कह सकते कि रागादिक में जो अपने आत्मा को नहीं लिया जा रहा है, अन्तर अधिक नहीं है और अन्तर है जो कर्मविपाजक रागविकार प्रतिफलित हुआ उनका प्रतिफलन यहाँ लग रहा, चल रहा, अवश है, पर ज्ञानबल से इस ज्ञानी का इतना तो वश है कि वह अपने को अंत: ज्ञानमात्र अनुभवे और उस उपयोग को उन रागादिक में न जुटायें, दूसरी बात- रागादिक हो रहे हैं, उनको अपने में न जुटायें, अपनी उपयोगभूमि में न ले जायें, मतलब रागमय अपने को अनुभव न करें, वह पुरुष ज्ञानमात्र होता हुआ उपयोग में अपने को ज्ञानस्वरूप अनुभव करता रहा, उसके बन्ध नहीं। बातें समझना है यहाँ- उपयोग को रागादिक में जोड़ना, रागादि का उपयोग में जुड़ना। इन दो पद्धतियों में कोई विधि का सूक्ष्म अन्तर होता है। जैसे समयसार के परिशिष्ट अधिकार में बताया कि मैं पर नहीं, पर मैं नहीं। मैं यह दृश्य नहीं। दिखने वाला जो यह जगतजाल है इसके प्रति सोचिये मैं यह नहीं, यह मैं नहीं। अच्छा चलें इस विवरण में। कोई सोचे कि मैं यह हूँ तो उसका मूड़ कैसा बनता? देखो अन्तर-सा तो नहीं जँचता और कोई अन्तर ऐसा नजर आयगा जो एक बाहरी मत-मतान्तरों का एक आधार नजर आयगा। मैं यह हूँ, इसके मायने यह हुआ कि इसने अपने को सर्वमय मान लिया। चेतन-अचेतन बाहरी जो पदार्थ हैं इन सब रूप मान लिया। आपको बड़ा अन्तर नजर आयगा।

1316- मैं यह हूँ, यह मैं हूँ इन दो प्रतिपादनपद्धतियों का अन्तर-

मोटा अन्तर बतायें कि कितना अन्तर आ गया इन दो बातों के इस तरह बोलने में कि मैं यह सारा विश्व हूँ, सारा विश्व मैं हूँ। इन दो बातों में जितना अन्तर है कि जिस नींव के आधार पर बिल्कुल भिन्न दो मत आ जाते हैं। मैं सारा यह जो विश्व हूँ, सो हूँ। उसने अपने आपके भीतर की बात, अपना महत्त्व तो खोया सब और सारे विश्वमय अपने को माना, जिससे बने ब्रह्माद्वैत, अन्य अद्वैत आदिक, जो मानते हैं कि चेतन-अचेतन सारा का सारा एक ब्रह्मस्वरूप है। अच्छा और तब यों कोई सोचे कि सारा विश्व मैं हूँ, तो उसने विश्व की सत्ता खो दी और अपने आपमें ऐसा अनुभव किया कि सारा विश्व मैं हूँ, जिसे कहते हैं ज्ञानाद्वैत। बौद्धों का भेद है यह, वे क्षणिक मान रहे याने जीवादिक जो दिख रहे हैं ये कुछ नहीं हैं। ज्ञान-ज्ञान ही है, अन्य कुछ बात नहीं। कहने को तो जरासी बात है- अजी क्या हुआ? अगर इस भाई ने ऐसा कह दिया कि यह मैं हूँ और इसने यह कह दिया कि यह मैं हूँ। तो कौनसी ऐसी दुविधा पड़ गई? कौनसा बड़ा अन्तर पड़ गया? पर इसमें अन्तर तो बहुत बड़ा हो गया।

1317- आर्षवचनों में अनेक रहस्य–

इस अज्ञानी को तो विकार के साथ ऐसी एकमेकता है कि उसे तो यह और मैं का भी ख्याल नहीं। उसे दो बातों का ख्याल नहीं। यहाँ तो ज्ञानी पुरुष अज्ञानी की गलती बता रहे कि यह अज्ञानी रागादिक को अपनी उपयोगभूमि में ले गया, इसने अपने उपयोग को रागादिक में लगाया। देखो इन दो प्रतिपादनों में भी अन्तर है। अज्ञानी का अज्ञान कैसा है, वह इन शब्दों में बताया गया कि उपयोगभूमि में समस्त रागादिक के साथ एकता करता है। विशेषण देखो- अज्ञानी के वर्णन में तो इन शब्दों में कहा था एक कलश में, कि उपयोग अथवा आत्मा रागादिक के साथ एकता को प्राप्त होता है तो बन्ध होता है और यहाँ ज्ञानियों की प्रधानता से कहा जाने वाले आज के कलश में यह बताया जा रहा कि रागादिक को उपयोगभूमि में न ले जाता हुआ ज्ञानी बन्ध को प्राप्त नहीं होता। बहुत सूक्ष्म अध्ययन करने पर इन आचार्यों के प्रति की कैसी सावधानी से शब्द रचना हुई। उन्होंने जान-जानकर ऐसे शब्द चाहे न बोले हों कि जिनमें ऐसा रहस्य छुपे मगर उसके निसर्गत: स्पष्ट प्रकाश होने के कारण ऐसे ही शब्द निकले कि जिनमें ये सब रहस्य पड़े हुए हैं। तो यह जीव, यह भव्यात्मा, यह अन्तरात्मा उस रागादिक को अपने में नहीं लेता, अपने में अपने को अनुभव करता, तो ऐसा यह सम्यग्दृष्टि जीव निश्चित यह बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

कलश 166

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां

तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृति: ।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥166॥

1318- निरर्गल अनुचितता-

पहले के कलशों में यह बताया गया का कि कर्मों से भरा हुआ यह जगत है, तो यह जगत रहा आये, इसके कारण कर्मबंध नहीं होता। ये मन, ये वचन, काय की प्रवृत्तियाँ होती हैं, होती हैं तो होने दो, इनके कारण बंध नहीं होता। ये अनेक प्रकार के साधन हैं, इन्द्रिय, मन, बाह्य साधन मकान, वैभव आदिक, कहते हैं कि ये रहते हैं तो रहने दो। इनके कारण बन्ध नहीं होता। चेतन अचेतन पदार्थों का विग्रह होता है होने दो, उससे कर्मबन्ध नहीं होता। ऐसी बात सुनकर स्वच्छंदता आ सकती है। लिखा तो है कहीं कि बन्ध होता तो होने दो, योग होता है तो होने दो, घर-मकान मिला है तो रहने दो, इससे बन्ध नहीं होता। तो स्वच्छंदता भी अपनाई जा सकती है। उस स्वच्छंदता को दूर करने के लिए यह कलश कहा जा रहा है कि भाई तुम सही बात तो समझो। एक मनुष्य ने दूसरे मनुष्य के दो तमाचे जड़ दिये तो उस मारने वाले के मन में क्रोध जगा, मन में कुछ खलबली-सी हुई और उसकी चेष्टा हो गई, तमाचा लग गया। अब यहाँ यह भेद बनावें कि तमाचा लगा, हाथ लगा, इससे बन्ध नहीं, किन्तु उसने शरीर में तो एक खलबली मचाई, खुशी आयी, अपने स्वरूप से चिगा, संक्लेश किया वह तो बन्धहेतु है ना? उसका तो निषेध नहीं किया गया। तो हर जगह यही देख लो अगर किसी वस्तु का बंध हुआ तो उस बन्ध करने वाले के परिणाम क्या समाधि में थे, आत्मा की अनुभूति में उसके परिणाम थे? यह यों ही अद्भुत हाथ चल गया क्या? तो जो बुद्धिपूर्वक बातें होती हैं जान-बूझ करके कर्मबन्ध के कारण ही हैं। वहाँ ये बाह्यक्रियायें बन्ध का कारण नहीं, किन्तु आत्मा में जो संक्लेशभाव है वह बन्ध का कारण है, यह तो एक विवेक की बात है। तो यद्यपि सब सही-सही स्वरूप बताया है तो भी निरर्गल आचरण करना ज्ञानियों को उचित नहीं है, करना ही नहीं है। क्योंकि निरर्गल आचरण होना यह ही तो बन्ध का आयतन है। निरर्गलता होना मायने मन स्वच्छंद रहा, कषायों में रहा तो वहाँ बंध होता ही है।

1319- अकामकृत कर्म में ही बन्ध की अकारणता-

भैया, बात यह कही जा रही थी कि बिना इच्छा के कोई कर्म बने तो वह बंध का कारण नहीं, पर ऐसा हो रहा क्या यहाँ अभी कहीं? जिनको हो रहा उनकी बात सही है। बिना इच्छा के कौन प्रवृत्ति कर रहा? फिर भी कोई परिस्थिति होती है ऐसी कि उसमें लाग नहीं, लगाव नहीं, लगाव नहीं और फिर भी प्रवृत्ति हो रही है। जैसे अरहंत भगवान विहार करते हैं तो अब विहार में क्रिया नहीं चल रही क्या? द्रव्य

मनोयोग है, वचनयोग है, दिव्यध्वनि खिरती है, शरीर का योग है, तो ये चेष्टायें तो बंध का कारण नहीं हैं। वहाँ तो झट समझ में आ जाता है कि वे वीतराग हैं और उनका वह विहार अनिच्छा से हो रहा है। जैसे मेघ गरजते, बरसते, यत्र-तत्र फिरते, वहाँ कोई इच्छा है क्या? नहीं। यह तो एक मोटा उदाहरण दिया, तो ऐसे ही प्रभु गरजते हैं मायने दिव्यध्वनि खिरती है, विहार करते हैं फिर भी उनके इच्छा नहीं है इसलिये बन्ध नहीं है। तो यहाँ भी जैसे महाभाग लोगों के, ज्ञानियों के भीतर की दृष्टि बनी है, जिनको सही निर्णय है कि जो कर्मविपाक है, कर्मरस है, प्रतिफलन है, आपदा है, ये मैं नहीं हूँ। मैं तो यह विशुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ। मानो कर्मरस के कहने में नहीं रहा अब यह जो विकार राग जिस कर्मरस का ऊधम वहाँ था अब वह नहीं कर रहा। यह तो ज्ञानस्वरूप की ओर ही आकर्षित है, तो ऐसा अकाम, निष्काम होते हुए जो-जो कर्म हुए, वह अकारण है बन्ध का।

1320- निष्कामकर्मयोग व अकामकृत कर्म का विश्लेषण-

अन्य जन भी निष्काम कर्मयोग कहते हैं, इसके हैं मायने फल न चाहें और काम करें। वहाँ दृष्टि यह है कि फल मत चाहो और काम करो और दृष्टि यह है कि काम करना पड़ रहा, चाहता नहीं।देखो जरासी बात में कितना अन्तर है। फल मत चाहो, कर्म करो। जहाँ कर्म करने का तो भीतर से हुकुम है, आदेश है वहाँ कुछ न कुछ कामना आ ही जाती है। रोगियों की सेवा करो, पर रोगियों से फल मत चाहो। यह तो बात बनेगी मगर रोगियों की सेवा करके कुछ न चाहो यह कर्म करने की उमंग वालों से कैसे बनेगा? उनके भीतर कुछ तो फल पड़ा है कि हमारे धर्म की प्रभावना होगी। हमारा इसमें यश बढ़ेगा। हमने जिस मिशन का बीड़ा उठाया है उसकी वृद्धि होगी। कोई न कोई बात चित्त में है, तो एक मोटा फल न चाहा कि रोगी से फीस आदि ले ले मगर इच्छा ही कुछ न करें, और काम खूब करें। यह बन रहा है वहाँ क्या? वहाँ पर अकामकृत कर्म की बात नहीं बनती, जो बंध का अकारण है वह अकामकृत नहीं बनता। अकामकृत कर्म वहाँ तो बनेगा, जैसे कोई कैदी सेठ कैदखाने में पड़ा है तो वहाँ उसे चक्की भी पीसनी पड़ती, सिपाहियों के डंडे के भय से, तो वह वहाँ चक्की पीसता, पर पीसना नहीं चाहता। परिस्थितिवश पीसना पड़ रहा, याने वह काम तो कर रहा पर उस काम को भी नहीं चाहता और उस काम का फल भी नहीं चाहता। जिस काम को करे उसको भी न चाहे और उसका फल भी न चाहे, ये दोनों बातें हों तो अकामकृत कर्म होगा। और लौकिकजनों के निष्कामकर्म में उस कर्म का उससे फल नहीं चाह रहा, किन्तु कर्म करना तो चाह रहा। लेकिन यहाँ देखो, ज्ञानी किसी कर्म को भी नहीं चाहता व फल भी नहीं चाहता। इतना सहज वैराग्य है, तो उस कर्म आदि के सम्बन्ध में बात कही जा रही कि वह कर्म बन्ध का कारण नहीं। अकामकृत कर्म बंध का अकारण कहा गया है, क्योंकि क्या ये दो बातें एक साथ रह सकेगी कि जानता है और करता है? ये दो बातें एक साथ नहीं रह सकती। करना पड़ रहा है और जानता है। ये चाहे किसी पदवी में एक साथ रह जायें मगर करता है और जानता है ये दो बातें एक साथ नहीं रह सकती।

कलश 167

जानाति य: स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मराग: ।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-
र्मिथ्यादृश: स नियतं स च बन्धहेतु: ॥167॥

1321- ज्ञाता के कर्तृत्व का अभाव व कर्ता के ज्ञातृत्व का अभाव-

जो जानता है वह करता नहीं, जो करता है वह जानता नहीं। जानने और करने का यह अर्थ अवधारित कीजियेगा- मैं ज्ञानमात्र हूँ, जानन ही मेरी क्रिया है, जानन ही मेरा व्यापार है। यह जानन चल रहा, जाननहार जान रहा, सो जानने को ही जान रहा है, इस जानन का फल भी जानना ही है, जानने के लिए जान रहा। ज्ञान केवल ज्ञान के लिए ही है, वह इस ज्ञान में हो रहा कार्य। ऐसा यह जानन का कार्य होता है। इस तथ्य को जो जाने इसे कहते हैं कि वह जाननहार है। नहीं तो जानने वाले तो सभी कहलाते हैं, और अहंकार के साथ बोलते कि तुम क्या जानते हो? मैं जो जानता हूँ, तो उसका जानन क्या जानन कहलाता है? वह तो करना कहलायेगा। तो जानना, जहाँ केवल जानन का सर्वस्व दृष्टि में है उसे कहते हैं कि जानता है, तो ऐसा पुरुष जो जानता है वह क्या करता है? एक बात इस प्रसंग में खास जानें कि जो क्रियायें राग हो याने उस परिणति के साथ, उस विभाव के साथ मिलकर जो स्वर में स्वर मिलता है वह तो कहलाया कर्ता और जो अपने स्वरूप में, जानन क्रिया में प्रतीति रखकर स्वरूप में स्वर मिलाकर जो बात करे वह है ज्ञाता।

1322- जीवविकार व अजीवविकार के द्वैविध्य के प्रतिपादन से आत्मा अनात्मा में भेद का समर्थन-

यह बात समयसार में आगे कही जायगी कि कषायें दो प्रकार की होती हैं- (1) जीव कषाय (2) और अजीव कषाय। मिथ्यात्व दो प्रकार के, (1) जीव मिथ्यात्व और (2) अजीव मिथ्यात्व। जीव अजीव उसका मतलब क्या हैं? यह मतलब है कि जैसे दर्पण है, तो दर्पण के सामने कोई लाल-पीला कपड़ा आया, अब फोटो भी आयी ना लाल पीली। अब लाल पीली वहाँ दो प्रकार की है- (1) दर्पण रूप और (2) कपड़ा रूप। सामने देखते जाइये- लाल दो हैं- कपड़ा और दर्पण। फोटो भी तो दिख रही ना। सो दो रूप हैं- एक दर्पण रूप और एक कपड़ा रूप। कपड़े का लालपना कपड़े में ही है, कपड़े में तन्मय हैं और उसका सान्निध्य पाकर जो दर्पण में लालपना आया वह लालपना दर्पण की परिणति है। भले ही यह लालपना ऊपर लोट रहा है

दर्पण में याने स्वभाव में प्रवेश नहीं कर पाया, तब ही तो देखो उसके हटने में विलम्ब नहीं लगता। खूब प्रयोग करके देख लो, कपड़ा हटाया तो फोटो हट गई, कपड़ा सामने किया दर्पण के तो फिर फोटो आ गई। तो वह फोटो बाहर-बाहर ही है, दर्पण के स्वरूप में नहीं है, दर्पण का स्वभाव नहीं है इसलिए बाहर ही बाहर लोट रहा हैं पर वह लालिमा दो जगह है- कपड़े में और दर्पण में। ऐसे ही दो जगह कषायें हैं- कर्म में और जीव में। कर्म में कषायें होती क्या? हाँ वहाँ तो मौलिक बात है। जैसे कपड़ा भी लाल होता क्या? अरे ! खूब देख लो, असल में तो कपड़ा ही लाल है। अब उसका सन्निधान पाकर यह झाँकी आयी। तो क्या अचेतन कर्म पुद्गल की कषायें हैं? हाँ, हैं। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ यह कर्म प्रकृति का भेद है; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ यह कर्म प्रकृति का भेद है। अच्छा तो कर्म में ये कषायें कब आयी थी? सागरों वर्ष पहले जब भी यह कर्मबंध था, उसी समय में कषाय का अनुभाग आ गया था। अच्छा और ऐसा ही अनुभाग भीतर पड़ा हुआ सागरों पर्यन्त रहा? हाँ रहा तो सही। अब जब विपाक आया, उदयकाल आया तो वह विपाक फूटा। कर्म अचेतन हैं, नहीं तो जीव से अधिक दुर्दशा इस कर्म की होती। जो कषाय अनुभाग कर्म में पड़ा हुआ है वह कषाय अनुभाग फूटा, उदित हुआ और चूंकि यह जीव उपयोग रूप है, जानन इसकी प्रकृति है, अभी यह अशुद्ध जीव है। इसमें वह रस प्रतिफलित होता है। यह प्रतिफलन जानकर हुआ या बिना जाने? दर्पण में अँधेरा जानकर हुआ या बिना जाने? हुआ यह प्रतिफलन, उस प्रतिफलन को इस जीव ने अपनाया, उस स्वर में स्वर मिलाकर बोला जैसे किसी के सर्प का विष चढ़ा तो वह उस सर्प की बोली में बोलता है, ऐसे ही यह अज्ञानी जीव मोह में मानो कर्म की बोली में बोलकर उन दशावों रूप अपने को मानकर चेष्टायें कर लेता है। इसकी चेष्टायें ज्ञान-विकल्प रूप हैं। कर्म का विपाक, कर्म के अनुभाग रूप है, बस भेद विज्ञानी ने यहाँ ही तो भेद डाला।

1323- कर्ता का लक्षण कर्मराग-

यह कर्मरस-प्रतिफलन यह मेरा स्वरूप नहीं। मेरी क्रियायें हँसना, रोना, गाना आदि नहीं। मेरी क्रिया तो जानन है। यह तो केवल औपाधिक भाव बनता, तो ऐसी विशुद्ध जानन क्रिया का जिसे अनुभव है, आस्था है वह जान रहा, समझता है कि मेरा काम जाननमात्र है। अभी यही एक अनुभूति बनावें कि जब आप ऐसी दृष्टि कर डालेंगे कि ज्ञानमात्र जाननक्रिया, यही सर्वस्व है मेरा, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं, उस समय यश, निन्दा और, और बातें वे सब खतम हो जाती हैं। कोई आकांक्षा ही नहीं जगती, और संकोच, लाज, भ्रम कितने ही प्रकार के संकट ये कोई नहीं ठहरते, इस तरह का अन्दर में एक दृढ़ विश्वास है और ऐसे ही विश्वास के साथ ही इस ज्ञानी ने जाना सो यह जानन कहलाता है। जो जानना है वह कर्ता नहीं। करना क्या कहलाता है? कर्मराग जो कर्मरस है, जो क्रिया चेष्टा है उसमें राग होना यह है कर्मराग, यही कहलाता है करना। देखो बहुत सीधी-सी बात। कोई रईस बीमार पड़ गया। तो उसका कमरा बहुत अधिक सुगंधित सजाया गया, पलंग बहुत कोमल स्प्रिंगदार गद्दे का सजाया गया, डाक्टर भी समय-समय पर आते, दवा देते,

नौकर-चाकर भी बड़ी सेवा करते, मित्रजन भी आ-आकर बड़ी सेवायें करते, बाहरी सब प्रकार के आराम के साधन जुटाते, वह रईस उस दवा को बड़े प्रेम से पीता, यदि जरा भी दवा मिलने में देर हो जाय तो खूब झुँझलाता...पर जरा देखो तो सही कि उसके मन में उन सब साधनों के प्रति राग है क्या? अरे ! उसे राग नहीं है। वह तो दवा न पीना पड़े इसलिये दवा पीता है। वह नहीं चाहता है कि हमें जिन्दगीभर इसी तरह के आराम के साधन बने रहें। बल्कि वह तो यह चाहता कि मैं कब ठीक हो जाऊँ और मील दो मील प्रतिदिन घूम आऊँ। देखिये- उस प्रसंग में बाहर में बड़ी उमंग-सी दिख रही थी उस रईस को, दवा, डाक्टर वगैरह के प्रति, पर भीतर से उनके प्रति उसे राग बिल्कुल न था। वह तो परिस्थितिवश उसे करना पड़ रहा था। वहाँ उस रईस के आशय को देखना है उसकी बाहरी वर्तमान परिस्थिति को नहीं। उसके उस प्रकार का आशय होने से बंध नहीं। आपके वर्तमान कानून में भी यही बात होती है। कोई जीव मारना चाहता है किसी को, की मार न सके, इसने इच्छा थी यह बात यदि सिद्ध हो जाती हैं तो न्यायालय उसे दंड देता है। तो उसे दण्ड मिला उसका उस प्रकार का आशय देखकर। एक आशय की ही तो बात है यहाँ। कर्मविपाक, कर्मप्रतिफलन हुआ और उसका उसमें जुटाव बन गया, जुड़ गया कि यह हूँ मैं, तो बात तो बन रही कर्मरस में और उसका सान्निध्य, निमित्त पाकर यह ज्ञान-विकल्प इस रूप चल रहा है हर क्रिया में कि मैं ही तो राग करता, तो वहाँ मैंने किया, मैं कर रहा, मैं कर दूँगा, मेरे सिवाय कौन कर सकता है? कितने रूप में यह करने की बात लादता है। तो जो कर रहा है उसे सुध है क्या यह कि आत्मा की क्रिया तो मात्र जानन है।

1324- मोहसम्पर्क से अज्ञानमय भाव की मुद्रा का निर्माण-

भैया, एक तरह से यह बात भी परख लो, हो भी रहा मानो बाह्यकर्म, मगर जो स्वतंत्र, निरपेक्ष केवल अपने आपमें अपने से ही जो बात बने, करना तो वह कहलाता है और सामर्थ्य भी वही कहलाती। ऐसी बात तो जानन क्रिया में पायी जा रही है। स्वरूप ही यह है। जब यह ज्ञानमय आत्मा है, ज्ञानस्वरूप ही पदार्थ है, तो निरन्तर उत्पाद क्या होगा? वह जानन जाननरूप, प्रतिभासन प्रतिभासनरूप, उसे कोई रोक नहीं सकता। वह निरन्तर चलता है। तो यह तो बात चल ही रही है, किन्तु साथ में मोह का सम्पर्क है तो अब यह विकल्परूप बनता जाता। जब तेजी से कोई चक्र चल रहा, मानो बिजली का पंखा चल रहा, आपको सब एक नजर आ रहा, पखुंड़ियाँ भी जुदी नहीं मालूम होती। कितनी पखुंड़ियाँ है इसका भी कुछ पता नहीं पड़ता। एक रूप चल रहा, और एक पंखुड़ी में कपड़ा बाँध दिया जाय तो चलते हुए से अब आपको कुछ समझमें आने वाली बात भी चल उठी। तब तो कुछ न समझमें आने वाली बात थी। अब समझमें आने वाली भी बात बन गई। बस यही हालत हो रही है जगत की। इसकी जो विशुद्ध क्रिया है अर्थ पर्याय षड्गुण हानि –वृद्धिरूप, सो सब पदार्थों में, आत्मा में भी निरन्तर चल रही उसका तो कुछ पता नहीं। बस मोहसम्पर्क हुआ और ये मोटे-मोटे विचार, विकल्प जिनकी मुद्रा बन रही, यह समझ में आयी तो यह जानता है कि हाँ अब जाना हमने। अरे ! जिसको कहते हो कि जाना, वह तो है करना और जो वास्तविक जानना है वह

उसके जानने में आया कहाँ। जो जानता है वह करता नहीं, क्योंकि करना नाम है कर्मरस का। जो क्रिया बन रही, जो प्रतिफलन हुआ उसमें राग है तो करना है, यह ही मैं हूँ। जैसे रोगी ओषधि खा रहा और उसमें अन्दर राग है, यह कि हमेशा ही मिले, यही मेरा काम है तो राग कहलायेगा, ओषधि खाना कहलायेगा।

1325- जानन और विकार में अनाटकी सूचना-

इस ज्ञानी को कर्म में राग नहीं, क्यों राग नहीं, क्योंकि वह कर्म को, राग को, उस विभाव को, विकल्प को जानता है कि यह अज्ञानमय भाव है। मैं तो ज्ञानमय हूँ। कर्मराग अज्ञानमय भाव है, राग का स्वरूप जानना है ही नहीं तो यह मेरा कैसे काम? जो जानन है सो मेरा काम। अगर यह राग खुद जानता होता तो राग चेतक कहलाता, यह तो चैत्य है। ज्ञान द्वारा जानने में आया हुआ है, भले ही राग देखकर एक चेतन का अन्दाज होता है, अनुमान होता है, यह जीव है, जो राग करे सो जीव है, किसी पदवी में ऐसा अनुमान हुआ तो यह रागभाव तो राग से निराला चैतन्यस्वरूप है। इसको ही जता रहा है, जैसे रात्रि के समय कमरे में बिजली जल रही है। बाहर बैठा हुआ पुरुष बल्ब को नहीं देख पा रहा। बल्ब एक कोने में है और इस जंगले में से ये चौकी, तखत वगैरह दिख रहे तो उनका दिखना इस बात का निर्णय करा देता है, करते ही हैं सब लोग, कहते हैं ना- अरे ! देखो बिजली जल रही। वहाँ बल्ब तो दिखा नहीं, और वे जो प्रकाश्य हैं टेबल, कुर्सी वगैरह, बस उनके दिखने ने ही ज्ञान कराया कि यहाँ बिजली जलती है। तो ज्ञानी पुरुष तो इस राग को इसका प्रतिभास्य समझता, यह ही अनुमान कराता, ज्ञान कराता कि इससे निराला है एक जानन पदार्थ। जैसे इस चौकी से निराला है बल्ब। तो जानन और कर्म में भेद है, अन्तर है।

1326- विशुद्ध अभेदषट्कारकता के परिचय का प्रताप-

इस जीव की जो जाननस्वरूप में जानन क्रिया की आस्था है यह बड़ा काम कर रही है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, जानन मेरी क्रिया है, जानता हूँ, जानन को जानता हूँ, जानने के द्वारा जानता हूँ, जानने के लिए जानता हूँ, जानने में जानता हूँ, यह है इसकी फैक्टरी अभेदषट्कारकी। देखिये- षट्कारक में सम्बन्ध को नहीं लिया गया। हिन्दी में तो सम्बन्ध भी कारक माना गया है पर संस्कृत में नहीं माना गया। विभक्ति तो जरूर है, मगर कारकपना नहीं है। भाई ! सम्बन्ध को क्यों नहीं कारक कहा? उस सम्बन्ध वाली वस्तु के साथ क्रिया का साक्षात् सम्बन्ध नहीं। उस सम्बन्ध वाली वस्तु जैसे कोई-सा भी एक वाक्य बोलो- ''हमने मन्दिर में अमुक के लिए कलम से फलाने चंद की किताब लिखी।'' यह एक वाक्य बनाया। लेखन क्रिया का सबके साथ जुटान हो गया मगर फलाने चंद के साथ जुटान नहीं हो सकता। जैसे- किसमें लिखी? मंदिर में। किसके लिए लिखी?...अमुक के लिए लिखी, किससे लिखी? कलम से लिखी और आगे पूछते लिखी किसकी? अमुक चंद की लिखी, तो इसका अर्थ क्या? अमुक चंद की किताब लिखी। तो उस बीच किताब का सम्बन्ध बना लेखन क्रिया से। लेखन क्रिया का उस सम्बन्ध वाले पदार्थ के साथ सीधा जुटान नहीं बना। उसका जुटान है पुस्तक के साथ, और किसी से सम्बन्ध नहीं। चूंकि क्रिया का साक्षात् सम्बन्ध कारक के

सम्बन्धी से नहीं होता, उस सम्बन्ध वाले के साथ जिसका सम्बन्ध कहा, इस कारण वह कारक में नहीं गिना। हाँ स्वद्रव्यों में अभेदषट्कारक रूप से वह जानन की बात परख रहा है, यह है जानन।

1327- कर्मराग की संकटमूलता-

राग तो अज्ञानमयभाव है। यह तो अध्यवसान है। यह अज्ञानभाव तो मिथ्यादृष्टि के होता है। सो मिथ्यादृष्टि का राग निश्चित ही बंध का कारण है। यहाँ जोर किस बात पर दिया? आत्मा को जानो। निश्चयनय से निरखो केवल एक अंतस्तत्त्व आत्मा, उसकी क्रिया जानो। जो पदार्थ है, जैसा स्वभाव है उस स्वभावरूप ही उसका काम होता है, बाकी बात सब औपाधिक भाव हो गया, मगर उसके स्वभाव की बात न होगी। मैं ज्ञानमात्र हूँ। जानन मेरी क्रिया है। हर जगह यही सोचना है। इस ज्ञानी को पर्याय में आत्मबुद्धि नहीं है, इस कारण ये सब ज्ञानकला में उसके सहज प्रकट होती हैं, सही काम करती हैं। पर्याय में आत्मबुद्धि होना यह ही बड़ी विपत्ति है और इसी से ही यह करने-करने की बात कहता है। मैंने किया, मैं कर दूँगा। ''करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तितम्। मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्तृतम्''। यह एक लौकिक शिक्षा की बात कह रहे हैं। मैं करूँगा, करूँगा, करूँगा इसका तो ख्याल है इसे और मैं मरूँगा, मरूँगा, मरूँगा इस बात का कुछ भी ख्याल नहीं होता। यह एक मोटी बात कह रहे हैं। जाननक्रिया की बात और है। जो जानता है वह कर्ता नहीं। अकामकृत कर्म हो तो वह बंध का हेतु नहीं, किन्तु कर्मराग तो सब संकटों का दृढ़ मूल है।

कलश 168

जानाति य: स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मराग: ।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-
र्मिथ्यादृश: स नियतं स च बन्धहेतु: ॥167॥

1328- कर्मराग की संसारबंधहेतुता तथा मिथ्याध्यवसायरूपता-

इससे पहले कलश में यह बताया था कि जीव को बंध होता है तो कर्मराग के कारण बंध होता है। कर्मराग क्या चीज कहलाती? शब्दों से देखो तो कर्म में राग होना- यह है कर्मराग, कर्म के मायने क्रिया, क्रिया में राग होना। मैं कर्ता हूँ, मैंने किया, मैं कर दूँगा। अनेक प्रकार के कामों में राग होने का नाम है कर्मराग। जैसे कोई ऐसी कल्पना करे कि मैं दूसरे जीवों को मारता हूँ तो उसने कर्मराग किया ना? मैं इसको मारता हूँ।

उसने उससे ऐसा लगाव लगाया कि मैं मारता हूँ। मैं करता हूँ। उस क्रिया में जो राग लगाया वह है कर्मराग और, देखो कर्मराग कितने हैं वे सब तथ्य के विपरीत होते हैं। मैं इसको मारता हूँ यह तथ्य के विपरीत कैसे? तो जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया कि आयु के क्षय से ही जीवों का मरण है। और आयु कोई किसी की हर सकता क्या? बाह्यसाधन होना और बात है और निमित्त-नैमित्तिक योग होना और बात है। यह बात जरा ध्यान से सुनो- किसी ने किसी को तलवार मार दी, अब उसके अलग-अलग क्या विशेषण किए जायें, उसमें तो लम्बा समय लगेगा। उपचारभाषा बिना गुजारा न चलेगा। वह तो बोलना ही पड़ेगा, और न बोलोगे तो इतनी लम्बी चर्चा बनाओ कि उसमें उतना समय लग जाय कि जितने समय में उसका मूड ही खतम हो जाय, उपचार भाषा होती है संक्षिप्त (Short) भाषा। हम थोड़े में अपनी बात पा सकें वह भाषा है उपचार भाषा। किसी ने तलवार मार दी- यह उपचार भाषा में बोल रहे, क्योंकि यह भी कर्मराग का ही हिस्सा है। वहाँ तलवार से कोई अंग अलग हो गया, उस प्रसंग में उसका मरण हो गया तो वह आयु के क्षय का निमित्त पाकर हुआ। इसे कहते हैं निमित्त-नैमित्तिक योग। निमित्त-नैमित्तिक योग मरण उस शस्त्रमारक मनुष्य के साथ नहीं है किन्तु आयु क्षय के साथ है। आयु क्षय होने से मरण है।

1329- बुद्धिपूर्वक विकार के प्रसंग में उपादान, निमित्त व आश्रयभूत साधन का परिचय-

ध्यान दीजिए- आपने किसी की निन्दा की तो उसे दु:ख हो गया। तो उसके दु:खी होने में असाता वेदनीय का उदय यह निमित्त है, वह दूसरा आदमी निमित्त नहीं है। वह है बाह्यसाधन। आप करणों को तीन हिस्सों में विभक्त करें- उपादान, निमित्त और आश्रयभूत। आश्रयभूत कहो या बहिरंग कारण कहो या बाह्य साधन कहो, सब एक बात है। बाह्य साधन का उस नैमित्तिक कार्य के साथ निमित्त-नैमित्तिक योग नहीं, किन्तु कर्मदशा का नैमित्तिक कार्य के साथ निमित्त-नैमित्तिक योग है। मायने असाता वेदनीय का उदय, मोहनीय का उदय यह है उस जीव के दु:खी होने में निमित्त कारण। निमित्त कारण का आलाप नहीं होता, क्योंकि वह तो नियत अवस्था है। आचार्यदेव यहाँ स्वयं कलश में कह रहे हैं, अपने अपने कर्म उदय से जैसी सारी बातें होती हैं, वह है नियत अवस्था। आग पर या संताप पर रोटी सिकती है, वह नियत अवस्था है। रोटी सिकने में निमित्त कारण वह गैस है। निमित्त-नैमित्तिक भाव को तो खूब अच्छी प्रकार कहो। उसके बिना मार्ग न मिलेगा, मगर निरखना यह होगा कि आग नहीं सिक गई, सिकी रोटी ही है, यह बात यहाँ निरखना है। निमित्त-नैमित्तिक योग तो होते ही हैं विकार में। कोई भी विकार निमित्त के अभाव में हो ही नहीं सकता। लेकिन साथ में यह निरखना होगा कि निमित्त-सन्निधान में उपादान अपनी ही परिणति से अपना प्रभाव बनाये है। निमित्त ने उसकी परिणति नहीं की। इसी बात को एक अध्यात्मसूत्र पुस्तक है, जिसमें 10 अध्याय बने हैं, बहुत छोटे-छोटे सूत्र हैं, व्यवस्थापूर्वक एक-एक अध्याय में प्रकरणबद्ध किया है। एक सूत्र आया है ''निमित्तं प्राप्योपादानं स्वप्रभाववत्''...उसका अर्थ है कि निमित्त को पाकर उपादान अपने स्वभाव वाला होता हैं।

उसका यह शुद्ध अर्थ है, निमित्तसान्निध्य है एक वातावरण। उस वातावरण के अभाव में उपादान विकार नहीं कर सकता, मगर विकाररूप जो परिणमा है वह उपादान परिणमा है, निमित्त नहीं परिणमा।

1330- निर्विवाद प्रगतिमार्ग पर चलने का अनुरोध-

देखो, किसी बातचीत में भी किसी के कोई विवाद नहीं। सब लोग हैं, सबके ज्ञान है, सब लोग ज्ञान से बोलते हैं, गलत कोई नहीं बोलता, मगर फर्क क्या पड़ गया? एक तो फर्क यह पड़ जाता कि शब्द के अर्थ अनेक होते हैं सो कोई किसी धर्म को लेकर उस शब्द का भाव चलाता है, कोई किसी को कहकर चलाता। विवाद का कारण एक तो यह हो सकता, दूसरे कषाय विवाद का कारण हो सकती। याने हृदय मान रहा है कि बात ऐसी नहीं हैं, बात ऐसी है, लेकिन चूंकि एक नाम पड़ गया है कि मैं अगर जानी हुई की तरह कह दूँ तो मेरी शान न रहेगी, दूसरा कारण यह भी हो सकता। मगर कुञ्जी को अपनाकर चलें। अपना-अपना हित करना है सबको। अपने मार्ग का दीपक यह बनाओ- प्रतिपक्षनय का विरोध न करके प्रयोजनवश विवक्षितनय की प्रधानता से ऐसा मनन करना, जिससे कि स्वभाव का आश्रय मिले। यह नीति अपनायेंगे तो कहीं धोखा न होगा। हाँ कर्मराग की बात चल रही है। एक जीव ने दूसरे जीव को गाली दी तो दूसरा यह माने कि मुझे गाली दी गई व मुझको इसने दु:खी कर दिया, तो यह बात अध्यवसाय हैं। यह उपचार में तो आया, पर व्यवहार में और निश्चय में नहीं आया। निश्चयनय होता है स्वाश्रित। स्व में स्व का वर्णन करना। व्यवहारनय होता है पराश्रित। घटना, पर की बात, परभाव, सब प्रकार का यथार्थ सही-सही वर्णन करना और उपचार होता है पर का स्वामित्व और पर का कर्तृत्व जिससे जाहिर हो, ऐसी भाषा का प्रयोग करना। जैसे हमको इसने दु:खी किया, यह उपचार कथन है, वह तो निमित्त भी नहीं है। वे तो बाह्यसाधन है। आश्रयभूत पदार्थ हैं। निमित्त तो कर्मोदय है। सो कर्मोदय के अभाव में कोई जीव दु:खी हो पाया हो, ऐसा कोई दृष्टान्त मिलेगा क्या? उस मनुष्य के अभाव में याने वह नहीं है तो भी दु:खी हो सकता। आप कहेंगे कि और कोई होगा। चलो वह भी न हो, कोई आश्रय न हो और कर्मोदय है तो अबुद्धिपूर्वक दु:ख तो होगा। बुद्धिपूर्वक आश्रयभूत साधन में होता है। अबुद्धिपूर्वक साधन के अभाव में भी चलता ही है।

1331- मिथ्याध्यवसाय की संसारबन्धनरूपता व बन्धहेतुता-

यहाँ जो एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के प्रति यह भाव रखता है कि मैंने इसे मारा, मैंने इसे दु:खी किया, यह अध्यवसाय मिथ्या है, क्योंकि उसने तथ्य को त्याग दिया कि दु:ख-सुख वगैरह ये सब मेरे कर्म के अनुसार होते हैं। तो आयु का क्षय हो तो मरण है। आयु क्षय को दूसरा कर सकता नहीं। भले ही बाह्य साधन बन गए, मगर साक्षात् कर्ता की बात कह रहे। जैसे मानो कोई इंजन चल रहा है, मानो रेलगाड़ी चल रही है, उसमें बहुत से डिब्बे एक दूसरे से फँसे हैं तो परम्परा निमित्त हो जाता सारा डिब्बों को खींचने वाला इञ्जन, मगर साक्षात् तो पहला डिब्बा दूसरे डिब्बे के खींचने का निमित्त है, दूसरा तीसरे के खींचने का निमित्त है, मगर उनमें निमित्तपना तब ही तो आ पाया जब कि इञ्जन में इस प्रकार की बात बन रही है। इस कारण

परम्परया निमित्त की बात आती है। मगर साक्षात् बात जहाँ दिखती है वहाँ का निर्णय वह तत्काल वाला निर्णय है, उसी समय वाला निर्णय है। उसी समय के मायने जिसका निमित्त पाकर जहाँ जो बात हो पा रही हो तो मरण में आयुक्षय निमित्त है। मनुष्य निमित्त नहीं। तो ये मनुष्य व्यर्थ में एक अपना अभिमान बनाये हैं कि मैं मार दूँगा, मैं मार डालूँगा, मैं ऐसा कर दूँगा...तो यह अध्यवसान मिथ्या है। यह बन्ध का कारण है। और, इतना ही क्या, कोई जीवन के लिए अहंकार बनाये- मैं इसको जिन्दा करता हूँ...देखिये- दया की बात तो इस पद में योग्य है, उचित है, जो जिस पदवी में है। मगर यह अहंकार रखना कि मैंने इसको बचाया, मैंने इसे जिलाया...। अरे ! उसका उदय था, आयु का उदय चल रहा था। आयु का उदय निमित्त है उसके जीवित रहने में। मैं तो बाह्यसाधनमात्र हूँ। ये अध्यवसाय हटाना योग्य है। क्योंकि आयु का क्षय उसके उपभोग से ही होगा, किसी जीव के करने से नहीं।

1332- अकालमृत्यु में भी आयु की उपभोग से क्षीयमाणता-

देखो, इस प्रसंग में एक बात और समझना। जैसे कहते हैं अकालमृत्यु, तो उस अकालमृत्यु का अर्थ क्या है, यह करणानुयोग के ज्ञान से ही विदित होगा। किसी जीव ने परभव में इस भव के लिए मानो 100 वर्ष की आयु बाँधी, उस 100 वर्ष की आयु बँधने का अर्थ क्या है कि उस आयुकर्म में इतने निषेक बने कि एक-एक निषेक एक-एक समय में उदित होवे तो 100 वर्ष तक इस भव में यह जीव रहेगा, याने 100 वर्ष के जितने समय होते हैं उतने उसकी आयु के निषेक होते हैं। अब यह बात तो वहाँ बंध गई। अब इस भव में जन्म लिया। 40 वर्ष की आयु हो गई है, तो निषेक 40 वर्ष तक ईमानदारी से खिरते रहे। अब 40 वर्ष की उम्र में किसी ने शस्त्र मार दिया या कोई योग बन गया ऐसे बाह्यसाधन मिल गए तो उसके शेष 60 वर्ष के समय परिणाम बराबर जो निषेक हैं वे उसके अन्तर्मुहूर्त में खिर जाते है। जैसे किसी ने मोटर में, ट्रक में या स्कूटर में पेट्रोल की टंकी को भर दिया पेट्रोल से, मानो उतने पेट्रोल से वह 40 मील तक जा सकती है। तैयार होकर तो चला मगर रास्ते में कोई 10 मील की दूरी पर ही किसी पेड़ से टक्कर लग गई, पेट्रोल की टंकी फट गई और सारा पेट्रोल वही बह गया, बस गाड़ी वहीं रुक गई। तो ऐसे ही आयु के निषेक 100 वर्ष के थे मगर 40 वर्ष की उम्र में ऐसे साधन मिल गए कि जिससे 60 वर्ष के निषेक खिर गए, इसका नाम है अकालमृत्यु। अब कोई यों देखे कि अकालमृत्यु भी हो तो भी अवधिज्ञानी ने तो ऐसा देख लिया है ठीक है। अकालमृत्यु इस ढंग से हुई सो जान गया है ज्ञानी। तो जानने की ओर से तो हम कहेंगे कि भाई अब जान गए, जिस समय जो बात बतायी गई सो हुई। किन्तु जब जान लिया गया सो वही तो होगा, होता है। यह बात ज्ञप्ति की दृष्टि से ठीक ही है। निष्पत्ति की दृष्टि से देखेंगे तो यह ढंग बना, इस इस तरह निषेक था, यों यों बाह्यसाधन बने, वहाँ खिरे हैं बाकी 60 वर्ष के निषेक, यह अकाल मरण है। ज्ञानी के ज्ञान में आ गया सो उस दृष्टि से जिस समय मरण था उसी समय हुआ। प्रत्येक तत्त्व के जितने भी उपदेश हैं उन सबमें यथार्थता है। अगर नहीं होता है अकालमरण तो फिर अकालमरण शब्द कहा ही क्यों गया? जो

नहीं है वह कोश में शब्द कैसे आ सकता? तो वहाँ एक जो अकालमृत्यु हुई है तो वहाँ भी आयु का उपयोग हुआ। यह बात बताने के लिए यहाँ यह प्रसंग कह रहे, अगर अपने काल पर प्रति समय के एक-एक निषेक खिर-खिरकर आयु दूर हुई तो वह भी उपयोग से दूर हुई, इसी अकालमृत्यु में चाहे अकालमरण भी हो वे सब आयुकर्म के प्रदेश उपयोग से क्षीण होते हैं और हुआ करते हैं। इसमें दूसरे जीव क्या करें?

1333- बहिरंगसाधनों में अन्य के प्रति अकर्तृत्व व निमित्तित्त्वाभाव-

देखिये- बाह्य साधन तो बन रहे हैं इसके अन्य पदार्थ, मगर साक्षात् निमित्त की बात कही जा रही, और उस निमित्त-नैमित्तिक में भी अगर उपादान-उपादेय के कर्तृत्व की जैसी बुद्धि लादे तो वहाँ वह भी अध्यवसान किए हुए हैं। जैसे यह ज्ञान हुआ कि कर्म ने ही विकार पैदा किये। यह जीव विकाररूप नहीं परिणम रहा, नहीं परिणमना चाहिये था, नहीं परिणम रहा है। यह तो कर्म ही विकाररूप कर रहा है, ऐसी जहाँ दृष्टि हुई वहाँ कर्तृत्वबुद्धि आ गई। निमित्त-नैमित्तिक योग का इतना ही अर्थ है कि अनुकूल निमित्त के सन्निधान में उपादान ने अपनी परिणति की है। वह सान्निध्य न हो तो ऐसी स्थिति में उपादान अपनी परिणति नहीं करता। अब यहाँ कोई ज्ञानदृष्टि से यह कहे कि कैसे नहीं? जब प्रभु ने देखा तब होता है। कैसे न होगा निमित्त। कैसे न होगी बात? तो यह बात एक ज्ञानी द्वारा ज्ञान होने की नियत व्यवस्था है। निमित्तनैमित्तिक योग में भी एक नियत व्यवस्था है। वह युक्तिगम्य है कि अगर ऐसा नहीं है तो ऐसा हो नहीं सकता। जैसे कि अग्नि नहीं है तो धूम हो नहीं सकता, अग्नि का ताप न मिले तो रोटी आदिक नहीं सिक सकती। यह युक्तियों से व्यवस्था बनती है। और उस आधार पर यह नियत निमित्त-नैमित्तिक योग व्यवस्था है। मरण-जीवन आदिक में है तो निमित्त- नैमित्तिक योग की व्यवस्था, लेकिन अज्ञानी जीव मानता है कि मैंने किया। क्या यह अज्ञान नहीं है?

1334- सर्व संसारियों की सुख-दु:ख आदि की कर्मविपाकप्रभवता-

इस कलश में यह कह रहे हैं कि सभी जीवों का सदाकाल ऐसा ही नियत है कि अपने-अपने कर्मोदय से ही मरण, जीवन, दु:ख और सुख होते हैं। यह बात तो यथार्थ है मगर अज्ञान वह है जो ऐसी मान्यता है कि दूसरा पुरुष दूसरे पुरुष का मरण, जीवन, दु:ख, सुख करता है ऐसी जो मान्यता पड़ी है अज्ञान की याने आश्रयभूत कारण को कर्ता मान लेने की, निमित्त मान लेने की वह अध्यवसान है और संसारबन्ध का हेतु है। बाह्यसाधनों को कर्ता मान लेना यह भी अज्ञान है और निमित्त को उपादान भाव से कर्ता मान लेना, यह भी अज्ञान है, क्योंकि बाह्यसाधन निमित्त नहीं होता, आश्रयभूत है और निमित्त अपनी परिणति से उपादान को नहीं परिणमाता।

1335- अचेतनविकार में उपादान-निमित्त का प्रसंग व बुद्धिपूर्वक चेतनविकार में उपादान निमित्त व आश्रयभूत साधन का प्रसंग-

इस प्रसंग में एक बात और जानें कि जहाँ अचेतन के विकार बढ़ने का प्रसंग है वहाँ दो ही कारण चलते- निमित्त कारण और उपादान कारण। वायु का वेग हुआ, पत्ता उड़ा, वायु का प्रसंग हुआ, लहर उठी, ये दो ही कारण बने- निमित्त कारण, उपादान कारण, मगर जीव का जो कार्य है विकाररूप उन विकाररूप कार्य में तीन कारण बने, (1) उपदान, (2) निमित्त और (3) आश्रयभूत। जो बुद्धिपूर्वक विकार है जैसे कि किसी मनुष्य को किसी नौकर आदिक को देखकर गुस्सा आ गई तो उसको गुस्सा में निमित्त कारण है क्रोध प्रकृति का उदय, और आश्रयभूत कारण है उस नौकर आदिक का दिखना। उसकी कुछ व्यापाररूप परिणति का दिखना। तो आश्रयभूत कारण का गुस्सा के साथ निमित्त- नैमित्तिक योग नहीं है। वहाँ तो इस मनुष्य ने उस आश्रयभूत वस्तु के परिणमने में अपना उपयोग दिया, वहाँ उपयोग जोड़ा, कल्पनायें उठायी। इस तरह से ही तो वे बाह्य कारण बने। मगर क्रोध प्रकृति का उदय हम जानें तो, न जानें तो, हो रहा है उदय। तो उस प्रकार का प्रतिफलन हो रहा है। उसके साथ विकार का निमित्त-नैमित्तिक योग है, बाह्यसाधन का जीवविकार के साथ निमित्त-नैमित्तिक योग नहीं है।

1336- अज्ञानी जनों का मिथ्याध्यवसाय-

ये अज्ञानीजन जीवविकार कार्यों के लिए इन बाहरी पदार्थों को कारण समझते हैं। जैसे मैंने इसे मारा और मैं इसके द्वारा मारा गया, मुझे इसने मारा। इन दोनों मान्यताओं में ही अध्यवसाय है, कर्मराग है, उस क्रिया में लगाव है ऐसी मान्यता होने से वहाँ बंध का हेतु बन जाता है याने संसार-परम्परा बढ़े, ऐसा कर्मबन्ध का कारण बन जाता है, हाँ जैसे मरण की बात में कोई लगाये- मैं मारने वाला, ऐसे ही जीवन की बात में भी लगाया जिलाने वाला, दु:ख की बात में लगाया दु:खी करने वाला। मैं दु:खी करने वाला, मैंने इसे दु:ख दिया, यह भी एक अध्यवसाय है क्योंकि जिनेन्द्रदेव ने बताया है कि कर्मोदय से ही इस जीव को दु:ख-सुख होते, मायने उस-उस प्रकार के कर्मोदय का सन्निधान पाकर जीव में ऐसी-ऐसी बुद्धियाँ, विकल्पजाल और दु:ख होते हैं। तो यहाँ जो कोई पुरुष ऐसा माने कि मैं इसे दु:खी कर दूँगा, दु:खी कर सकता हूँ, दु:खी किया है वह सब एक अध्यवसाय है, क्योंकि असाता का उदय न हो, उस प्रकार के मोह का उदय न हो और कोई जीव दु:खी कर दे, ऐसा कोई कर सकता है क्या?

1337- मिथ्याध्यवसाय का एक दृष्टान्त-

धवलसेठ ने श्रीपाल को बड़े भारी विकट समुद्र में गिरा दिया, समुद्र के बीच की जगह थी। सेठ ने सोचा था कि यह श्रीपाल मर जायगा और उसकी स्त्री हमें मिल जायगी। इस दुर्भावना से तो गिराया था। हुआ क्या कि श्रीपाल की आयु का उदय था और असाता का समय थोड़ा जितना भी रहा, न रहा, तिरकर निकला। समुद्र के किनारे पर आया, वहीं वह सोया हुआ था। वहाँ एक राजा आया जिसकी यह प्रतिज्ञा थी कि जो इस समुद्र को पार करके आयगा उसके साथ हमारी लड़की का विवाह होगा। आखिर उस राजा को श्रीपाल दिख गए, अपनी कन्या का विवाह किया, आधा राज्य दिया। जब धवलसेठ ने श्रीपाल को उस स्थिति

में देखा तो फिर उसका अनर्थ करना विचारा। क्या अन्याय किया कि कुछ मित्रों को भाँड का रूपक दे दिया और यह समझा दिया कि तुम सब राजा के सामने ऐसा प्रदर्शन करके दिखा दो जिससे कि राजा जान जाय कि यह भाँड का पुत्र है। सो वैसा ही रूपक करके दिखाया गया, जैसे अरे बेटा ! तुम यहाँ से चलो अपने घर, अरे भैया ! अरे फूफा ! अरे दद्दा ! चलो अपने घर। वहाँ राजा को भी यह समझ आ गई कि सचमुच यह भाँडपुत्र है, सो क्रोध में आकर श्रीपाल को फाँसी का हुक्म भी दे दिया। अच्छा इतने पर भी आगे क्या हाल होता है, घटना सही आती है उसकी रक्षा होती है, फाँसी छूट जाती है। राजा समझ लेता कि यह तो क्षत्रियपुत्र है। मैनासुन्दरी श्रीपाल को मिल जाती है और, और भी अनेक प्रकरण बने। तो कोई कितना ही किसी पर उपद्रव डाले, मगर उसके ही पापकर्म का उदय नहीं है तो उसे कोई संकट दे सकता क्या? नहीं दे सकता, फिर भी यह भाव रखना कि मैं इस पर ऐसा संकट डाल दूँ, अरे !यह अध्यवसाय का परिणाम, यह भीतरी परिणाम, यह आत्मा के दर्शन में बाधक है।

1338- कर्मराग की मिथ्याध्यवसायरूपता का समर्थन-

संसारी जीवों को सुख-दु:ख आदिक उन उनके कर्मोदय का निमित्त पाकर हुआ करते हैं। कोई जीव किसी दूसरे को सुख-दु:ख देने में समर्थ नहीं है। हाँ उदय ही ऐसा खोटा हो तो उसमें दूसरा बाह्यसाधन बन जाता है। तो वहाँ कर्मराग नहीं रखना- मैंने यह किया, दूसरे पदार्थ का मैं कुछ कर देता हूँ इस प्रकार का कर्मराग यह संसार परम्परा बढ़ाने वाला बन्ध का हेतुभूत है, सही-सही जानें। हाँ, अच्छा ये कर्म मिथ्या क्यों हैं, कर्मराग मिथ्या क्यों हैं? ऐसा सोचना कि मैं दूसरे को मारता हूँ, दु:खी करता हूँ, यह मिथ्या यों है कि इसकी ओर से देखें तो इसका तो वह भाव कर्मरूप है, इस कारण वे बन्ध के कारण हैं। और, मिथ्या वे यों हैं कि बात ऐसी है नहीं। एक जीव का दूसरे जीव के किसी कार्य के साथ कर्तृत्व नहीं, निमित्त-नैमित्तिक योग भी नहीं है, किन्तु कर्मदशा का ही जीवभाव के साथ निमित्त-नैमित्तिक योग है। निमित्त-नैमित्तिक योग एक तरफ से ही तो नहीं है। जब यह जीव अपने विशुद्ध परिणाम में होता तो वहाँ कर्म में भी बड़ी खलबली चलती है। वहाँ कर्म कैसे झड़े, कैसे निर्जरण होता, क्या होता, वहाँ भी उनमें उनकी ही परिणति से स्वयं हो रहा है, मगर जीव के विशुद्ध परिणाम के सान्निध्य से हो रहा, ऐसे ही जब कर्म की कोई दशा है तो उस दशा का सान्निध्य पाकर जीव में विकार होता। होता है तो हो मगर यह दूसरा जीव उसमें अपनी टाँग अड़ाता है- मैंने कर दिया यह...तो ये सब अध्यवसाय मिथ्या हैं क्योंकि ये अध्यवसाय अज्ञान से पैदा होते हैं। उसने वस्तु के स्वातंत्र्य को नहीं जाना है, इसका सब कुछ इसके साथ है, अपनी ही परिणति से अपना परिणमन कर रहा है। मैं इसका कुछ नहीं करता, यह तथ्य उसके चित्त से हट गया और अपने को कर्ता मान लिया, इस कारण से वह दु:खी होता है।

1339- कष्टरूप अज्ञानमयभाव को दूर हटाने का संदेश-

अज्ञान स्वयं कष्टमय भाव है। जहाँ अज्ञान है वहाँ सहज आह्लाद हो ही नहीं सकता। वह स्वयं कहाँ पड़ा हुआ हैं। और, संसार-परम्परा में वह बढ़ रहा है। इस छंद में यह बतला रहे हैं कि जीव के जो-जो भी मरण, जीवन, दु:ख, सुख होते हैं वे सदा ही ऐसे ही नियत हैं कि वे अपने-अपने ही कर्मोदय के निमित्त पाकर होते हैं। इस प्रसंग में यह अज्ञान है कि ऐसी कोई मान्यता करे कि दूसरा आदमी दूसरे का जीवन, मरण, दु:ख और सुख को करता है। तो यह अध्यवसान हटाना है। मैं अपने परिणाम को ही करता हूँ, मैं दूसरे जीव का कुछ काम नहीं करता, यह तथ्य समझना होगा। और कोई बाह्य पदार्थ का लक्ष्य रखकर लक्ष्य बना हो तो यह उसके दु:ख के लिए है, और में अपने आपमें अपना ही एक आश्रय रखता हुआ लक्ष्य करके अपने में अपने परिणाम बनाता हूँ तो वह मेरी प्रगति के लिए है। बस यह ही तो निर्णय रखना है। ऐसा निर्णय रख करके हम आप इस भाव को छोड़ दें कि मैं दूसरे जीवों को सुख-दु:ख दिया करता हूँ, मैं सर्वत्र अपने परिणामों को करता हूँ और उस करतूत के अनुसार ही मैं अपने फल को भोगता रहता हूँ।

कलश 169

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यन्ति ये मरणजीवितदु:खसौख्यम् ।
कर्माण्यहङ्कृतिरसेन चिकिर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥169॥

1340- सर्वत्र आयुकर्म की स्वोपभोग से क्षीयमाणता-

अज्ञानी जीव दूसरे पदार्थों के प्रति, दूसरे जीवों के प्रति कुछ करने का अहंकार रख रहे हैं। मैं इनको यों करूँगा, सुधार दूँगा, बिगाड़ दूँगा, मार दूँगा, जियाऊँगा, दु:खी करूँगा, यह सब है कर्मराग, कर्म में अहंकार। यह भाव मिथ्या है, स्वार्थक्रियाकारी नहीं है। विकल्प में जो बात सोची वैसा इसका विकल्प करने से हो जाय ऐसा नहीं है, तब फिर वह सार्थक नहीं। पहले बतलाया था- मरण का अध्यवसाय। मैं इन-इन जीवों की हिंसा करता हूँ, मारता हूँ, यह अध्यवसाय मिथ्या क्योंकि मरना दूसरे के हाथ की बात नहीं है किन्तु आयु के क्षय के निमित्त से होने वाली बात है। देखिये, प्रसंग में प्रयोजनभूत जितनी बातें होती हैं उन पर तो ज्यादह मनन करना चाहिए और उससे लगी हुई और भी बातें होती हैं जो विशेष प्रयोजनभूत नहीं है वह विशेष चर्चा में ऐसा न होना चाहिए कि जिसकी कुछ उलझन बने। यहाँ मूल में यह बात कही जा रही है कि आयु का क्षय दूसरा कर नहीं सकता और मरण आयु के क्षय से होता है इस कारण यह अध्यवसाय मिथ्या है कि मैं

इसको मारता हूँ। अब एक बात दूसरी है कि आयु का क्षय दो पद्धतियों से होता है- एक तो पूरी स्थिति पाकर, दूसरा स्थितिपूर्वनिर्जरण से, जिसको अकालमृत्यु कहते हैं। उसका दूसरा नाम यह रखें तो करणानुयोग की बात जल्दी समझ में आयगी- स्थितिपूर्वनिर्जरण। जिसकी जो स्थिति बंधी है उससे पहले उसका खिर जाना स्थितिपूर्वनिर्जरण है। स्थितिपूर्वनिर्जरण मात्र आयु कर्म में ही हो, ऐसा नहीं, किन्तु प्राय: सभी कर्मों में स्थितिपूर्वनिर्जरण होता है। 148 प्रकार की कर्मप्रकृतियाँ हैं, सभी में प्राय: स्थितिपूर्वनिर्जरण है याने बँधी हुई स्थिति से पहले निर्जरा हो जाना। करणानुयोग में बड़ी स्पष्टता से बताया है और ऐसा चारित्रमोह में होता है उसका तो बड़ा आदर करते। निर्जरातत्त्व में उसकी महिमा बताई है।

1341- स्थितिपूर्वनिर्जरण की उपयोगिता-

यदि स्थितिपूर्वनिर्जरण न हो तो बताओ, सम्यग्दर्शन हुए बाद कितने कर्म रहते हैं? कुछ कम एक कोड़ा कोड़ी सागर। सम्यक्त्व हो गया जिस जीव को फिर भी उसके पास कितना स्थितिसत्त्व है कुछ कम एक कोड़ा कोड़ी सागर। कितना होता एक कोड़ा कोड़ी सागर? तो उसको पहले पल्य से लीजिए। मान लो, उपमा प्रभाव से बता रहे हैं। ऐसा कोई कर सकता नहीं, किन्तु उपमा से जाने। कोई 2 हजार कोश का लम्बा चौड़ा गहरा गड्ढा हो, उसमें मेंढ़े के बच्चे के कोमल बालों के इतने इतने छोटे टुकड़े भर दिये जायें कि जिनका दूसरा हिस्सा न हो सके, साथ ही उस पर हाथी फिराकर खूब ठसाठस कर दिया जाय। अब प्रत्येक सौ वर्ष में उसमें से एक-एक टुकड़ा निकाला जाय। अब उन सारे टुकड़ों के निकलने में जितना समय लगे उतने वर्षों का नाम तो है व्यवहारपल्य, उससे अनगिनते गुणे वर्ष लगे इसका नाम है उद्धारपल्य और उससे अनगिनते वर्ष लगे उसका नाम है अद्धापल्य। एक करोड़ अद्धापल्य में एक करोड़ अद्धापल्य का गुणा करने से जो काल आवे उसका नाम है एक कोड़ा कोड़ी अद्धापल्य। ऐसे 10 कोड़ा कोड़ी अद्धापल्य का एक सागर, और एक करोड़ सागर में एक करोड़ सागर का गुणा करें तो उसे कहते हैं एक कोड़ा कोड़ी सागर। कुछ कम एक कोड़ा कोड़ी सागर रहते हैं सम्यक्त्व के होने पर भी, मगर पूरी स्थिति पाकर वे कर्म झड़ें तो उसका भला हो गया? कितने दिन तक यह सम्यग्दृष्टि संसार में रहेगा? और देखा तो यह जाता कि कोई घंटे भर में मोक्ष चला जाता, कोई और ज्यादह काल में सम्यक्त्व हो जाने के बाद। उन सबके स्थितिपूर्वनिर्जरण चलता ही है। तभी तो गुणश्रेणी निर्जरा आदि होते हैं। तो सबमें स्थितिपूर्वनिर्जरा ही होती है, तो आयुकर्म में भी स्थितिपूर्वनिर्जरण चलता है, केवल देव, नारकी, भोगभूमिज तिर्यञ्च और...चरमशरीरी इनको छोड़कर शेष जीवों की आयुकर्म की स्थितिपूर्वनिर्जरा चल सकती है।

1342- आयुकर्म के स्थितिपूर्वनिर्जरण का दिग्दर्शन-

जैसे आयुकर्म की स्थिति 100 वर्ष की है तो उसके मायने है कि 100 वर्ष में जितने समय हैं उतने निषेक बंध गए। एक-एक समय में एक-एक निषेक खिरते, 40 वर्ष के समय में अगर आगामी 60 वर्ष के निषेक खिर जाते हैं तो यहाँ यह जानना प्रकृत में कि वहाँ 60 वर्ष के बाकी जो निषेक हैं वे भी अन्तर्मुहूर्त

में उपभोग द्वारा क्षीयमाण हो गए। जैसे पूरी स्थिति में उपभोग क्षीयमाण हुआ ऐसे ही बाकी 60 वर्ष के निषेक जो 40 वर्ष में उपभोग द्वारा क्षीयमाण हुए। ऐसा समझना कि निषेक की ओर से तो अकाल मरण रहा और, अब ज्ञप्ति की ओर दृष्टि चलती है तो कैसा हो रहा? प्रभु ने जो जाना, विशिष्ट ज्ञानी ने जाना। जिस समय हुआ उस समय मरण हुआ, जब होना जाना गया तब ही मरण हुआ। यद्यपि जाना गया तब ही, जब इस तरह हुआ तब ही तो जाना गया, किन्तु जानने की ओर से देखो तो यह समझ में आयगा कि समय पर हुआ सब, जिस समय का होना जाना उस समय हुआ ऐसा। और करणानुयोग की विधि से देखें तो उसका नाम है स्थितिपूर्वनिर्जरण। दोनों बात में दृष्टियाँ दो हैं, दोनों समझों में विरोध नहीं। वहाँ से देखो तो यों विदित हुआ, यहाँ से देखो तो यों विदित हुआ। ऐसी एक बार की घटना है। हम अपने विद्यार्थी जीवन में उस समय रत्नकरण्डश्रावकाचार पढ़ते थे, करीब 9-10 वर्ष के थे। 17 वर्ष की उम्र में राजवार्तिक, 16 में पंचास्तिकाय, 15 में कर्मकांड, 14 वर्ष की आयु में जीवकांड, 13 में सर्वार्थसिद्धि, 12 वर्षायु में सागारधर्मामृत, 11 वर्षायु में द्रव्यसंग्रहजैनसिद्धान्तप्रवेशिका, 10 वर्षायु में मोक्षशास्त्र, हाँ 9 वर्षायु में रत्नकरण्डश्रावकाचार पढ़ा करते थे सागर विद्यालय में। वहाँ सुबह व विद्यालय समाप्ति बाद शहर से बाहर निपटने जाया करते थे। एक दिन ऐसा मन में आया कि कहते हैं जो भगवान ने जाना सो होता है। उस समय हम रोज धर्मासी जाते थे। अचानक मन में आया कि आज तो हम वेदान्ती के रास्ते से जायेंगे, रास्ता हमने पकड़ा, फिर सोचा कि भगवान ने अगर यह ही जाना हो तो फिर हम वेदान्ती की ओर क्यों जायें? हम तो धर्मासी जायेंगे, सो रास्ता बदल कर फिर लौट गये, फिर सोचा कि अगर ऐसा ही जाना हो तो हम वेदान्ती की गली से क्यों न जायें? यों दो तीन बार अदल-बदल किया, और बाद में जहाँ जाना था सो चले गये। अब चले तो गये मगर थोड़ी देर बाद मन में विकल्प आया कि ओह ! भगवान ने यही जाना था कि यह दो तीन बार बदलेगा। अब देखो काम तो हुआ वह करने से, अन्य के ज्ञान से नहीं हुआ, वह तो मैंने ही किया, मैंने ही विकल्प किया। यहाँ गये, वहाँ गये, हो तो रहा, करने से काम मगर करते हुये जब आगे करेंगे तो वह ही ज्ञात हो गया।

1343- निमित्तनैमित्तिक योग की प्रतिनियत व्यवस्था में होते हुए का विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा ज्ञान हो जाने की दृष्टि में कार्य के निश्चित समय का बोध-

कोई-कोई लोग कहते हैं कि सर्वज्ञ को क्या पता? वे जानते कि नहीं, और जानते हैं तो और ढंग से। अच्छा सर्वज्ञ को छोड़ो। अवधिज्ञानी तो जानते, सर्वावधि तो जानते। जानना तो निश्चित हो गया। होने वाली बात को कोई जान तो लेता है। अब जानने की ओर से देखो तो यह बात आती कि ''जो-जो देखी वीतराग ने सो-सो हो सी वीरारे'', मगर निष्पत्ति की ओर से देखें तो निमित्तनैमित्तिक योग और यह विधान, यह यथावत नियत है। तब ही तो लिखा है कि कर्मोदय से मरण जीवन आदिक होते हैं, यह नियत योग है याने ऐसा होता है। सब जानते हैं कि आग का निमित्त पाकर रोटी सिकती है, सब जानते है वह नियत निमित्त-

नैमित्तिक व्यवस्था है, मगर सोचना वहाँ यह है कि रोटी में ही रोटी का ही काम हुआ, महिला ने रोटी बेली, रोटी बना दी, सब लोग जानते हैं कि ऐसे-ऐसे व्यापार का सन्निधान पाकर अगली-अगली दशायें बनती हैं। सब जानते हैं, मगर महिला का काम महिला के हाथ में ही रहा, रोटी का परिणमन उस आटे में ही चला। तो स्वयं में भी यह ही निरखना है, निमित्त-नैमित्तिक योग में मेरी प्रत्येक दशा अपने आपकी परिणति से परिणमती, अन्य की परिणति से नहीं परिणमती, किन्तु विकार

-परिणाम अनुकूल वातावरण के अभाव में न हो सके, निमित्त-सन्निधान के अभाव में न हो सके, इतनी बात तो विकार के लिए है, मगर वहाँ निरखें यह कि प्रत्येक द्रव्य अपने में अपनी ही क्रिया से परिणमा। रंच भी विरोध नहीं है किसी जगह में निमित्त- नैमित्तिकभाव का और वस्तु-स्वातन्त्र्य का।

1344- अज्ञानवश हुये कर्मराग की व्यग्रता-

प्रकरण में यह बताया जा रहा कि यह जीव अज्ञान से इस क्रिया में लिपट गया, कर्म में राग कर बैठा और यह भूल गया कि मेरा काम तो जाननमात्र का है, इसके आगे मेरा काम नहीं, यह औपाधिक योग है, हुआ है ऐसा, उसका हमें ज्ञाता रहना चाहिए, यों बन गया, परन्तु मैं इन सबका करने वाला नहीं हूँ। स्वतंत्र: कर्ता मैं स्वयं ही निरपेक्षरूप से कर सकूँ विकार, ऐसी बात नहीं, मैं स्वयं जानने का काम करता हूँ। किन्तु अज्ञान को पाकर जीव दूसरे से दूसरे का मरण –जीवन, दु:ख-सुख निरखता है और यह मिथ्यादृष्टि जीव, अहंकाररस से, मैं करने वाला हूँ ऐसा मानता है। देखो घर-घर में जो लड़ाई चलती है वह किस बात की है? सब कर्मराग की लड़ाई चलती है। कर्मराग केवल शरीर की क्रिया के प्रति नहीं, बल्कि विचार के प्रति। मेरा विचार, मेरा ज्ञान, मेरी बुद्धि, मेरा काम, कैसा मैं मेरा मेरा यह जीव लगा रहा है, तो क्या कर रहा वह जीव? दूसरे का तो करेगा क्या? वह अपने आपका हनन कर रहा है। जब अज्ञान बसा हुआ है, बाहरी प्रवृत्तियों में उपयोग फँसा हुआ है, बाहरी पदार्थों में उपयोग जमा हुआ है, वैसा ही भाव है तो अन्त: जो चैतन्यस्वरूप है, प्राण है, उसकी इसको सुध ही कहाँ है? हालांकि यह चेतन से अलग नहीं होता, लेकिन उपयोग में तो अलग बन बैठा। यहाँ किसी के हाथ की मुट्ठी में अंगूठी रखी हो और अचानक ही उसका ख्याल न रहा तो वह उसकी तलाश यत्र-तत्र करता फिरता, कहाँ गई? क्या हुई? देखो है खुद की मुट्ठी में ही, पर ज्ञान में तो नहीं है। ज्ञान में नहीं है, उसका फल मिल रहा। हर एक बात का फल ज्ञान में है या नहीं, इसके प्रभाव में चला करता है, तो अज्ञानी जीव स्वयं चैतन्यस्वरूप तो है मगर उसको सुध नहीं है अपने आपकी। जो वह अजीव, जड़ बनाता फिर रहा है उपयोग द्वारा, वस्तुत: वह बन नहीं सकता जड़। तो अब अपने आपकी सुध नहीं है तो यह बाहर-बाहर में काम करता है। जब आत्मा में सन्तोष नहीं है तो बाहर के पदार्थों में रमकर संतोष पाने की कोशिश करता है। होता नहीं है संतोष बाहर, वास्तविक सन्तोष तो आत्मा में ही होता है। मगर आत्म सन्तोष तो मिला ही नहीं, सो बाहर ही बाहर यह भटकता फिरता है

बंधाधिकार में यह बात बतलायी जा रही है कि बाहरी बातों में बंध नहीं, किन्तु कर्मराग से बंध है। यह ही प्रकरण प्रारम्भ में था उसी के समर्थन में यह प्रकरण चल रहा है।

1345- अध्यवसाय दूर करने की प्रकरण से शिक्षा-

यहाँ शिक्षा यह लेना कि भाई कर्मराग क्यों करता? मैं इसको दु:खी कर दूँ, ऐसा भाव होने से क्या वह दु:खी होता। उसका ही कर्मोदय हो उस अनुकूल तो वह दु:खी होगा, पर उसके विकल्प से न होगा, इसलिए यह विकल्प, यह अध्यवसाय स्वार्थक्रियाकारी नहीं। आश्रयभूत निमित्त की बात कही जा रही है कि आश्रय कर-करके अहंकार किया जा रहा है वह बात मिथ्या है, निमित्त-नैमित्तिक योग की बात यहाँ नहीं है, कि वह मिथ्या है, वह तो एक नियत शब्द में बोला। 'सर्वं सदैव नियतं'। यहाँ तो अहंकाररस छुटाना है कि किसी भी क्रिया में अहंकार न रखें तो इस प्रकार से समझाया गया है कि तेरे सोचने से कुछ होता नहीं, तू अध्यवसाय क्यों कर रहा है? तो यह जीव अहंकाररस से कर्मों को करने की इच्छा करते हुए वह निरन्तर क्या कर रहा है? वह अपने आपका हनन कर रहा है, आत्महत्या कर रहा है। आत्महत्या क्या है? लोग तो प्राण चले जाने को आत्महत्या बोल देते, पर वह आत्महत्या नहीं, वह तो भवहत्या है। आत्महत्या तो यह है कि जो अपनी सुध नहीं है और बाहर में हत्या का अहंकार बना हुआ है, बाहरी तत्त्व में मैं यह हूँ, इस प्रकार की आस्था बनी है और अपने स्वभाव की सुध नहीं कि मैं अपने स्वरूप मात्र हूँ। बस स्व में ही परिणमन उठते रहते हैं। इनकी ही तरंग चलती रहती है। यह तरंग विकाररूप हो तो निमित्त-सान्निध्य में होगी, एक वातावरण में होगी तो भी इसकी तरंग करने वाला कोई दूसरा नहीं है। स्वयं अपने आपमें से अपनी तरंग उठाता हुआ यह अपनी कालयात्रा कर रहा है। ऐसे ही प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने में अपनी यात्रा करते हुये चले जा रहे हैं।

कलश 170

मिथ्यादृष्टे: स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥170॥

1346- कर्मराग की संसारबंधहेतुता-

कर्मराग सम्बन्धी अध्यवसाय याने दूसरे जीव या दूसरे पदार्थ में जो कुछ करने का अभिप्राय बना वह अभिप्राय मिथ्यादृष्टि के ही होता है और वह बंध का कारण है। अगर कोई सभ्यता के कारण ऐसा भी कह दे कि भाई मैंने नहीं किया, मैं तो निमित्त मात्रा था और उसमें अभिप्राय करने का ही है और ऐसा सोचें कि ऐसा कहने से जरा सभ्यता प्रकट होती है तो भी वहाँ अज्ञानमय अध्यवसाय है और वह अज्ञानी के होता है,

ऐसा अनेक बार होता है। किसी ने कोई मन्दिर बनवाया, पाठशाला खुलवाई, कुछ बनवाया तो जब प्रशंसा करने बैठते हैं तो यह खड़ा होकर कहता है कि भाई मैंने कुछ नहीं किया, आप लोगों का सब हाथ है, मैं तो एक निमित्त मात्र हो गया, और अन्दर में हो कर्मराग, मौज, कर्तृत्वबुद्धि तो वहाँ एक डबल अध्यवसाय याने भीतर पर पदार्थ के प्रति करने का भाव तो था ही, मगर एक यह कि इस तरह कहने से हमारी सज्जनता प्रकट होगी, यह एक और अध्यवसाय हो गया। सारी चीज अभिप्राय से चलती है। जहाँ कर्मराग है, क्रिया में आत्मबुद्धि है, परतत्त्व में आत्मबुद्धि है वहाँ इस जीव को बंध होता है, संसार बंध। बंध तो कुछ पद तक सम्यग्दृष्टि के भी चलता, मगर वह संसार बंध नहीं चलता, कुछ पद तक उपभोगनिमित्तक चलता है। 10 वें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक चलता है, किन्तु संसार वाला बंध ज्ञानी के नहीं होता।

1347- अध्यवसायों की अज्ञानात्मकता व निष्फलता-

यह अध्यवसाय अज्ञानात्मक है, और निष्फल है? जैसा सोचते वैसा है नहीं, इस कारण से तो अज्ञानरूप है और जैसा सोचते वैसा काम बनता नहीं इसलिए निष्फल है। स्वयंभूरमण समुद्र में महामत्स्य होता है बड़ी अवगाहना का। एक हजार योजन लम्बा, 500 योजन चौडा, 250 योजन मोटा एक महामत्स्य है। चार कोश का एक योजन होता है, कुछ लोग सोच सकते हैं कि क्या कोई इतने बड़े भी जीव होते हैं, चार हजार कोश के लम्बे? तो भाई यहाँ पर भी तो हम आपको एक-एक फर्लांग तक की मछलियाँ देखने को अथवा सुनने को मिलती। इस समय भी हैं बड़े-बड़े तालाबों में, नदियों में अथवा समुद्रों में बड़ी-बड़ी मछलियाँ, छोटे तालाबों में छोटी मछलियाँ। बड़े तालाबों में बड़ी मछलियाँ, समुद्रों में उससे भी बड़ी मछलियाँ इस तरह देखने, सुनने को मिलती हैं। अब कोई सीमा बताओ कि बड़ी-बड़ी होकर कितनी बड़ी मछलियाँ हो सकती? कोई सीमा लगा सकता क्या? स्वयं-भूरमण समुद्र एक इतना बड़ा समुद्र है कि जिसके अन्दर असंख्याते द्वीप और समुद्र भी पूरा नहीं कर सकते। जैसे एक तौलने के बाँटों में सेर को ले लो, वह कितना बड़ा है कि उससे आधा है आधा सेर, उससे आधा है एक पाव, उससे आधा है आधा पाव, उससे आधी है एक छटाक, उससे आधा आधी छटाकी। इस तरह से लगाते जावो तो भी ये सब मिलकर सेर बराबर नहीं हो सकते, आधी छटाक की कमी रह ही जायगी। तो ऐसे ही जम्बू द्वीप है। एक लाख योजन के जम्बूद्वीप से दूना है समुद्र, उससे दूना द्वीप, उससे दूना समुद्रा इस तरह चलते-चलते असंख्याते द्वीप, समुद्र के बाद अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र है, तो उसका जितना विस्तार है वह सब विस्तार असंख्याते द्वीप समुद्र का भी नहीं, इतने बड़े जल की स्थिति में ये मत्स्य पाये जाते हैं। लोग यों सोचते कि हिन्द महासागर की बात होगी, तो यहाँ की बात नहीं है। और फिर कोई यह सोचे कि पैदा होंगे तो कितने, फिर बड़े होंगे तो कितने दिन में? यह हिसाब गर्भज जीवों में लगाया जाता। जो गर्भज होते, पेट से निकलते तो कितने और कितने दिन में बड़े होते? लेकिन वे मत्स्य हैं सम्मूर्च्छजन, याने ढेर पड़ा है, चीज पड़ी है तो वही जीव ने उस सारे ढेर को शरीररूप ग्रहण किया। वहाँ ही गठान हो गया। तो थोड़ देर में बड़े-बड़े शरीर देखने को मिलते हैं। तो ऐसा

वह स्वयंभूरमण समुद्र का महामत्स्य अपना मुख बाये पड़ा उसके कान या आँख के पास एक तंदुल मत्स्य रहता है। वह संज्ञी पञ्चेन्द्रिय है, वह विचार करता है कि देखो यह महामत्स्य कितना मूर्ख है। इसके मुख में हजारों मछलियाँ फिर रही हैं फिर भी यह उन्हें नहीं खाता। इसकी जगह पर यदि मैं होता तो एक भी मछली...। अब सोच लो इतने खोटे परिणाम के कारण उसको नरकगति का विकट बन्धन होता है।

1348- मनुष्यजीवन को निर्दोष-शान्त बनाने का अनुरोध-

इतनी बात तो हृदय में आनी चाहिए भैया !इस जिन्दगी का भरोसा क्या? मुश्किल से मनुष्य आयु पाई और सब कुछ श्रेष्ठ बातें पायी तो इस भव में अपनी वृत्ति ऐसी निर्दोष कषायरहित होनी चाहिए कि जितनी अपनी बुद्धि में, पुरुषार्थ में बने। कषाय न करना, द्वेष न रखना, विरोध न होना, सर्व जीवों में, सर्व साधर्मीजनों में एक-सा परिणाम रहे। पहले भी तो नाना प्रकार के मनुष्य होते थे, मगर धर्म के नाम पर दुविधा न हुआ करती थी। कोई ज्ञानी है, कोई कम ज्ञानी है। कोई कितना ही है, सब एक धारा में चलते थे। तो अपने को ही इतना एक संतोषी हृदय वाला बनाना चाहिए कि सब एक जैन सिद्धान्त के मानने वाले हैं, नाम जैन, स्थापना जैन, द्रव्य जैन, भाव जैन, किसी के भी प्रति विरोध की भावना न होना चाहिए। सर्व जीवों में उस स्वरूप को देखना है जिसमें समता-परिणाम जाग्रत होता हो। हम आपका रक्षक तो समता-परिणाम है। रागद्वेष न होना, साम्यभाव होना, अज्ञान न रहना, यह भाव हम आप लोगों की रक्षा करने वाला है। बाकी कुछ विचार करना कि मेरा अमुक मददगार, अमुक मददगार ऐसा बाहर में शरण ढूंढ़ा तो वह धोखा ही पायगा। दूसरा कोई जीव मेरा शरण नहीं है। भले ही कोई उपकार होता है तो मान लिया व्यवहार में किसी सीमा तक शरण, पर निश्चय में तो अपने आपमें दृष्टि दीजिए और मानें कि मैं ही अपना जिम्मेदार, मैं ही अपने लिए महान, मैं ही अपने लिए सर्व कुछ, कोई खोटा परिणाम न हो। दूसरे का बुरा चिन्तवन यह अपध्यान कहलाता है जो कि बहुत खोटा ध्यान है। किसी के बारे में कभी भी किसी प्रकार का खोटा भाव न होना चाहिये क्योंकि वह निष्फल है। खोंटा भाव करने से वहाँ वह बात बनती नहीं और आप स्वयं एक बंधन में आ गए, संसार-बध बन गया, तो उस भाव से क्या लेना? अपने को स्वरूपदृष्टि करना चाहिए और अपना व्यवहार ऐसा होना चाहिए हृदय से कि जिसमें कषाय न उत्पन्न हो। यह बात अपनी रक्षा के लिए है। जो अपने आपके हृदय को सही रखेगा उसकी रक्षा है। रक्षक खुद का खुद ही है। तो अपने आप पर दया करके ऐसा अपना प्रयत्न बनाना चाहिए कि जो दोषीक न हो।

1349- शुभ-अशुभ सभी कर्मों के राग की बन्धहेतुता-

यदि दूसरे जीवों के प्रति किसी प्रकार कुछ करने का राग किया, खोटा कर्मराग किया तो वह भी संसार-बंध का हेतु है और जैसे हम लोक में अच्छे काम करते हैं उन कर्मों का राग भी बंध का हेतु है, क्योंकि अज्ञानमूलक है ना ये बातें। जहाँ अज्ञान है वहाँ बंध है, अनेक लोग कभी-कभी ऐसा प्रश्न करने लगते कि यह बतलाओ कि जो जानता है वह पाप करे तो उनको अधिक पाप लगता या जो नहीं जानता है वह

पाप करे तो अधिक पाप लगता है? ऐसा प्रश्न एक साधारण रूप से प्राय: सभी के चित्त में उत्पन्न हो जाता। जैसे जिसे मालूम है कि पानी में कीटाणु होते हैं, वह यदि छानकर न पिये तो उसे पाप लगेगा और जिसे पता ही नहीं है इस बात का वह यदि बिना छाने ही पी ले तो उसे पाप क्यों लगेगा? इस बात की पुष्टि करने के लिए लोग अनेक उदाहरण दे-देकर बोला करते। तो इस बात को बड़ी सावधानी से समझो। देखो बात आप ऐसी भी पायेंगे और उल्टी भी पायेंगे। प्राय: करके जो नहीं जानता है उसको न जानने से महापाप चल रहा है। तब साथ में तो और पाप की गिनती ही क्या? एक उदाहरण लो। आग पड़ी है किसी के पीठ पीछे और एक पुरुष को ज्ञान है कि यह आग है उसे कोई धक्का दे या हाथ पकड़कर वहाँ से उसे जबरदस्ती चलाये तो वह आग पर धीरे से, जल्दी से पैर धरकर निकल जायगा, एक तो ऐसा मनुष्य और एक मनुष्य को कुछ पता ही नहीं है कि यहाँ हमारे पीठ पीछे आग है तो वह पैर को डटकर धरेगा जोर से, तो बताओ उन दोनों में से अधिक कौन जलेगा? अरे ! अधिक तो वही जलेगा जिसे कुछ पता नहीं है, उसके ज्ञान ही नहीं है। यही बात सब जगह लगाओ। किसी ज्ञानी को कर्मविपाकवश लगना पड़ता है बाह्य प्रसंगों में, उसको अंदर से उनके प्रति रुचि नहीं है, बल्कि ग्लानि है तो उससे उसे कम दोष लगता और जिसे उसका ज्ञान नहीं है वह तो आसक्त होकर उसमें लगता जिससे विकट पाप-बंध करता। तो वहाँ मूल बात का उत्तर यह रहा कि जो नहीं जानता वह पाप करे तो अधिक दोष लगता। जिसे भीतर में ज्ञानप्रकाश नहीं वह अभी अज्ञानी ही तो है। उसे तो अभी अज्ञानी ही समझें, मगर जिसे स्पष्ट ज्ञानप्रकाश है ऐसे पुरुष को विरक्त होना उसके साथ ही साथ है। किसी भी अंश में हो उसे कर्मविपाकवश किसी विषय में लगना पड़ रहा, उसके कम बन्ध है।

1350- ज्ञानी के सर्व जीवों में अविरोध रखने का साहस-

अज्ञानी के ये अभिप्राय बंध के हेतु हैं, क्योंकि उसका परिणाम विपरीत है। जैसे कभी कोई क्षमावाणी पर्व आता ना, जबकि लोग एक-दूसरे से क्षमा माँगते, गले मिलते। तो लोग वहाँ क्या करते कि जिनसे बड़ी मित्रता है उनसे तो खूब जोर से लिपटते और जिनसे कुछ विरोध है, कुछ अनबन है उनके सामने नहीं पड़ते, कहीं ये दिख जायें तो उनसे मुख फेर लेते। भला बताओ यह कोई क्षमावाणी है क्या? अरे ! सच्ची क्षमावाणी तो यह है कि जिनके प्रति विरोध हो उससे अपने किए हुए अपराध की क्षमा माँग लें, पर इतना साहस किसी का नहीं बन पाता, ऐसा साहस होना बड़ी कठिन बात है, उसके लिए परिणामों में बड़ी निर्मलता चाहिए। तो ऐसे ही जिसके प्रति भी कभी कोई खोटी बात विरोध या मन में द्वेष जगा हो, अगर अपने आपमें दया आयी है तो कुछ साहस बनाना होगा कि उससे नम्रता का व्यवहार करें, और उससे कहें कि मैंने आपके प्रति जो ऐसे-ऐसे अपराध किये, ऐसी-ऐसी दुर्भावनायें रखीं, आप मुझे क्षमा करें। ऐसा साहस तो ज्ञानी जन ही करते, अज्ञानी नहीं, क्योंकि अज्ञानी को पर्याय में आत्मबुद्धि है। वह जरा-जरासी बातों में अपमान महसूस करता...अरे ! इसमें मेरी शान न रही...और ज्ञानी जीव इन बाहरी बातों की शान की होली

कर देता है। वह बाहरी शान को, नामवरी को न कुछ चीज समझता है। तो जब ऐसी निर्दोष बुद्धि प्रकट होती है तो वहाँ कर्मराग मिटता है और एक सन्मार्ग प्राप्त होता है। कर्मराग मेटने के लिये भीतर में बड़ी सफाई करने की आवश्यकता है।

1351- प्रत्येक जीवों व पदार्थों का स्वतन्त्र स्वरूप जानने वाले की उदात्तता-

जो-जो भी बातें अध्यवसायव की बतायी गईं कि मैंने इसे दु:खी किया आदिक के उन सब मान्यताओं का, इस तरह का भाव करने वाला पुरुष सम्यग्दृष्टि नहीं है, क्योंकि ये सब अज्ञानमय भाव हैं। भैया, दूसरे जीवों का आदर करें मायने यह निरखें कि इस जीव को जो कुछ हो रहा है वह इसके परिणाम से हो रहा है। इसका करने वाला मैं नहीं। ऐसा सोचने में परजीव का आदर है। कैसे आदर हुआ कि मैंने उस परजीव को महत्त्व दिया, उसकी स्वतन्त्रता ज्ञात की, ये अपने काम के प्रभु हैं, स्वतन्त्र हैं, इसका मैं कुछ नहीं करता। ऐसा ज्ञानात्मक भाव हो वहाँ तो स्वभाव का, उस जीव का आदर बनाया इस ज्ञानी जीव ने। और जो यह जानता है कि मैं इसको कर दूँगा, उसकी दृष्टि में यह है कि यह तो तुच्छ है, इसमें तो कुछ बात ही नहीं है, सामर्थ्य ही नहीं है। जो कुछ मैं करूँगा सो होगा, ऐसी उस दूसरे जीव के प्रति जो भावना है उस भावना से तो उस दूसरे जीव का मानो एक अस्तित्व ही मिटा दिया, कुछ स्वातन्त्र्य ही नहीं, कुछ परमार्थ सत् ही नहीं। तो भाई ! दूसरे जीवों के प्रति खोटे भाव रखना यह तो बहुत ही बुरी बात है और उसमें कर्मरस जो बना वह विकट कर्मबन्ध करेगा। अच्छे कामों में भी कर्मराग न करना चाहिए। जैसे मैंने सुखी किया, मैंने इस पर दया की, मैंने अमुक विधान किया आदिक बातें, वहाँ भी कर्म के प्रति राग न रहे। वह भी राग संसार-बंध का हेतु है, फिर जो खोटी बातों में राग चले उसका कैसा खोटा फल है।

1352- शुद्ध विचार वालों में धर्म की पात्रता-

यदि धर्म करना चाहते हो तो पहले अपने हृदय को साफ बना लो। यहाँ दूसरे किसी जीव के प्रति कोई विरोध, द्वेष न रहे। पहले ऐसा हृदय बनायें तो वहाँ धर्म बनेगा, स्वानुभूति के लायक पात्रता बनेगी। इसलिए पहला काम है कि अपने मन को, उपयोग को, हृदय को स्वच्छ बनायें। स्वच्छ बनाने के मायने यह है कि सबका स्वतन्त्र सत्त्व पहिचानना और यह जानना कि मेरे द्वारा दूसरे की कोई परिणति बन नहीं सकती, फिर मैं क्यों दूसरे जीवों के प्रति अनिष्ट बात करूँ? अंतराय की बात, उसके विपरीत बात, उसके अपमान की बात या और कोई बात सोची जाय? ये सब अज्ञानभाव हैं। जहाँ यह अज्ञानमय भाव है, अध्यवसान है वहाँ संसार का बंधन है, नरक, निगोद, तिर्यञ्च जैसी कुगति का यहाँ बंध बन रहा है। क्या पड़ी है अपने को किसी दूसरे के बिगाड़ने की? अपने को सम्हालें, शुद्ध निर्दोष जानन बने, इसके भीतर आवो, अपने को उज्ज्वल कीजिये और इस तरह से जीवन व्यतीत करें, रहना कुछ नहीं है, साथ जाना कुछ नहीं है। एक अपने आपके परिणामों में विशुद्ध निर्मलता होगी तो आगे भी भला होगा, और अगर नहीं है तो बस समझ लो कि गये सो गये। यहाँ के मरे न जाने कहाँ पैदा हों, न जाने कहाँ क्या हो? यहाँ कैसे कल्याण हो

सकेगा? सोचिये तो सही, कितनी मनुष्यभव की यह निरुपमता है। मान लो हम मनुष्य न होते, कीड़ा, मकौड़ा आदिक और कुछ बन गए होते तो फिर कैसे कल्याण की बात बन पाती? इसलिये अपने आपके उपयोग को विशुद्ध निर्दोष बनावें। जो ये मिथ्यादृष्टि के अज्ञानमय भाव हैं, बंध के कारण हैं, इन भावों को दूर करने से कल्याण का मार्ग मिलता है।

कलश 171

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहित: ।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥171॥

1353- शुभ-अशुभ सभी कर्मों के राग की निष्फलता-

अभी तक इस बंधाधिकार में जो अध्यवसाय बताये गए हैं वे सब अध्यवसाय इस जीव के बंधन हैं, हेतुरूप हैं, चाहे वे शुभ कामों के अध्यवसाय हों चाहे वे अशुभ कार्यों के अध्यवसाय हों, अज्ञान जहाँ बसा है वहाँ संसार बंधन है। मैं इस जीव को दु:खी करता हूँ, इसमें भी कर्मराग है, संसारबंध का हेतु है। मैं इस जीव को सुखी करता हूँ इस प्रकार का जो अध्यवसाय है वह भी कर्मराग है, संसारबंध का हेतु है। फर्क इतना पड़ेगा कि दु:खी करने आदि के खोटे अध्यवसाय नरक आदिक के कारण बनेंगे, दया उपकार आदिक के शुभ अध्यवसाय स्वर्ग के कारण बनेंगे, मगर हैं दोनों ही अज्ञानरूप और इस संसार में भ्रमण कराने के ही हेतुभूत हैं। चाहे पुण्यरूप अध्यवसान हो, चाहे पापरूप अध्यवसान हो, अध्यवसान के नाते से, अज्ञान के नाते से उसमें दुविधा नहीं, वह बंध ही का कारण है। जिसने सोच लिया परिणामों में कि इस जीव को मारना है, न भी मर सके तो भी संसारबंध, तो भी उसको पाप होते हैं। शिकारी ऐसे कि किसी पक्षी को चोट लगाये और वह पक्षी उड़ गया, चोट उसके न लग सकी तो भी उसको तो पापबंध हुआ ही हुआ, क्योंकि उसे हिंसा में अध्यवसाय था कि मैं इस जीव को मारूँ, ऐसे ही कर्मराग की बात कह रहे हैं। व्रत, तप करने पर भी अगर यह कर्मराग है कि मैं व्रत करता हूँ, मैंने ऐसा व्रत किया कि किसी से वैसा बन नहीं सकता, 10 दिन का उपवास किया था मैंने, और ऐसा किया था कि कोई तकलीफ नहीं हुई, ज्यों का त्यों बोलते थे और, और भी व्रत, तप के बारे में कर्मरस के अध्यवसान हो तो वहाँ अज्ञानमय भाव पाया जा रहा है क्योंकि उसे अपने इस चित्प्रकाश की खबर नहीं है कि मैं चैतन्यमात्र हूँ, और इतना बेसुध बन गया कि मैंने यह किया है, मैं ऐसा हूँ। उसे अज्ञानमय अध्यवसाय है।

1354- स्वभावसाधना की धुनवाले की प्रवृत्ति-निवृत्ति का स्वभावसाधना में सहयोग-

अरे ! बात तो यों होना चाहिये थी कि जिसने आत्मा का प्रकाश पाया बस, उस धर्मात्मा को ज्ञातादृष्टा रहने में भलाई है। रागद्वेष में उसका बंधन है, तो मैं अधिकाधिक स्वभावदृष्टि में रहूँ, स्वभावाश्रय करूँ, बस जब उसके भीतर में एक प्रखर संकल्प बना, उसकी धुन बनी तो उस धुन में आकर जब वह चलता है पर बाहरी व्यवहार छूट नहीं पाते, शरीर है तो खाना पड़ता है, बोलना पड़ता है, ये सब बातें होती हैं, मगर धुन है एक स्वभाव के आश्रय की। तो ऐसी स्थिति में उसका व्यवहार क्या बनेगा? क्या वह बाल-बच्चों के बीच बैठकर उनको गोद में ले-लेकर, उनको छाती से लगा-लगाकर, उनका ख्याल बनाने का व्यवहार करेगा? जिसको स्वाभावाश्रय की धुन है उसका व्यवहार क्या बनेगा? उनसे उपेक्षा रहेगी, वे छूटेंगे, घर छूटेगा, जानकर छोड़ेगा। यह प्रेरणा है ना भीतर, तो यह जानना वैराग्यप्रेरित है, ये भी छोड़ेगा और वस्त्र भी उसे बाधक मालूम होंगे, उतनी भी चिंता क्यों हो? कैसा मुनित्व होता है कि जहाँ चिन्ता नहीं, जहाँ विभाव का साधन नहीं, केवल एक स्वाभावाश्रय की ही धुन है, न भी उसमें सफल हो तो भी उसकी पुष्टि वहाँ ही रहती है। उसे ये सारी बातें बनती है तो व्रत बन रहा है, तप बन रहा है, संयम हो रहा है, उस प्रकार से बात चलती रहती है। और एक स्वरूप की सुध छोड़कर यह सोचकर कि मैं साधु हूँ, मुझे ऐसा ही करना योग्य है, बस साधु, साधु पर्याय पर ही दृष्टि है और यह दृष्टि भूल गए कि मैं एक चिदानन्द-स्वरूप एक परमार्थ तत्त्व हूँ और वह भगवान आत्मा इन विभावों से तिरस्कृत होकर संसार में भटकता रहा। मैं तो यह हूँ, और यह जानन मेरा काम है। अब यह मैं जब मैं आत्मस्वभाव के आश्रय के मार्ग में यह चल रहा हूँ तो कुछ तो गुजारा होगा। कैसे रहना? गुजारा केवल खाने का ही नाम नहीं। उस परिस्थिति से गुजरना, वह सारा गुजारा है, मेरा स्वरूप तो यह परमार्थ चैतन्यमात्र हैं। जब साधक को ऐसी दृष्टि होती है तो उसके क्रोध में फर्क आ जाता है, मान न जगेगा। क्रोध, मान तो छू भी न जायगा, मायाचार करेगा ही क्यों, लोभ जगेगा ही क्यों, क्योंकि उसको अपने स्वरूप की परख है और उसकी धुन में चल रहा है। तो ऐसी धुन-वाले के व्रत, तप वगैरह ये सब उसके साधक बनते हैं। कैसे साधक कि वह ऐसा पात्र रहता है, ऐसा योग्य रहता है कि नहीं भी इस समय वह स्वानुभव में है मगर वह स्वानुभव के लायक बना रहे ऐसी उसकी स्थिति रहा करती है व्यवहारधर्म में। अज्ञानपूर्वक जो क्रिया होती है वहाँ यह पात्रता नहीं रहती है कि जब कभी भी हम स्वभाव की अनुभूति कर सकें।

1355- अध्यवसान के प्रतिषेध के लिये बाह्यवस्तु का प्रतिषेध-

इस प्रसंग में बात क्या बतलायी गई है कि अध्यवसान बंध का कारण है, बाह्यपदार्थ बंध का कारण नहीं। कुछ ऐसा सुनकर कोई ऐसा बके कि बाह्य पदार्थ रखने से बंध तो होता ही नहीं हैं तो क्या क्या बंध है? अरे ! तो यह तो देखो कि हमारे अध्यवसाय भी है या नहीं? अगर भीतर में अध्यवसाय है तो वह बंध का कारण है, बाह्य वस्तु बंध का कारण नहीं। हाँ इतनी बात अवश्य है कि बाह्य वस्तु अध्यवसान का हेतुभूत

बनता है समयसार में बताया है- 'अध्यवसानमेव बन्धहेतुर्न तु बाह्य वस्तु तस्य बन्धहेन्तोरध्यवसानस्य हेतुत्वेनैव चरितार्थत्वात्'। ये बाह्य वस्तु, साधन बंध के हेतु तो नहीं मगर बंध के हेतु के हेतु हैं याने बंध का कारण हैं- अध्यवसाय, अध्यवसायरूप खोटे परिणाम, और खोटे परिणाम होने में आश्रयभूत हैं बाह्य पदार्थ। देखिये निमित्त हो या निमित्त का निमित्त हो, कोई भी बाह्य पदार्थ उपादान में उसकी परिणति को नहीं करता। मगर यह तो एक वातावरण है कि ऐसी स्थिति में उपादान अपना प्रभाव कर पाता है। तो बाह्यवस्तु का आश्रय लिये बिना चूँकि अध्यवसाय व्यक्त नहीं होता। कौनसा अध्यवसाय? जिसका जिक्र चल रहा बुद्धिपूर्वक अध्यवसाय। यह बाह्यवस्तु का उपयोग किए बिना, उसमें उपयोग जुड़े बिना यह अध्यवसाय नहीं होता, इस कारण बाह्यवस्तु अध्यवसाय के कारण हैं। इसी कारण चरणानुयोग में बाह्यपदार्थों का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। आचार्यदेव यहाँ खुद कहते कि ''तहि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेध:? अध्यवसानप्रतिषेधार्थ:'' अगर बाह्यपदार्थ बंध के कारण नहीं है तो बाहरी पदार्थों का त्याग क्यों कराया जाता है और क्यों विधि बतायी गई है चरणानुयोग में? तो उत्तर दिया है कि वह अध्यवसाय के आश्रयभूत है, इस कारण उसका त्याग करना बताया गया है। जो चीज नहीं है उसका सहारा लेना और कुछ अध्यवसाय बनना, कैसे हो सकता है? जो सामने है उसका आश्रय लेते है उसमें उपयोग जोड़ते हैं उससे अध्यवसाय बनाते हैं, तो चरणानुयोग की जो प्रक्रिया है वह अध्यवसाय का आश्रय छोड़ने की प्रक्रिया है, और इस कारण चरणानुयोग में जो विधान है उसके प्रति ज्ञानी का आदर रहता है। हाँ यह मार्ग है, इस तरह से ज्ञानी पुरुष चला करता है और वह अपने अन्त: स्वरूप का आश्रय करके सफल होता है।

1356- अध्यवसाय की मुद्रा में-

अध्यवसान किसे कहते हैं? स्व और पर का विवेक न हो, ऐसे समय में जो कुछ भी निश्चय बनता है, बोधन बनता है, विकल्प बनता हैं, वह सब अध्यवसाय कहलाता है। अध्यवसाय का मूल स्वरूप है स्व और पर में ज्ञान न होने पर जो कुछ विकल्प हो वह सब अध्यवसाय है। तो ऐसे अध्यवसाय में मुग्ध हुए प्राणी अपने को किस-किस रूप बना डालते हैं। ये नाना रूप बना डालते हैं? जैसे नारकी कौन? जो अपने में यह अध्यवसाय किए हुए हों कि मैं नारकी हूँ, वे हैं नारकी। यह किस नय से कहा जा रहा है? आगम भाषा में कहा एवंभूतनय और इस अध्यात्म भाषा में कहा अध्यवसाय से निश्चय किए हुए की दृष्टि से। जब अपने उपयोग में यह बात समायी हुई हो कि मैं अमुक हूँ, तो इस उपयोग में, इस अध्यवसाय में तो वही है, जब उपयोग में आत्मा का अनुभव किया जा रहा हो उस काल में यह आत्मा अन्य रूप नहीं। ज्ञायक भावमय उपयोग की परिणति से सब यह निर्णय बनाया जा रहा है।

1357- क्रियागर्भ अध्यवसाय से अपना नानाभावीकरण-

आत्मा हिंसक कौन? कब बनता है यह हिंसक? जब हिंसा की क्रिया में अध्यवसाय होता है, मैं मारता हूँ इसे कहते हैं संकल्पी हिंसा। संकल्पी हिंसा सम्यग्दृष्टि में नहीं होती, उसका कारण क्या है कि जिसने

संकल्प से हिंसा की है उस पुरुष को अपनी हिंसा की क्रिया में राग पड़ा है। कर्मराग हुये बिना कर्म का संकल्प नहीं बनता और इसीलिए संकल्पी हिंसा का त्यागी पंचम गुणस्थान के श्रावक को बताया है, पर नियम न होने पर भी संकल्पी हिंसा की प्रवृत्ति चतुर्थ गुणस्थान में भी नहीं है, क्योंकि कर्मराग नहीं है, नियमपूर्वक तो पंचम गुणस्थान में और बिना नियम के वैसी ही प्रवृत्ति अविरत सम्यग्दृष्टि की भी है। तो जब हिंसा-क्रिया में एक अध्यवसाय लगाया कि मैं मारता हूँ तो ऐसा जो अध्यवसाय है उसके द्वारा इस जीव ने अपने को हिंसक बनाया। यह अध्यवसाय मुनि के तो नहीं है। यदि वह मुनि रास्ते में जा रहा है और पैर के नीचे दबकर कोई जीव मर जाय तो वह हिंसा नहीं क्योंकि उनकी क्रिया द्वारा हिंसा का अध्यवसाय नहीं है। मैं मारता हूँ, मैं मारूँ, अथवा कुछ प्रवृत्ति हो, सो नहीं। थोड़ी बहुत चारित्रमोह वाली भी अध्यावसायित हिंसा नहीं, हिंसा के बारे में यह जीव अपने को किन-किन रूप नहीं बना डालता हैं? अध्यवसाय के द्वारा अपने को झूठा, चोर, कुशील, परिग्रही इन स्वरूप बनाता है, अन्यथा बतलावो परिग्रह कभी यह जीव हो सकता क्या? जीव में जीव का ही तो स्वरूप है। स्वरूप में किसी पर पदार्थ का ग्रहण हो सकता क्या? किसी पर का अन्य में ग्रहण नहीं। स्वरूप में किसी अन्य का प्रवेश नहीं है, तो जब किसी अन्य का प्रवेश नहीं है तो ग्रहण क्या हो? पर भीतर में अध्यवसाय द्वारा ग्रहण करता है, ऐसा परिग्रही है, यह मेरा है, मैं लखपति हूँ, मैं ऐसा हूँ, पर्याय में या पर पदार्थ में सम्बन्ध जोड़कर अपने को यह शरीररूप ही अनुभव करता है, और केवल इतनी ही बात नहीं, क्रियागर्भ, अध्यवसाय सभी क्रियाओं में होता तो वहाँ भी वह अपने को नानारूप बना रहा, मैं दया न करता, यह जीव तो मर ही जाता, मैंने ही तो इसे बचाया, लो क्रियागर्भ अध्यवसाय बन गया। तो दया करना, परोपकार करना आदिक जितने भी शुभोपयोग हैं उनमें भी अगर क्रियागर्भ अध्यवसाय है तो वहाँ भी संसारबंध है। तो अपने को यह जीव उपयोग द्वारा सोच-सोचकर किस-किस रूप बना डालता, यह तो क्रियागर्भ की बात है।

1358- विपच्यमान-अध्यवसाय की विडम्बना-

अब देखें, कौन-कौन विपाक वाली बात अभिप्राय में अज्ञानी के बनी रहती है याने जिसमें करने की बात न लगे, किन्तु यह मैं हूँ, मैं नारकी हूँ, तिर्यञ्च हूँ, पशु हूँ, मनुष्य हूँ, ऐसी नानारूपता को यों ही स्वीकारता है। मुनि हूँ, ऐसी भी कोई श्रद्धा करे मुनि बनकर, निर्ग्रन्थलिंग पाकर मैं मुनि हूँ, तो विपच्यमान-अध्यवसाय बन गया। वह यह बात भूल गया कि मैं चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ। एक शुद्ध अन्तस्तत्त्व में आत्मबुद्धि कर ली जिस मुनि ने, वह विपच्यमान-अध्यवसाय से दूर होने के कारण ज्ञानी है। मुनियों के मान क्यों नहीं रहा? यही तो कारण है कि वह मुनि पर्याय में अहंबुद्धि नहीं रखता और जो भी परिणति में कोई अहंबुद्धि रखता, मैं मुनि हूँ, मैं साधु हूँ, ऐसी भावना जिनके रहती है तो जरा-जरासी घटनाओं में उन्हें क्रोध आ जाता है, कारण की पयार्य में आत्मबुद्धि की है। मुनि होकर भी पर्याय में आत्मबुद्धि नहीं है, इस कारण उनकी कषायें मंद रहती हैं, उनकी धुनि में, उनकी दृष्टि में केवल यही बात है कि मैं चैतन्यप्रकाशमात्र हूँ, उसकी

साधना करना। यहाँ मान किस बात पर करना? दोष तो पड़े हैं और दोषों की निवृत्ति करना है उसके लिए काम बहुत पड़ा है। क्या काम? अन्तस्तत्त्व को निरखना और उस अन्तस्तत्त्व में रमण करना। जब यह बात बन नहीं पा रही तो मैं किस काम का? मैं दोषी हूँ, अपराधी हूँ, अभिमान करने लायक मेरे में कोई बात नहीं है। ऐसा ध्यान साधु के रहता है तो वह अन्तस्तत्त्व की अनुभूति के लिए ही अपनी धुन रखता है।

1359- विपच्यमान अध्यवसाय की नाना मुद्रायें-

विपच्यमान अध्यवसाय की बात कह रहे हैं। मैं पुण्यवान हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ, मैं पापी हूँ, यों चाहे कोई भली पर्याय में बैठा हों, चाहे खोटी पर्याय में बैठा हो, वे सब अध्यवसाय कहलाते हैं। देखिये श्रावक भी है, गृहस्थ भी है तो उसके भी अगर यह भाव बने, श्रद्धान बने कि मैं गृहस्थ हूँ, मैं श्रावक हूँ तो उसके अध्यवसाय आ गया, उसके संसारबंध बन गया। है गृहस्थ, है कुटुम्ब में, मगर दृष्टि आस्था यह रहना चाहिये कि मैं मात्र चैतन्यस्वरूप हू। यह दृष्टि रहनी चाहिये प्रत्येक गृहस्थ के, प्रत्येक भव्य पुरुष के, और जब यह दृष्टि नहीं रहती तो गृहस्थ को भी तृष्णा सताती है, वह मायाचारी में बढ़ता है, क्योंकि पर्याय में आत्मबुद्धि की। यह हूँ मैं, इसकी शान रहना चाहिए, मान आ जाता है, क्रोध आने लगता। तो क्या कारण है? यह कि पर्याय में आत्मबुद्धि है। पर्याय में आत्मबुद्धि सिर्फ इसका ही नाम है कि चार गतियों का भव मिला, उसमें माने कि यह मैं हूँ, वह तो मुख्य है ही मगर साथ ही साथ अपने सूक्ष्म विचारों में भी अगर अहंबुद्धि जग गयी कि यह मैं हूँ, मैं विचार कर रहा हूँ, जो मैं विचारता हूँ, सो ठीक है, मैं बहुत ठीक हूँ, इस प्रकार की जो आस्था है उसमें मिथ्यात्व पड़ा हुआ है। व्यवहार सब तो, 'गले पड़े बजाय सरे' की बात है।

1360- ज्ञानी की विपच्यमान परिस्थिति से उपेक्षाभाव होने से विजय-

चाहे गृहस्थ हो चाहे साधु हो, सबके लिए जो सम्यग्दृष्टि है उसके लिए तो 'गले पड़े बजाय सरे' की नीति पर व्यवहार हैं। अभी इस पर्याय में हूँ, गृहस्थी छोड़ सकता नहीं। इतना अभी साहस नहीं कि निर्ग्रन्थलिंग रूप में रहकर अपने आपको अनुभव कर सकें। सदा ऐसी अवस्था में रहें, यह बात अभी नहीं बन पा रही, तो गृहस्थी में रहकर गृहस्थी में रहने का खेद तो रहे। तब तो उसका मार्ग भला है और गृहस्थ रहकर गृहस्थी में मौज माने तो वह गृहस्थ श्रावक नहीं है, गृहस्थी में रहता हुआ गृहस्थ मौज के कारण, गृहस्थी की सुविधाओं के कारण वह अगर मौज की श्वास ले- मेरी बड़ी अच्छी हालत है, तो वहाँ उसका मार्ग सन्मार्ग न रहा। उसे तो गृहस्थी में खेद होना चाहिए, मैं इस पर्याय के भुगतान में क्यों पड़ा हूँ? कब मैं आत्मस्वरूप में रमूँ, यह ही श्रावक की इच्छा रहती है? यह मैं इस पद में हूँ, यह आफत है। इससे कब निवृत्त हो, मैं कब आत्मा में रमूँ, ऐसी उसे धुन रहती है? अगर नहीं है आत्मस्वरूप की समक्षता तो वहाँ अध्यवसाय है जो संसार का बंध करने वाला है। तो में पुण्यवान हूँ, पापी हूँ, ज्ञानी हूँ, बुद्धिमान हूँ, ये सभी के सभी अध्यवसाय मिथ्यात्व में ही तो हैं, जैसे बताया ना- 'मैं सुखी-दु:खी में रंक-राव', ये सब मिथ्यात्व ही तो है, ये अध्यवसाय हैं। मैं सुखी हूँ क्या, उस इन्द्रियज भोगोपयोग के कारण क्या मैं मौज वाला हूँ? ऐसा

मेरा स्वरूप है क्या? मेरा स्वरूप तो अखण्ड चैतन्यस्वभावरूप है, अन्य किसी रूप मैं नहीं हूँ। आस्था की बात कही जा रही है। करना तो सब कुछ पड़ता है। जैसे जिसका कोई खास इष्ट मर गया तो अब वही है धुन में, वही उसकी नजर में है। सो अब वह खाता-पीता नहीं है क्या? अरे ! खाना- पीना तो पड़ता ही है। मानो एक दो दिन न खायगा, मगर रोज-रोज खाये बिना चलता तो नहीं, और भी सारे काम उसे करने पड़ते, मगर उसकी धुन में यही बात रहती जिसके ऊपर उसका ख्याल है। इसी प्रकार गृहस्थ, श्रावक, साधु, जो-जो भी सम्यग्दृष्टि जानी हैं वे इन सब क्रियाओं को करते हुए भी समझते कि ये तो 'गले पड़े बजाय सरे', उस प्रकार के विपाक हैं, वह स्थिति बन रही, ऐसा होने पर भी उसकी धुन, उसकी दृष्टि एक अपने आत्मस्वरूप में यह मैं हूँ, ऐसी रहती है। अब इसको कोई नहीं बहका सकता और, और लौकिक बातों में, किसी भी बात में कभी भ्रम में पड़ जाय मगर आत्मस्वरूप के बारे में ज्ञानी जीव को कभी भ्रम नहीं हो सकता।

1361- सम्यग्दृष्टि की अपने को सुखी-दु:खी आदि मानने के अध्यवसाय से अतीतता-

सम्यग्दृष्टि की दृढ़ आस्था है कि मैं सहज चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ। यह ज्ञानी जीव अध्यवसाय द्वारा अपने को दु:खी नहीं बनाता है वह बात कही जा रही है। मैं गरीब हूँ..., अरे ! आत्मा कहीं गरीब होता। आत्मा तो ज्ञान, दर्शन, शक्ति, आनन्द का पिण्ड है, उसमें गरीबी की बात क्या? सब जीव एक समान, सब मनुष्य एक समान, यहाँ गरीब-अमीर अन्य बात का भेद नहीं है। स्वरूप को देखो- अगर ऐसा न मानकर कोई मानता है कि मैं गरीब हूँ तो हमने क्या किया? अध्यवसाय के द्वारा अपने को गरीब बना डाला। मैं अमीर हूँ, कोई बाहरी पदार्थ के सम्बन्ध से अमीर बना क्या? आत्मा अमीर है तो अपनी ज्ञान-दर्शन निधि के कारण अमीर है, बाहरी पदार्थों के सम्बन्ध से अमीर नहीं है। अगर मान लो अमीर है, तो मैं अमीर हूँ के अध्यवसाय से अपने को अमीर बना डाला। इस जीव ने इन मिथ्या अध्यवसायों के द्वारा अपने को न जाने क्या क्या बना डाला। मैं प्रभाव वाला हूँ, मेरा गोधन है, मैं इतना वैभव सम्पन्न हूँ, मैं पुत्रों वाला हूँ, मैं स्त्री वाला हूँ, मैं बलवान हूँ, ये सब अध्यवसाय बने रहे, लेकिन मूल में यह जीव चैतन्यप्रकाशमात्र है।

1362- मुनित्व परिणति के अध्यवसाय में भी शिवपथबाधा-

बताते हैं कि मुनि होकर भी, और कोल्हू में पिलकर भी और शत्रु पर द्वेष न रखकर भी कोई मुनि मिथ्यादृष्टि रह जाता है तो वहाँ कारण क्या है? वह अपनी परिणति में अहंबुद्धि रखता, पहले तो यह ही अहंबुद्धि रखता कि मैं मुनि हूँ, मुझे समता रखना चाहिए। देखिये- भीतर में उसने मुनित्व से अपना ऐसा लगाव लगाया कि यह भूल गया कि मैं चैतन्यस्वरूप हूँ। उसकी बात कही जा रही है कि कोई मुनि कोल्हू में पिल रहा, उसकी हड्डियाँ पीस रही, मरण हो रहा, और उसके उपयोग में यह अनुभव बना हुआ है कि मैं मुनि हूँ, मरण हो तो हो जाय मगर विरोधी पर द्वेष न करना। अब स्थिति में भी अहंबुद्धि होने के कारण वहाँ भी अध्यवसाय चल रहा, मिथ्यात्व चल रहा। तो अध्यवसाय की बात कही जा रही, कैसे-कैसे सूक्ष्म

अध्यवसाय होते हैं, तो इसी प्रकार अनेक प्रकार से यह जीव अध्यवसाय के द्वारा अपने को नानारूप बनाता रहता है।

1363- ज्ञायमानाध्यवसाय से अपने को नानारूपीकरण में पातन-

तीसरी प्रकार का अध्यवसाय है ज्ञायमान का अध्यवसाय करना। जो कुछ हमारे ज्ञान में आ रहा उस रूप अपने को अनुभवना, यह है ज्ञायमान अध्यवसाय। जैसे, किसी का ध्यान बनाया, जिसमें मोह है ऐसी वस्तु का ध्यान बनाया तो ऐसा ध्यान बन गया कि उसका ध्यान बस वही निरन्तर चलता रहता है, उस-उस ही रूप बस उपयोग चल रहा और अपने को भूल गया कि मैं क्या हूँ? एक ध्यान की ही तो बात है। नाटकों में देखा होगा, बच्चे लोग अपने-अपने पार्ट अदा करते हैं, तो जिसका पार्ट अदा करना है उसके प्रति उस पार्ट करने वाले बच्चे का इतना ध्यान बन जाता है कि वह उसी रूप अपने को अनुभव करने लगता और यह भूल जाता है कि मैं अमुक बालक हूँ।...और पार्ट भी वह तब ही सही ढंग से अदा कर सकता, मगर एक बात है कि अगर अपने को उस रूप बहुत अधिक रूप में अनुभव कर ले तो उससे बड़ा अनर्थ भी हो सकता। कथा में घटना हो तो कभी किसी दूसरे पार्ट करने वाले बालक का सिर ही उड़ा दे। तो वहाँ उस पार्ट करने वाले बालक ने अपने को उस दूसरे रूप अनुभव किया वह भी अध्यवसाय है। कोई धर्म, अधर्म जैसे बड़े सूक्ष्म द्रव्यों का चिंतन करे और ऐसा चिन्तन हो रहा कि वहाँ स्वपर का कुछ विवेक नहीं, मिथ्यात्व अज्ञान बसा, बस जिसको जानना सो बड़ी लगन से जानना और एकमेक रहकर जानता, लो यहाँ भी एक अध्यवसाय हो गया। क्यों जी, कभी सूक्ष्म बात पर चर्चा भी होती है, धर्म की चर्चा, तो वहाँ चर्चा करते-करते गुस्सा भी आ जाता है, गाली-गलौज की भी नौबत आ जाती है, होता है ना कभी-कभी ऐसा, तो उसका कारण क्या है? ज्ञायमान अध्यवसाय में जो जानने में आ रहा उस अध्यवसायी के ऐसा अध्यवसाय बन गया कि उस प्रकार करने की चीज में कोई विघ्न पड़ जाय, जो मैं सोच रहा हूँ, जो मैं विचार रहा हूँ, इसमें अगर कोई प्रतिकूल बात बोले, अथवा इसके खिलाफ कोई दूसरी बात कहे तो उसे यों लगता है कि मानो मैं ही मर गया और उस विचार में उसने इतना अध्यवसाय बनाया कि वह अपना उसमें अलाभ समझता है।

1364- अज्ञानी के पर का, स्व का परमार्थ आदर करने के साहस का अभाव-

अज्ञानी को यह साहस नहीं जगता कि कोई न माने तो उसमें मेरा क्या है? उसका ही परिणाम है। उसके अन्दर भी ज्ञान है। प्रथम तो जहाँ तक हो, ऐसी दृष्टि करना चाहिए कि जगत में जितने प्राणी हैं वे सब ज्ञान करने वाले हैं, और ज्ञान में अपनी दृष्टि से सही विचारता है, बुद्धिमान केवल मैं ही नहीं हूँ, सबके अन्दर बुद्धि है, और जो कोई भी कुछ ख्याल करता है धर्म के मामले में वह किसी न किसी दृष्टि से ठीक है, ऐसा भाव रखकर उसकी ही दृष्टि में कोई परख करे कि इस दृष्टि से यह बात कह रहे हैं, इस दृष्टि से इसकी यह चर्चा है। अपने को विवादरहित बनाने से अपना कल्याण है और बात भी सही है। और जैसा कह रहे कल्याण के इच्छुक पुरुष वे अपनी-अपनी दृष्टि से ठीक कह रहे मगर दृष्टि को जब नहीं परखा है तो

वहाँ विवाद होता है, जैसे एक ने कहा कि जीव नित्य है, नित्य अपरिणामी है, उसकी दृष्टि लगाओ। वह द्रव्यदृष्टि, स्वरूपदृष्टि से उसका समर्थन करता है। इतने में बौद्ध बोले कि जीव तो क्षणिक है, अनित्य है, उसमें अब दृष्टि लगा लीजिए, पर्याय दृष्टि। पर्याय चूंकि प्रतिसमय भिन्न-भिन्न है, व्यतिरेकी है सो क्षणिक है ही। तो दृष्टि जब लगा ली तब वहाँ कुछ विवाद न रहा, अब समझा कि यह जीव द्रव्यदृष्टि से नित्य है, पर्यायदृष्टि से अनित्य है।

1365- अखण्ड होने पर भी पदार्थ का नानाधर्मिता के रूप में परिचय की आवश्यकता-

अब कोई ऐसी बात कहे कि कहीं भी दो बातें नहीं कहो, बात तो एक ही होती है।...अरे !एक बात जो होती है वह अवक्तव्य होती हैं। एक बात कहने में नहीं आती, कहने वाली एक बात नहीं होती है। अखण्ड अवक्तव्य जो तत्त्व है वह है अद्वैत, मगर जब कहने बैठे तो कहने में कोई शब्द आ गया और शब्द जितने हैं वे विशेषणरूप हैं। कोई विशेष्य शब्द नहीं है जिसका नाम हो। शुद्ध नाम किसी का नहीं है। कुछ भी नाम बने वह विशेषण है, जैसे कोई कहे चौकी, तो यह कोई उसका शुद्ध नाम में नहीं। यह तो उसका विशेषण है, कैसे कि जिसमें चार कोने हों सो चौकी। यों आप किसी भी चीज का नाम लें, सभी नामों में उस चीज की तारीफ या विशेषता बताने वाली बात मिलेगी। किसी चीज में कोई नाम नहीं पड़ा है, पर उसकी तारीफ में हम नाम की कल्पना कर लेते हैं, तो जब प्रतिपादन करने चले तो वहाँ दो बातें आयीं, दसों बातें आती, क्योंकि शब्द अनेक हैं। जब शब्द अनेक हैं तो वहाँ दृष्टियाँ भी अनेक होती हैं। और जितनी ये दृष्टियाँ हैं उतने नय हैं और व्यवहार के द्वारा विशेषण बनता है, तो यहाँ जितना जो कुछ अपने बारे में सोचा जा रहा है कि जो भी परिणति हो रही है वह सब विनश्वर परिणति ही तो है, उसमें आत्मबुद्धि करना, मैं हूँ यह, मैं करता हूँ यह, इस प्रकार से संसारबन्धक अध्यवसाय बनता है, और यह अध्यवसाय से अपने को क्या-क्या नहीं बना डालता है।

1366- अध्यवसायों की निष्फलता-

ये अध्यवसाय सब निष्फल हैं। क्यों निष्फल हैं कि जो-जो कुछ सोचा जा रहा हो किसी दूसरी चीज के बारे में, वहाँ आपके सोचने से बनता नहीं है। गाड़ी चलती है, कोई 50-60 मन बोझा लदा होता तो उसे बैल खींचते रहते। अब उसके पीछे कोई दो चार बालक लग जाते, पीछे से धक्का देते और वह समझ बैठते कि हमारे धक्का देने से गाड़ी चल रही। कदाचित् बैल रुक जाते, गाड़ी खड़ी हो जाती तो उनके धक्का देने से गाड़ी नहीं चलती तो वहाँ वे अपने को दु:खी अनुभव करते। तो वह उन बालकों का अध्यवसाय ही तो कहलाया। पर पदार्थों में किसी भी प्रकार का अध्यवसाय रखना, अहंबुद्धि करना, उस रूप मानना ये सब अध्यवसाय है। कथानकों में सुना होगा कि सीता का जीव मरकर 16 वें स्वर्ग का प्रतीन्द्र बना, इधर श्रीराम को भी वैराग्य हुआ, श्रीराम निर्ग्रन्थ दशा में तपश्चरण में रत थे। वहाँ उस प्रतीन्द्र ने अवधिज्ञान से जाना श्रीराम के सम्बन्ध में। तो उसने विचार किया कि अभी श्रीराम को डिगा देना चाहिये ताकि अभी ये मोक्ष न

जावें। हम और वह दोनों एक साथ मोक्ष जायेंगे। तो उस प्रतीन्द्र ने श्रीराम के सम्मुख आकर दिव्याङ्.गना बनकर बड़े हावभाव दिखाये। न चिगे ध्यान से श्रीराम तो यहाँ तक दृश्य दिखाया कि रावण सीता के केश खींच रहा है, सीता का अपमान कर रहा है, पर श्रीराम वहाँ रंच भी विचलित न हुये। आखिर श्रीराम का उस ध्यान के प्रताप से निर्वाण हुआ। तो यहाँ कौन किसके परिणामों को बदल सकता? यह जीव चाहता है कि मैं इसको (अपने इष्ट को) बाँधकर रखूँ, इसका परिणमन अपने मनमाफिक करूँ, पर यह बात हो कैसे सकती? कोई किसी दूसरे के परिणामों को बदलने में समर्थ नहीं। हाँ, अगर इस दूसरे का खुद का ही परिणाम बदल जाय उसके कहे माफिक तो वह बात दूसरी है। तो ये सब इस जीव के मिथ्या अध्यवसाय है।

1367- अध्यवसायों में स्वार्थक्रियाकारिता का अभाव-

कोई पुरुष अपने मन में यह कल्पना करता कि मैं इसे सुखी कर दूँ, और मेरे घर के ये बाल-बच्चे भी सुखी हो जायें, ऐसा कौन नहीं सोचता? सोचते सब हैं मगर किसी के सोचने से कोई बात बन पाती है क्या? कभी कोई बीमार होता, कभी कोई दरिद्र होता, कभी कोई पागल बन जाता, न जाने क्या से क्या स्थितियाँ बन जाया करती। लोग बहुत सोचते कि मैं अपनी संतान को खूब सुखी रखूँ, पर वैसा हो कहाँ पाता? यदि उस संतान के पाप का उदय है तो उसका पिता कितना ही उसके लिए जोड़कर धर जाय, मगर वह सब कुछ ही दिनों में समाप्त हो जाता है। कथानकों में सुना होगा कि जब राजा ने अकृतपुण्य पुत्र को बाहर निकल जाने का आदेश दे दिया तो उसकी माता भी साथ गई। कितना ही धन, कितना ही अनाज उसके साथ भेजा था, पर उसके पापोदय से मुहरें आग बन गई, सारा धन खतम हो गया। सारा अनाज बिखर-बिखरकर खतम हो गया। तो यहाँ कौन किसको सुखी बना सकता और किसे दु:खी बना सकता। सबके साथ अपने-अपने कर्मोदय हैं, परिणाम हैं। अपने बच्चे कर्मोदयानुसार, परिणामों के अनुसार ही सब सुखी-दु:खी होते। तो जीव के ये सब अध्यवसान निष्फल है। जैसे कोई आकाश के फूलों की माला बना नहीं सकता, खरगोश के सींगों का धनुष बना नहीं सकता, इसी प्रकार कोई किसी को सुखी अथवा दु:खी बना नहीं सकता। संसार के जितने भी जीव सुखी अथवा दु:खी होते हैं वे सब अपने-अपने कर्मोदय से ही सुखी-दु:खी होते हैं। अगर कोई मुक्ति पाता है तो वह भी अपने आपके निर्मल शुद्धोपयोग के परिणाम से स्वयं ही मुक्त होता है और जो संसार में भटकता है वह भी अपने-अपने इस अध्यवसाय के कारण ही भटकता है। तो जानना कि ये अध्यवसाय निष्फल हैं।

1368- अध्यवसाय से विमोहित न होकर अन्तस्तत्त्व में स्व का अनुभव करने का अनुरोध-

अध्यवसाय में मुग्ध न होना। इन सबसे भिन्न जो एक अपना अंतस्तत्त्व है उसमें ही आस्था रखना कि मैं यह चैतन्यस्वरूप आनन्दघन आत्मतत्त्व हूँ। देखिये, एक का सहारा रखेंगे तो कल्याण होगा, और यदि अनेक का सहारा रखेंगे तो डूब जायेंगे। अनेकों को न अपनाना, एक को अपनाना। मैं यह ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व हूँ। अन्तस्तत्त्व की उपासना में अध्यवसाय न रहेगा। वर्तमान संग-प्रसंग को भूल जावो। चाहे कोई कितना ही बड़ा

हो, कितना ही वैभवशाली हो, मगर इसको भूल जावो कि मैं वैभववान हूँ, और यह ध्यान में रखो कि मैं मात्र चैतन्यस्वरूप हूँ। अगर पर्याय के बड़प्पन पर दृष्टि गई तो सांसारिक पर्याय ही पर्याय मिलते रहेंगे, यह निश्चित बात है, क्योंकि राजा भी मरकर कीट बन जाता है। पर्याय के बड़प्पन में जो एक चित लगा है- मैं मिनिस्टर हूँ, मैं आफीसर हूँ, मैं वैज्ञानिक हूँ, ऊँचा हूँ, इस प्रकार का जो उसमें भाव लगा है वह भाव एक मिथ्यात्व वाला भाव है, अध्यवसाय है। उसका फल संसारबंध है और वहाँ खोटी गति, खोटी आयु का बंधन होता है, इसलिए एक ही निर्णय रखें, परिणति से उपेक्षा हो, अपने आपके एकत्व-स्वरूप का भान हो, उसकी ही धुन हो, उसका ही अनुभवन हो। एक मात्र विशुद्ध चैतन्यप्रकाशमात्र यह मैं हूँ, इसका बार-बार अनुभव होना चाहिये, इसमें ही अपनी विजय है।

कलश 172

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥172॥

1369- पराध्यवसायों की मिथ्यारूपता-

प्रकरण यह चल रहा था कि यह अज्ञानी जीव परपदार्थों के बारे में नाना तरह के अध्यवसाय करता है और उन अध्यवसायों से अपने को नानारूप बनाता रहता है। अब इस छंद में यह स्पष्ट कर रहे हैं कि जिसके बारे में यह जीव अध्यवसाय करता है, विकल्प करता है वे सब अत्यन्त भिन्न हैं। सारे विश्व से, समस्त साधनों से यह आत्मा विभक्त है, निराला है। जिस जीव के बारे में अज्ञानी ने विचार किया कि मैं इसको मारूँ, जलाऊँ, पालूँ, कुछ भी विचार किया तो यह जीव इससे मिला हुआ है या निराला है? एक का दूसरे में अत्यन्ताभाव है, याने त्रिकाल निराला पदार्थ है। मैं अन्य आत्मा में मिल नहीं सकता। जितने भी ये बाहरी साधन हैं इन सबमें इस आत्मा का त्रिकाल अभाव है, अत्यन्ताभाव है, कभी यह मिल-जुल नहीं सकता। घर में रहते तो इस प्रकार का प्रयोग तो करें रोज-रोज कि जिन बच्चों में प्रीति है उनको सामने बैठाये हों या गोद में ले लिया हो तो उसके बारे में विचार तो करें कि यह जो जीव है इसमें मेरा जीव मिला-जुला है या अत्यन्ताभाव है? मैं और यह कभी भी एक नहीं हो सकता। इसके कर्म का उदय, इसकी परिणति इसके परिणाम से चलती है, इससे मेरा सम्बन्ध नहीं कुछ, फिर भी उसके बारे में यह विचार करना कि मैं इस भैया को, इस राजा को ऐसा पढ़ाऊँगा, ऐसा करूँगा, यह बड़ा होगा, कमायेगा, मुझे खिलायेगा...यों खूब अध्यवसाय करते रोज-रोज, मगर उसका कुछ पता भी तो नहीं कि बड़ा होकर वह क्या करेगा?

1370- अज्ञानी के अज्ञान से विश्व का आत्मीकरण-

यह जीव तो इस संसार में अकेले ही जन्म-मरण कर रहा है, खुद के खुद ही अकेले जिम्मेदार हैं, अब इस जीव को कोई रक्षक तो नहीं है बाहर में, मगर यह आत्मा अध्यवसाय बनाता रहता है। विश्व में सबसे निराला है यह जीव, मगर इसने सारे विश्व को अपना मान लिया, विश्वरूप अपने को बना डाला उसमें किसका प्रभाव है? अध्यवसाय का, अज्ञान का। अज्ञान का ऐसा प्रभाव है कि सारा विश्व न्यारा है, लेकिन इस सारे विश्व को इसने अपने रूप बना डाला। मैं हूँ, मेरा है, इसे अपने स्वरूप की सुध नहीं। देखो, ज्ञान में बढ़ो और ऐसे निर्मलभाव से ठहरो कि सब जीवों के प्रति समता-परिणाम हो। यह तो दया की बात है, जो अपनी दया करेगा वह पार होगा, न करेगा तो संसार में रुलेगा। किसी जीव के प्रति यह बात न आये कि ये सब गैर हैं और ये मेरे हैं। व्यवहार में कहना पड़ता है, रहना पड़ता है, वे सब बातें अलग करें, मगर जो भीतर में एक गाँठ- सी लग बैठती कि ये खुद के घर के दो चार जीव तो मेरे है, बाकी सब गैर है और इतना गैररूप से निरखते कि मानो उनकी जान ही न हो। तो ऐसी बुद्धि जब तक है तब तक स्वानुभव की पात्रता भी नहीं होती, इस कारण यह अध्यवसाय त्याग ने योग्य है। सब जीवों में स्वरूप को निरखें, सबका स्वरूप समान है, फिर कौन मेरा, कौन गैर? गैर है तो सब, और मेरे है तो सब। उनमें यह छटनी होना कि ये मेरे हैं, ये गैर हैं, यह किसका घात करेगा? खुद का यह आत्महनन है। इस मोह में, राग में, द्वेष में, अध्यवसाय में आत्महनन है। जैसे भी बने शुद्ध ज्ञानार्जन करें, अपने आप पर ही करुणा करना है। एक आत्महित की भावना से ही ज्ञान का प्रयोग करना और अपने ज्ञान द्वारा अपने में अन्त: प्रकाशमान इस सहज ज्ञानमात्र भगवान आत्मस्वरूप का अनुभव करना है। यह हो तो सब ठीक और ये न होंगे तो चाहे दुनिया में दिखाने के लिए कुछ भी कर दिया जाय, मगर उससे पार नहीं हो सकते।

1371- विश्व से विभक्त होने पर भी अज्ञान से आत्मा का विश्वरूपीकरण-

यह जीव सारे विश्व से विभक्त है फिर भी इस अध्यवसाय के प्रभाव से यह आत्मा अपने को नाना विश्वरूप बना डालता है। मैं तिर्यञ्च हूँ, नारकी हूँ, देव हूँ, उस समय यह तो बात एकाएक नहीं आती समझ में, इस समय तो समझ में आता है कि मैं मनुष्य व्यापारी हूँ, सर्विस वाला हूँ, ज्ञानी हूँ, बुद्धिमान हूँ, मूर्ख हूँ। कितनी-कितनी तरह के अध्यवसाय से अपने को नानारूप कर रहे हैं। यह परखने में नहीं आता कि यह मैं तो इन लदानों से रीता हूँ। ये कर्मरस हैं, मैं अपने गुणों से भरपूर हूँ, मगर जिनसे मैं भरपूर मानता चला आया था भ्रम में, उनसे तो यह ज्ञानमात्र मैं बिल्कुल रिक्त, शून्य हूँ, अकेला, अमूर्त प्रकाशमान हूँ। यह मैं परमार्थभूत पदार्थ हूँ, यह अमूर्त है। यदि अपने आपमें बसे हुए इस अन्तस्वरूप की दृष्टि बने तो यह अमृतपान किया और इसको छोड़कर बाहरी पदार्थों में चाहे धर्म के नाम पर, चाहे परिवार के नाम पर, चाहे अन्य लौकिक प्रतिष्ठा के नाम पर, किसी भी बात पर यदि बाह्य पदार्थों में अध्यवसाय रखे तो यह विषपान है। अमृत को पियो और विष को त्यागो, रागद्वेष परिणाम छोड़ो, अपने में समता लावो। रहना तो कुछ यहाँ

है नहीं, आपके साथ न सदा मकान रहेगा न परिवार, मरकर न जाने कहाँ से कहाँ पहुँचता है। जीव न जाने मरकर किस जगह गया, किस पर्याय में गया, कुछ पता भी है क्या? फिर वर्तमान में जो संग मिला है इसमें विमोद्वित होना यह कितनी मूढ़ता की बात है। अपने में ज्ञानप्रकाश लावें और इस नरभव को सफल करें। मुझसे सब कुछ ये बाहरी पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं, मगर अज्ञान अवस्था में परपदार्थ में अपना उपयोग जुटाकर नाना तरह के अध्यवसाय बनाये गये।

1372- अध्यवसायों का त्रैविध्य–

यहाँ अध्यवसाय का जिक्र हुआ है। ये तीन तरह के अध्यवसाय हैं पहला क्रियागर्भ अध्यवसाय- मैं करता हूँ, मारता हूँ, पढ़ाता हूँ, जलाता हूँ...कितनी-कितनी तरह की क्रियायें हैं। दूसरा अध्यवसाय है विपच्यमान अध्यवसाय- मैं नारकी हूँ, तिर्यञ्च हूँ, व्यापारी हूँ, रोजगार हूँ, अमुक हूँ, तमुक हूँ। इस प्रकार व्यवहार काम तो चलता है, मगर आस्था में यह बात रहना चाहिये कि मैं चैतन्यप्रकाशमात्र अमूर्त नामरहित भगवान आत्मतत्त्व हूँ। यह आस्था रहना चाहिए हर जगह, मगर अज्ञान अवस्था में इस ओर दृष्टि नहीं पहुँचती और बस निरन्तर अपने नाम की चाह रहती। मानो किसी जगह 50 आदमी सो रहे, उनमें से किसी का नाम लेकर किसी ने पुकारा तो जिसका वह नाम हुआ वह झट उठकर बैठ जाता, इतना तेज अपने नाम का संस्कार इन जीवों के पड़ा है। तो बात यह कह रहे कि नाम का संस्कार कैसा भिड़ा पड़ा है अंतरंग में, मैं अमुक हूँ..., अरे ! मैं तो इस निर्नाम चैतन्यप्रकाशमात्र आत्मतत्त्व हूँ। देखिये- बड़ी साधना की जरूरत है। और इसके लिए समस्त बाह्य पदार्थों का परिहार करने का साहस होना चाहिए। यहाँ तो लोग व्यर्थ ही अपनी शान लिए फिर रहे। जैसे कि लंगूर अपनी पूँछ ऊपर किए फिर रहा ऐसे ही ये मनुष्य अपनी शान पूँछ की तरह सम्हाले हुए चल रहे। शान लग रही है पीछे-पीछे, जैसे कि पूँछ लगी हैं बिल्कुल पीछे। यह लंगूर अपनी पूँछ उठाकर सम्हाल-सम्हालकर बड़ी उमंग बनाता है इसी तरह यह अज्ञानी जीव अपनी शान को पूँछ की तरह उठाये-उठाये फिरता और दु:खी होता है। कहाँ की शान? भीतर तो देखो चैतन्यप्रकाशमात्र यह परमब्रह्म तत्त्व हूँ मैं। इसकी बाहर शान कुछ नहीं।

1373- शान मान के अध्यवसाय को सभी उपायों से दूर करने का अनुरोध-

भैया, कल्याण की भावना है तो कभी कुछ समय जान-जानकर भी अपमान कराना चाहिए ऐसा मेरा ख्याल है ताकि अपना ठिकाना फिट तो बैठ जाय। एक बार की बात सुनो। हमने देहरादून में चौमासा किया, तो वहाँ पर सभी लोग बड़े विनय से, श्रद्धाभक्ति से तो रखते ही थे। ऐसा तो प्राय: सभी जगह होता है। तो वहाँ पर रोज-रोज अपने प्रति प्रशंसायें लोगों के मुख से सुनने में आवें। अब कहाँ तक सुनें, ऊब गये। एक दिन हमें यह बात सूझी कि कुछ ऐसा काम करें कि जिससे कुछ निन्दा, अपमान या गाली की जैसी बातें सुनने को मिलें। आखिर किया क्या कि प्रात: काल शौच क्रिया के लिये बाहर जाते थे, रास्ते में देखा कि कुछ पंजाबियों के लड़के गोली खेल रहे थे, तो वहाँ हमने जानबूझकर उन लड़कों की गोलियों को पैर

मारकर मामूली जरासा इधर-उधर बिखेर दिया। बस शुरू हो गया ऊटपटाँग गाली देना उन बालकों का। तो वहाँ हमको संतोष मिला कि देखो जो हम चाहते थे सो हमें मिल गया। आखिर समता से उन्हें सुनकर आगे बढ़ गया, क्षोभ का अवकाश वहाँ न आने पाया। वेदान्त की टीका में एक कथा है कि कोई गुरु शिष्य थे। वे बहुत पहुँचे हुए माने जाते थे। उनकी प्रशंसायें चारों ओर खूब फैल रही थी। उनका चमत्कार देखकर लोगों का समूह उनके पास आता-जाता था। वे बस्ती से बाहर एक पहाड़ी पर रहते थे। वहाँ के राजा ने भी उनकी प्रशंसा की बातें सुनकर उनके दर्शनार्थ अपना प्रोग्राम बनाया। खूब सज-धजकर एक बड़े समूह के साथ चल दिया राजा। उधर गुरु को यह सब भीड़भाड़ एक अपने ऊपर आफत दिखने लगी, जब यह जानकारी हुई कि राजा भी मेरे दर्शनार्थ आ रहा है तो समझा कि अब तो और भी आफत आ गई। आखिर उसने सारी आफतों से बचने का एक उपाय बनाया। क्या उपाय बनाया कि अपने शिष्य को समझा दिया कि देखो आज अपने पास राजा आयेगा। उसके सामने हम तुम दोनों रोटियों के लिये इस तरह से झगड़ेंगे। सब समझा दिया। आखिर राजा एक बहुत बड़े समूह के साथ आया, आते ही गुरु शिष्य परस्पर में रोटियों के लिए झगड़ने लगे, अरे आज तो हमको दो ही रोटियाँ दी, तुमने तो 6 खाई।...कल आपने भी तो 6 खाई थी, हमने तो सिर्फ दो ही खाई थी...। ऐसा यह सुनकर राजा दंग रह गया, सोचने लगा- अरे ! काहे के साधु ! ये तो रोटियों के लिये लड़ते-फिरते, हमने तो इनकी बड़ी-बड़ी चमत्कार की बातें सुनी थी, पर यहाँ तो कहीं कुछ नहीं। राजा तुरन्त समूह सहित वापस लौट गया। बाद में गुरु बोला अपने शिष्य से- देखो अब तो अपना काम बन गया। यदि लोगों का अधिक आना-जाना बना रहता तो वह तो अपने लिए एक आफत थी। तो मतलब यह है कि यहाँ नामवरी की बात क्या सोचना? उस बाहरी सम्मान में धरा क्या है? बल्कि वहाँ अशांति है। यदि शान्ति चाहिये हो तो कभी अपमान की बात हो रही हो तो उसका भी स्वागत करें।

1374- अध्यवसायों की मोहमूलता-

यहाँ जितनी जो कुछ अटपट बातें लोगों में दिख रही है वह सब एक इस अध्यवसाय का ही प्रभाव है। यह अध्यवसाय कैसा है? मोह ही जिसकी एक जड़ है। यह अध्यवसाय क्यों बनता है? बाह्य पदार्थों में लगाव है, प्रीति है तो ये अध्यवसाय बनते हैं। इन सबकी जड़ है मोह। मोह के मायने क्या? अज्ञान। बहुत से लोग तो इस मोह में और राग में कुछ भेद नहीं समझते, मोह में भी प्रेम होता और राग में भी प्रेम होता। लोग यों मोटे रूप में मोह और राग में फर्क नहीं समझते पर जैसे मोह में राग होता ऐसे ही मोह में द्वेष नहीं होता क्या? द्वेष भी होता। तो राग और द्वेष इन दोनों परिणतियों से न्यारी परिणति है मोह की, वह कैसे? मोह के मायने अज्ञान है। जैसे हाथी को पकड़ने वाले शिकारी लोग क्या करते कि जंगल में एक बड़ा गड्ढा खोदते, उस गड्ढे को बाँस की पतली पतली पश्चों से पाटते, उस पर ऊपर पतली सी मिट्टी लीपते, फिर उसके ऊपर एक बाँसों की कागज वगैरह चिपकाकर हथिनी बनाते, उससे कुछ ही दूरी पर उसकी ओर बढ़ता हुआ एक झूठा हाथी बनाते। अब उस जंगल का हाथी वहाँ आता, उस हथिनी को देखता, साथ ही

उसकी ओर बढ़ता हुआ हाथी को भी देखता तो झट उस हथिनी के पास दौड़ लगाकर पहुँचता, वहाँ पहुँचते ही वह हाथी उस गड्ढे में गिर जाता। अब देखिये, जंगल में उस हाथी की यह दशा क्यों हुई? क्यों गिरा वह हाथी गड्ढे में? तो उसके गड्ढे में गिरने के तीन कारण हुए। पहला कारण तो है अज्ञान (मोह), उसके ज्ञान में यह बात न थी कि यह झूठी (बनावटी) हथिनी है, यहाँ गड्ढा है, यह हमको पकड़ने के लिए रचा है। दूसरी बात उस हथिनी (कुट्टनी) के प्रति उसे राग हुआ और तीसरी बात उस नकली बनावटी हाथी के प्रति द्वेष जगा कि यह मेरा विषय छुड़ाने आ रहा। तो अब यहाँ अन्तर आ गया ना मोह, राग, द्वेष का? द्वेष क्या चीज है? जिस विषय को हम चाहते हैं उस विषय में कोई बाधा डाले, प्रतिकूल बात बोले तो वह यद्यपि अपनी कषाय का ही काम करता है, मगर इसने तो बाधा समझा उसे। उसे मान लिया कि यह राग, द्वेष की चीज है तो मोह, राग, द्वेष ये अध्यवसाय के मूल में हैं।

1375- क्रियागर्भाध्यवसाय व विपच्यामानाध्यवसाय की मिथ्यारूपता का दिग्दर्शन-

मोह ही जिसका एक मूल है, ऐसा अध्यवसाय जिसके नहीं है वह ही पुरुष यति, मुनि, साधु, साधक याने आत्मविकास में प्रयत्न करने वाला है। वे सब मोहमूलिक अध्यवसाय हैं, जैसे कि पहला अध्यवसाय बना? में अमुक को करता हूँ, मैं पढ़ाता हूँ, लिखाता हूँ, इसका सब कुछ करता हूँ, तो अब वहाँ इतना ज्ञान न रहा कि मैं हूँ ज्ञानमात्र अन्त: प्रकाश और मेरी क्रिया जानन है। भीतर ज्ञानस्वरूप है ना यह जीव आत्मा ज्ञानमात्र अमूर्त, जिसका ज्ञान इन्द्रिय द्वारा नहीं, वचनों द्वारा नहीं, उपयोग वैसा बनावें, प्रयोग करें वैसा बन सकें तो अपना आत्मस्वरूप अनुभव में आ जायगा। मैं ज्ञान मात्र हूँ, मेरा काम तो जानन है। जो इस स्वरूप में ही, अन्दर प्रदेशों में ही स्वच्छ तरंग जाननरूप से उठ रही है, जिसमें रागद्वेष की कोई कीचड़ नहीं, कोई विकल्प नहीं, विशुद्ध जानन क्रिया है, मेरा काम तो विशुद्ध जानन है, खाना-पीना, लिखना-पढ़ना, अमुक-तमुक जो कुछ भी बातें चल रही है, इनको मैं नहीं करता मैं तो जानन को ही करता। देखो, काम तो स्वभाव के आश्रय का और स्वभाव का आश्रय सुगमता से जानना है तो एक बार निमित्तनैमित्तिकभाव के यथार्थ परिचय के माध्यम से प्राप्त करने तो चलें। उसके बाद परम शुद्धनिश्चयनय बनेगा, अनन्तर शुद्धनय होकर ऐसा जल्दी उतरेंगे स्वभाव में कि और आसानी रहेगी। उस परिचय में आपको दिखेगा क्या कि ये जो रागद्वेष, विकार क्रियायें, जितनी भी ये विकृतियाँ हैं ये मूल में तो कर्म में पड़ी हुई हैं और उस विकार रूप से परिणम रहे कर्म का यह प्रतिफलन है क्योंकि मैं उपयोग दर्पण की तरह स्वच्छ हूँ उसमें इसकी फोटो है, प्रतिफलन है, यह मैं नहीं, यह मेरे स्वरूप की चीज नहीं। यह तो पौद्गलिक, नैमित्तिक, औपाधिक है, मैं तो अन्त: चैतन्य स्वभावमात्र हूँ। देखिये, विभाव में उपेक्षा कब बनेगी, जब वे परभाव हैं, यह बात समझ में आयगी और परभाव हैं, यह समझ बनाने के लिए समयसार में इस बात पर जोर दिया 'कर्मोदयविपाकप्रभवा भावा: परभावा न ते मम स्वभावा:' ये कर्मोदयविपाकप्रभव, ये विकृतियाँ विभाव हैं मेरे स्वरूप नहीं, मैं तो अपने अन्त: जानन क्रिया को करता हूँ, अपने स्वरूप में ही रहता।

1376- स्वभावाभिमुख होकर स्वभावस्थ होने के पौरुष की श्लाघनीयता-

अन्त: स्वभाव के परिचय का उद्देश्य केवल एक ही है कि किसी भी तरह उन सर्व विकल्पों से हटकर स्वभाव का आश्रय करूँ। स्वभावाश्रय के पहले शुद्धनय आता है, शुद्धनय बिना स्वभावाश्रय नहीं हो सकता। उस शुद्धनय से पहले परमशुद्ध निश्चयनय आता, उससे पहले अनेक बातें आती हैं मगर उसका प्रयोग इस ढंग से करना होता कि जिससे विभाव छूटें और स्वभाव की अभिमुखता बने, यह ही एक प्रयोग करना। और देखो, अपने को तो अपना काम बनाना है, एक चैतन्यस्वरूप का आलम्बन बने उसमें ही मग्नता रहे, एक यह बात चाहना है। इसके लिए जो प्रयोग बन सके उसे करें, पर यह निश्चय है कि आखिरी प्रयोग शुद्धनय है, शुद्धनय हेय नहीं। जिसने शुद्धनय को नहीं त्यागा, जिसने शुद्धनय का ग्रहण किया उसके बंध नहीं है। मगर और और बातें और और परिणतियाँ जो शुद्धनय से पहले होती हैं या जो जो कुछ भी काम करके उस सबसे हम ऐसा प्रयोग बना सकते हैं कि जिससे स्वभाव में मदद पा सकते हैं, सो ये पूजन-वंदन आदिक क्रियायें ये मंदरागमयी है। मेरी क्रिया तो ज्ञप्ति है, जानन है, ऐसा भेद जिसने जाना, अध्यवसाय को जिसने मिटा दिया वह पुरुष धनी है और अपने आपमें वह एक ब्रह्म प्रकाश पाता है। ये अवस्थायें, ये परिणतियाँ मनुष्य, तिर्यञ्चादिक जो जो भी चीजें बन रही हैं यह मैं नहीं हूँ, ये कर्मविपाकप्रभव हैं। मैं तो एक ज्ञायकस्वरूप हूँ, मैं तो एक अन्तस्तत्त्व चैतन्यस्वभावमात्र हूँ। इसमें तो बहुत अन्तर है- कहाँ तो ये विकार और कहाँ यह मैं ज्ञान स्वभावमात्र।

1377- ज्ञायमानाध्यवसाय के मिथ्यापन का कारण-

जानने में जो कुछ आ रहा यह कुछ भी जानने में नहीं आ रहा। जिसको हम जान रहे हैं कि इतने लोग बैठे हैं परमार्थत: ये कुछ भी मैं नहीं जान रहा हूँ। किन्तु मैं उस प्रकार के ज्ञेयाकार ग्रहणरूप, जाननरूप अपने आत्मा को जान रहा हूँ। मेरा ज्ञान मेरे आत्मा से निकलकर कहीं बाहरी पदार्थों में घूमता है क्या? जाता है क्या? अरे ! यह ज्ञानराजा अपने इस ज्ञानकिले में ही विराजा हुआ, बस यह सब कुछ अपने में इन सबको जान रहा है। जैसे दर्पण सामने है तो पीठ पीछे की दूसरी चीजें उसमें प्रतिबिम्बित होती है। देखते हैं सामने दर्पण को मगर वर्णन पीछे होने वाली घटनाओं का करते जाते हैं। इसी तरह यह आत्मा देख किसे रहा, जान किसे रहा? अपने आत्मा को, अपने आत्मा की परिणति को मगर यह समस्त विश्वाकार ग्रहण चल रहा है; इस ज्ञाता की, इस ज्ञान की प्रकृति ही यह है कि दुनिया में जो भी सत् है वह सब यहाँ झलके। यह जाना तो असल में हमने जाना किसे? अपने को ही, मगर यह भ्रम बन गया कि मैं इसको जानता हूँ, इसको समझता हूँ, तो इसके साथ ही साथ उसमें ऐसा लीन हो जाता है कि अपने आपके उस स्वरूप को भूल जाता है। जैसे दर्पण पर अंधकार का फोटो आया तो दर्पण की स्वच्छता विलुप्त हो गई इसी तरह इस उपयोग ने इन बाहरी पदार्थों में अपना जुटान किया भर तो जुटान करने के कारण अब यह उपयोग की स्वच्छता तिरोहित हो गई। यह सब आया तो उसी पद्धति से ही उपयोग में, मगर अपने को भूले

और बाहर में उपयोग जुटाया इस कारण से यह आत्मा पूरा अंधेरे में है। उस समय यह अज्ञानी ज्ञायमान अर्थ में तन्मय होता हुआ अपने स्वरूप को भूलकर व्यग्र होता है।

1378- त्रिविधाध्यवसायरहित यतियों के आत्मतृप्ति-

ये अध्यवसाय तीनों तरह के जिन पुरुषों के नहीं है वे पुरुष यति हैं, उन मुनिजनों का निरन्तर साक्षात्कार हो नहीं तो प्रतीति में तो निरन्तर है। कभी अनुभव, कभी प्रतीति यह सब है। लोग तो बड़ा आश्चर्य करते कि मुनिजन अकेले ही रहते हैं एकान्त निर्जन स्थान में, फिर भी प्रसन्न रहते हैं, उनको यह इच्छा ही नहीं होती है कि मेरे पास कोई आये। कोई आ नहीं रहा, भीड़-भाड़ नहीं हो रही, कुछ नहीं हो रहा, जंगल में उन मुनिराज के पास कोई प्रकार का सहारा देने वाला नहीं, कोई बात करने वाला भी नहीं, उनका कैसे मन लग जाता होगा? यहाँ लोग संदेह करते ना? अरे ! उन मुनिराज को तो इतना बड़ा भगवान मिला है कि वे उससे ही बातें करते रहते हैं। भला भगवान बातें करने को मिल जाय तो फिर उसके आगे मोह, रागद्वेष से बात करने की उमंग रह सकती क्या? उन मुनियों को जंगल में, अपने आपके आत्मा में अपना भगवान अंतस्तत्त्व मिल गया; उसी की दृष्टि में, उसी की चर्चा में, उसी के ध्यान में जब वे मग्न हो रहे, वहीं जब उनको आनन्द मिल रहा तो वे क्यों इच्छा करे कि मेरे पास कोई आता नहीं, मेरे से कोई बोलता नहीं, मैं कहाँ हूँ? कोई नौकर भी नहीं, कोई परिवार भी नहीं, कुछ धेला पैसा भी नहीं, उन्हें क्या परवाह? वे तो अपनी अन्त:दृष्टि करके निरन्तर अमृतपान करते रहते हैं, ज्ञानमात्र अपने आत्मा का अनुभव करते रहते हैं, ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व में तृप्त होते रहते हैं, संतुष्ट होते रहते हैं। उनको अन्य किन्हीं बातों की क्या परवाह? यों उनको संतोष होता है। तो जिन्होंने इस अध्यवसाय को त्याग दिया वे पुरुष अपने आपमें तृप्त रहते और मोक्षमार्ग में अपनी प्रगति बनाते हैं।

कलश 173

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजित: ।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥173॥

1379- अध्यवसानों में स्वार्थक्रियाकारिता का अभाव तथा सर्वजीवसाम्यभाव से स्वभाव की अभिमुखता-

अध्यवसान का प्रकरण चल रहा है। यह अज्ञानी जीव दूसरे जीवों के प्रति कुछ भी करने का भार रख रहा है। मैं इसे ताढ़ूँ, मारूँ, पालूँ, ठीक करूँ आदिक नाना प्रकार के यह परिणाम बनाता रहता है, मगर उसके ये सब परिणाम मिथ्या हैं, अर्थात् जो उन परिणामों में विचार बनाया गया वह काम वहाँ हो ही जाय सो तो कुछ है नहीं, और हो भी जाय तो भी इसके परिणाम की वजह से हुआ सो बात नहीं। इस कारण यह अध्यवसाय मिथ्या है। दूसरी बात खुद के लिये विचार करें, अध्यवसाय में करके खुद क्या भला पा लोगे, दूसरे का अनर्थ सोचकर, दूसरों को बाधा देकर, दूसरों के विरुद्ध अपनी विकल्पधारा चलाकर; सोचें तो सही कि अपने लिये कौनसी उपलब्धि होगी? उपलब्धि यही है पाप का बन्ध है और भविष्य में, विपाककाल में दु:खी होना पड़ेगा। भैया, अपने आप पर दया करके एक निर्णय तो बनावें, हम उस पर कितना चल पाते या नहीं चल पाते, भले ही यह अन्तर आये, निर्णय यह ही होओ। संसार के सब जीव, सभी मनुष्य, सभी पड़ोसी मेरे स्वरूप के समान हैं, उनमें ये मेरे हैं, ये गैर हैं, ये दो बातें नहीं पड़ी हुई हैं। यह अपने अध्यवसाय से, अपनी ही कल्पना से ये दो भेद पड़े यह मेरा, यह गैर। वस्तुत: सब समान हैं सबका यही स्वरूप है। तब किसी के प्रति कुछ करने का अहंकार अनर्थ का भाव न सोचें। कुछ करने का अहंकार न जगे, इसके लिये यह ज्ञान कीजिये कि मैं स्वतन्त्र सत् हूँ,दूसरे जीव स्वतन्त्र सत् हैं। कोई किसी की परिणति कर पाता क्या? मैं तो दूसरे जीवों के सुख-दु:ख में निमित्त तक भी नहीं होता। भले ही उसके पुण्य का उदय हो या पाप का उदय हो, तो मैं आश्रयभूत कारण बन जाऊँ, तो यह उपयोग मेरी और जुटाये, ऐसा तो भले ही हो जाय, मगर मैं दूसरे के सुख-दु:ख में निमित्त कारण कतई नहीं होता, कभी भी नहीं, क्योंकि जीव के सुख-दु:ख का निमित्त कारण उनका कर्मोदय है।

1380- अध्यवसायों का त्याग कराने का उपदेश-

यहाँ अध्यवसाय छुड़ाने का प्रयत्न हो रहा है आचार्यदेव का। देखो, सभी जगह चाहे शुभ प्रसंग हों चाहे अशुभ प्रसंग हों, ये समस्त अध्यवसाय त्यागने के योग्य ही हैं। भगवान की पूजा हो रही, भक्ति बन रही, गुणगान हो रहा, होने दो, उस पदवी में हो रहा, मगर उसमें यह भाव लाना कि मैं भगवान को पूज रहा हूँ तो भगवान तो पदार्थ हैं, हैं शुद्ध, मैं यह हूँ परमार्थत:, मैं उन्हें कैसे पूज सकता हूँ? भगवान में उपयोग देकर मैं अपने आपको ही तो पूज रहा हूँ। जो गुण विकास मुझमें हो रहा है, मेरा जो परिणमन है, उसी का ही तो नाम पूजा है, अध्यवसाय न रहना चाहिए। सभी स्थितियों में अध्यवसाय को त्यागने याने दूसरे जीव अजीव पदार्थों का आश्रय लेकर उनमें उपयोग जोड़कर जो-जो कुछ भी यहाँ करने की बात सोचते हैं, लगने की बात सोचते हैं, तन्मयता की बात निरखते हैं, वे सब अध्यवसाय त्याज्य हैं; उन्हें नहीं ग्रहण करना क्योंकि वे सब मिथ्यात्व का रूप है। अपने आपकी जानन क्रिया को त्यागकर, वहाँ से दृष्टि हटाकर, स्वरूप की सुध छोड़कर, क्रिया में अध्यवसाय, वस्तु में अध्यवसाय और अपने विचारों में अध्यवसाय होना, सब मिथ्याभाव है; मैं इन सबसे निराला केवल ज्ञप्तिमात्र हूँ, सो जब यह एक स्थिति है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र स्वतंत्र है, कोई

पदार्थ किसी अन्य पदार्थ की कुछ परिणति नहीं करता, तो फिर क्यों बाहरी जीवों में नाना प्रकार की बातें करूँ मैं क्यों व्यर्थ में विकल्प करता रहूँ और होना वहाँ वह है जो वहाँ के विधान में है। अध्वसायी के विचार से वहाँ कुछ हो नहीं रहा है, तब फिर मैं व्यर्थ पाप ही तो बाँध रहा, मिथ्यात्व ही तो बाँध रहा, दु:ख ही तो बाँध रहा। ऐसा क्यों दु:ख पाते हैं ये जगत के जीव? क्यों अपने स्वरूप से च्युत होकर बाह्य पदार्थों में उपयोग देकर दु:खी हो रहे हैं?

1381- जीवों को अध्यवसायरहित देखने का परम:वात्सल्य-

अध्यवसाय को त्यागकर क्यों नहीं ये जीव अपने निष्कम्प स्वभाव का आश्रय करके ज्ञानघन विशुद्ध याने मैं, मैं, मैं अन्य नहीं ऐसा जो इसका सहजस्वरूप है, अपने ही सत्त्व के कारण जो एक चैतन्य प्रकाशमान स्वरूप है उस स्वरूप में, उस महिमा में अपने को रखकर क्यों नहीं धैर्य धरते? क्यों नहीं धीरज बनाते? अपना ज्ञानस्वरूप उत्तरोत्तर बना रहे ऐसी बात क्यों नहीं बनती? अच्छा एक जरा मोटी-सी बात सोच लो, लोग इस मनुष्यभव में बड़े-बड़े पुलावा बाँधते रहते राग के और द्वेष के। पर यह तो बताओ कि ये जो दिखने वाले लोग हैं ये क्या आपके अधीन हैं? नहीं, आप जैसा सोचें वैसा वहाँ हो जाय यह बात नहीं। हो भी जाय कदाचित् वह परिणमन, आपके सोचने के समय या बाद में किसी दूसरे को सुख अथवा दु:ख हो भी जाय तो भी ऐसा नहीं है कि आपके सोचने से दूसरे को सुख अथवा दु:ख हुआ है। फिर उस प्रकार का अहंकार रखकर अपने को संसारबंधन में क्यों डाला जाय? सर्वजीवों में वात्सल्य आये बिना भीतर की बाधा दूर नहीं हो सकती। इसके प्रताप से इसके स्वानुभव की पात्रता जगती है।

1382- स्वात्मोद्धार के पौरुष में विवेकता-

भैया, अपने को तो अपना काम करना है, अनादिकाल से रुलते-भटकते, अनेक कष्ट भोगते जो बिताया है समय, ऐसी अपवित्रता में समय बिताना क्या अभीष्ट है? जन्म और मरण, जन्म लेना, मरण करना, जन्म लेना मरण करना, ये जन्म-मरण के ताँते, यह परम्परा सुहाती है क्या? एक ओर जब विषयों में प्रीति है और अध्यवसाय चलता है, कषायों में लगाव है तो उसका स्पष्ट विषय है कि जन्म-मरण चलते जायेंगे। दोनों ही प्यारे लग रहे क्या? कषायें भी प्रिय लगें, विषय भी प्रिय लगें और जन्म-मरण भी प्रिय लगें, कितना अंधेर? कितना अज्ञानमयभाव। और देखो, दूसरों को देखकर खेद न करें, अपनी ही बात विचारें और अपनी ही सम्हाल बनावें। जगत में अनन्तानन्त जीव हैं, मनुष्यों से ही पूरा परिचय नहीं है और फिर पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च या और-और जीव, अनन्तानन्त जीव, दूसरों का उद्धार करना, दूसरों का कल्याण करना, यह अभिप्राय स्वार्थक्रियाकारी तो नहीं है, तो फिर ऐसी भीतर में आस्था रखना, भीतर में ऐसी उमंग रखना कि मैं तो दूसरों के उद्धार के लिए ही जन्मा हूँ, यह आशय मिथ्या है, यह बात निरखें। तो आपका उद्धार होते देखकर दूसरे जीव भी अपने आपके मनन से अपने उद्धार की बात पा लेंगे। तब स्वयं में स्वयं का मनन बनाना है।

1383- स्व में स्वक्रिया का दर्शन-

यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा अपने आपके स्वरूप में ही बस रहा हूँ, अपने प्रदेशों से बाहर नहीं, जो कुछ किया जा रहा है वह अपने आपमें किया जा रहा है अपने प्रदेशों से बाहर नहीं। भलीभाँति देख लो, आप क्या करते हैं, किसके द्वारा करते हैं, किसके लिए करते है, किसमें करते हैं? अमूर्त ज्ञानमात्र यह आत्मा सिवाय ज्ञान-तरंग उठाने के और क्या करेगा? स्वच्छ तरंग उठाये, विकल्प रूप से उठाये, अपने आपकी परिणतियों के सिवाय और करेगा क्या? बाहर में किसी के सुख, दु:ख, इष्ट, अनिष्ट का विचार करना यह हो क्या रहा है? खुद में खुद के ज्ञानविकल्प चल रहे हैं, इसका असर बाहर में कुछ नहीं हो रहा है। बाहर में सांसारिक बातों के वे कर्म निमित्त हैं, बुद्धिपूर्वक विचार जगे उनका तो दूसरा आश्रयभूत बनता है, मगर मैं यहाँ जीव किसी दूसरे का क्या भला करता हूँ और क्या बुरा करता हूँ? इस ओर जब उपयोग नहीं लगा है तो अपने स्वरूप से हटकर बाहरी क्रियावों में उपयोग करने लगा है, रागद्वेष विपाकमयी क्रिया में उपयोग फँसासा है तो यह तो बेचारा बन गया, असहाय बन गया, अपने आपमें अपनी कुबुद्धि से रीता बन गया, इसको चैन कैसे मिलेगी। बाह्यदृष्टि और उसमें यह आस्था बने कि यह मेरा है; मेरा जिसके विकल्प है, यह विकल्प ही कष्ट है, कहीं दूसरे से कष्ट नहीं आया करता। जितने सुख भोगते हैं सांसारिक तो अपने आप ही में सहज आनन्दगुण का ही विकृत परिणमन करना है। सुख और दु:ख में बाहर से कोई चीज नहीं आती, बाहर की वस्तु में यह उपयोग देता है और सुख-दु:ख पाता है, सो अपने ही आनन्दगुण के विकार- परिणमन से सुख-दु:ख पाता है। तो जब बाहरी जीवों में, दूसरों में मेरा कुछ अधिकार नहीं तब फिर बाहरी रागद्वेष की क्रियावों में रागद्वेष विकार क्यों जगता है? भैया ! ज्ञाता-द्रष्टा बनें कि ये कर्मरस हैं, मेरे स्वरूप नहीं है, मेरा स्वरूप तो ज्ञानस्वभाव है, इस ही ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व में अधिकाधिक लगें।

1384- धर्मपालन में नि:शंकता का महत्त्व-

धर्मपालन करें, मतलब अपने धर्म में, अपने स्वभाव में आत्मतत्त्व की दृष्टि बनावें, उस स्वभाव का आश्रय करें, यह ही धर्मपालन है, अब ऐसा करने के लिये जो उद्यत होता है सो एकदम यह बात भी नहीं बैठती, क्या-क्या बात बनेगी, किस-किस ढंग से वह गुजरेगा, क्या होगा, वह सब चरणानुयोग में जो बताया गया है उसके अनुसार उसकी प्रवृत्ति है। उसमें गुजरता हुआ यह चला अपने आपमें प्रवेश पाने के लिए, धर्मपालन के लिये। कष्ट आयें तो विह्वल न हों, क्योंकि उन कष्टों को, उन विह्वलताओं को दूर कराने में समर्थ यह हमारा धर्मपालन है। अनागार धर्मामृत में आया है कि कोई राजा जैसे किसी बड़ी सेना को पाल-पोष रहा है, मेरे पर कोई शत्रु आक्रमण न करे इस आशय से उस सेना पर करोड़ों रुपये खर्च कर रहा है। अब इस तरह से सेना को पालते पोषते बहुत दिन व्यतीत हो गये। अचानक ही किसी शत्रु ने उस राजा पर आक्रमण कर दिया तो वह क्या उस राजा का यह कर्तव्य है कि बस घबरा जाये, दु:खी होकर, हताश होकर बैठ जाये? क्या वह यह घोषणा कर दे कि मैंने व्यर्थ ही सेना के पीछे इतने दिनों तक इतना खर्च किया,

हटाओ? इस सेना को...क्यों? इस शत्रु ने हमारे ऊपर आक्रमण कर दिया? अरे ! वहाँ तो यह चाहिये कि उस मौके पर और भी अधिक शक्ति बढ़ा ले, सेना बढ़ा ले, खर्च बढ़ा ले और डटकर उस शत्रु का मुकाबला करके उस पर विजय प्राप्त कर ले? यदि उस मौके पर उस सेना को हटाना सोचे तो जैसे वह उस राजा की मूर्खता है, उसे बुद्धिमानी न कहा जायगा, इसी प्रकार यहाँ धर्म के मार्ग में कोई सोचे कि हमने तो अपने जीवन भी खूब धर्म किया, प्रतिदिन देवदर्शन किया, स्वाध्याय किया, जाप किया, पूजापाठ किया, व्रत उपवास किया, खूब धार्मिक कार्यों में अपना समय लगाया फिर भी ये दु:ख हम पर आते हैं, सुख तो हमें मिला ही नहीं, जबकि कहा यह गया है कि धर्म करने से दु:ख दूर होते हैं, सब प्रकार के सुख-साधन प्राप्त होते हैं, तो हमें तो यह बात देखने को मिली ही नहीं, इसलिए धर्मकर्म सब बेकार हैं, छोड़ो इस धर्म को।...ऐसा अगर किसी के मन में आये और वह इस धर्म को छोड़ बैठे तो उसे विवेकी कहा जायगा क्या? अरे ! वह तो उसकी मूर्खता है। उस समय तो धर्म में और अधिक प्रीति बढ़ावें।

1385- धर्मात्मा पर कष्टाक्रमण की असंभावना-

भैया, प्रथम तो यह समझना चाहिए कि यदि हमें दु:ख सताते हैं तो हमने अभी तक वास्तव में धर्म किया ही नहीं, धर्म के स्वरूप को जाना ही नहीं, दृष्टि बाहर ही बाहर लगी रही। यदि धर्म किया होता तो उसके फल में सुख शान्ति की प्राप्ति न हो, यह हो नहीं सकता। धर्म है वास्तव में अपने आत्मा का जो सहज चैतन्यस्वरूप है उसमें आत्मप्रत्यय रखना कि मैं यह हूँ, उसका आश्रय होना यह धर्मपालन है, अगर ऐसा करते हुए भी कष्ट आये तो उसे कष्ट न मानना चाहिए। देखिये सुकुमाल, सुकौशल राजकुमार जैसे मुनियों पर भी ऐसा करते हुए में कितने-कितने उपसर्ग आये, बाहर से देखने में तो ऐसा लगेगा कि उनको बहुत बड़ा दु:ख हुआ होगा पर वहाँ उनके अन्दर में देखो तो दु:ख का नाम नहीं। वह उस समय वास्तविक धर्मपालन कर रहे थे, अपने आत्मस्वभाव के दर्शन में आनन्दविभोर हो रहे थे, उनको रंच भी दु:ख का आभास नहीं, अन्त:-प्रसन्न रहे, यद्यपि पूर्वकृत कर्म के उदय से ऐसे उपसर्ग आये फिर भी उनका उपयोग बाहर-बाहर नहीं भटका, वे अपने आपके स्वरूप में और विशेष लगे जिससे कि उन बाहरी कष्टों का, उपसर्गों का उन पर रंच भी प्रभाव न पड़ा।

1386- पराश्रित व्यवहार की विडम्बितता व त्याज्यता-

इस जीव ने अब तक किया क्या? अनादि से अब तक यही-यही तो किया। बाहरी पदार्थों में, जीवों में यह मैं ऐसा हूँ, और यह भी ऐसा है इस तरह जिसकी कषाय से, मिल गई उसको तो मित्र बनाकर चल रहे और जिनकी कषाय से अपनी कषाय न मिली उनको द्वेषी मानकर चल रहे, यह ही किया इस जीव ने आज तक। वास्तव में यहाँ न कोई जीव किसी का मित्र न शत्रु, सब स्वतंत्र-स्वतंत्र जीव हैं, मगर देख लो, प्राय: एक दूसरे के शत्रु अथवा मित्र बन रहे हैं। तो बात वहाँ यह है कि जिसकी कषाय से जिसकी कषाय मिल गई वह उसका मित्र बन गया और कषाय से कषाय न मिली तो शत्रु बन गया, जैसे घर के किसी बड़े को

अपनी स्त्री या पुत्रों से कुछ मनमुटाव हो गया, एक दूसरे से मन नहीं मिलता तो वहाँ वह बुजुर्ग क्या करता कि उसको उस घर में जाना बुरा लगता। अब रहना तो पड़ता ही, मगर उसका वहाँ मन नहीं लगता, तो वह क्या करता कि दूकान में अधिक समय तक रहता, दूकान का काम, कमाई का काम तो किए बिना चलेगा नहीं, वह तो करता है पर उसके भाव देखो, उसका उस घर में मन नहीं लगता ठीक ऐसा ही नग्न स्वरूप है जगत का। सब जीवों के स्वरूप को निरखो, जिसके निरखने से अपने आपमें समता जगती है। तो वहाँ आचार्यदेव ने जो उक्त उपदेश किया उसमें यह बात दर्शायी है कि सारे अध्यवसाय त्यागने योग्य हैं, अच्छा तो जितना पराश्रित व्यवहार है, बाहरी पदार्थों में उपयोग दे-देकर जो अध्यवसाय बनते हैं ये सारे व्यवहार त्याज्य हैं।

1387- शुद्ध भाव के बर्तन में आश्रयभूत कारण का अभाव व स्वाश्रयत्व-

शुद्धभाव होने में आश्रयभूत कारण नहीं हुआ करते, एक बात। शुद्धभाव होने में सद्भावरूप निमित्तकारण नहीं होता, दूसरी बात। कालद्रव्य तो एक साधारण निमित्तमात्र वस्तु है, वह सबके परिणमन सामान्य का कारण है। ग्रन्थों में जो भी चर्चा है उनका विचार करना चाहिए। सब सही कहते। सम्यग्दर्शन के कारण बताये हैं वेदनानुभव, उपदेश आदिक, तो बात वहाँ क्या है कि जिस काल में सम्यग्दर्शन होने को है उस काल में कोई भी बाहरी पदार्थ इसके उपयोग में नहीं है। किसी भी बाहरी पदार्थ का यह सम्बन्ध नहीं कर रहा मगर जिस शुभोपयोग के बाद यह सम्यग्दर्शन हो रहा उस शुभोपयोग में तो आश्रयभूत कारण था और उस शुभोपयोग की धारा में चलते हुये ये जीव उन विकल्पों को त्यागकर, उन आश्रयों को त्यागकर, उन शुभ भावों को त्यागकर विपरीत अभिनिवेश रहित परिणति में आया है, तो सम्यक्त्व का निमित्त तो है नहीं, बाह्यवस्तु और शुभभाव का भी निमित्त नहीं, ये बाहरी पदार्थ शुभविभाव के भी निमित्त नहीं, अशुभविभाव के भी निमित्त नहीं, मात्र आश्रयभूत कारण हैं, उन विभावों का निमित्त तो कर्मोदयादि हैं, मगर सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पहले जो शुभोपयोग हुआ वहाँ के आश्रयभूत कारण को देखकर चूँकि उस ही के बाद सम्यक्त्व वह हुआ सो परम्परया कह दो, उपचार से कह दो याने उस धारा में आगे बढ़े, सो उस प्रकार से उस बाह्य आश्रयभूत कारण की चर्चा कर दो। सो यह भी कहना व्यवहार तीर्थ प्रवृत्ति का विच्छेद न हो इसलिये है। सम्यक्त्व की उत्पपत्ति में अभावरूप निमित्त है कर्म का उपशम, कर्म का क्षय, कर्म का क्षयोपशम, किन्तु बाह्य वस्तु कोई आश्रयभूत नहीं है, तो आश्रय किसका है? वहाँ आश्रय है सहज निरपेक्ष शुद्धस्वभाव का आश्रय। इस आश्रय से सम्यक्त्व हुआ।

1388- सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र का व्यय-आय स्थिति के रूप में परिचय-

अब यहाँ देखना- सम्यक्त्व एक विपरीत अभिप्रायरहित परिणाम है। उसको हम किस रूप में बता दें? यथार्थ कि यह है सम्यक्त्व उसके चिह्न बताये गये प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य, तो वह भी आभासरूप मिल सकता कि है प्रशमाभास, दिखता है प्रशम। सम्यक्त्व का कौनसा चिह्न ऐसा कहा जाय कि जिसे

देखकर हम निर्णय बना लें कि यह सम्यग्दर्शन है? इसीलिए सम्यग्दर्शन को अनिर्वचनीय कहा। उसका स्वरूप बताया तो जरूर है मगर अन्य रूप में ढालकर बताया गया है। जैसे आत्मामें रुचि होना सम्यग्दर्शन। अब रुचि सम्यक्त्व की परिणति है या चारित्र की? चलते जावो? आत्मा के शुद्ध स्वरूप का प्रत्यय होना सम्यग्दर्शन है। प्रत्यय होना मायने दृढ़ ज्ञान होना, वह किसकी परिणति है? किस तरह बतायें सम्यग्दर्शन को? उसका विश्लेषण, उसका प्रकट रूप बतायेंगे तो किसी दूसरे के सहारे। तब फिर सही बात यह है कि सम्यक्त्व से पहले क्या था? मिथ्यात्व, मिथ्यात्व का उदय। और, वहाँ हो क्या रहा था? विपरीत अभिप्राय। मैं इसे मारूँ, मैं इसे पालूँ, ऐसी बात समझ में आ रही है ना? मिथ्यात्व की बात तो बहुत समझ में आती है कि ऐसी क्रिया में अध्यवसाय, विपाक अध्यवसाय, जानने में अध्यवसाय, यह है मिथ्यात्व। अब मिथ्यात्व प्रकृति का उदय निवृत्त हो गया, यहाँ क्या हो गया? विपरीत अभिप्रायनिवृत्त हो गया। इसी बात पर 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' में मोक्ष की ऐसी प्रक्रिया बतायी कि जिससे उत्पाद, व्यय स्थिति जैसा बोध होता। याने वहाँ उत्पादव्यय की स्थिति की मुद्रा में स्वरूप चल रहा है। जैसे-कहा है- 'विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यस्य निज तत्त्वम्। आत्मन्यविचलनं यत् सम्यक् पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम्'। याने विपरीत अभिप्राय को नष्ट करके और अपने तत्त्व को व्यवसित करके, निश्चित करके, जान करके जो अपने स्वरूप में निश्चल स्थित होना है, यही पुरुषार्थ-सिद्धि का उपाय है। नाश हुआ विपरीत अभिप्राय का, तो नाश के जरिये इसने सम्यग्दर्शन को पहिचाना। आत्मतत्त्व का वहाँ निश्चय हुआ इसे कहा वहाँ कुछ छूटनेजैसेढंग से और यह क्या बना? इस प्रकार ढंग से तत्त्वव्यवसाय याने सम्यग्ज्ञान हुआ और अपने आत्मस्वरूप में स्थित हुआ, ध्रुव हुआ, यों ध्रुवता के ढंग से चारित्र को पहिचाना, विश्वास किया। ये विपरीत अध्यवसाय, ये सारे अध्यवसाय, ये सब पराश्रित व्यवहार इन सबकी जहाँ आखिरी हो और एक शुद्ध ज्ञानघन आत्मा में, जिसकी अद्भुत महिमा है, उस अंतस्तत्त्व में स्थित हो सब, यह ही मोक्ष का मार्ग है। तो यहाँ आचार्यदेव आश्चर्य के साथ कहते हैं कि देखो ये पराश्रित चलते हैं, वहाँ कष्ट ही कष्ट है, तथ्य भी नहीं, वस्तु स्वभाव के विपरीत हैं, फिर यह जीव क्यों नहीं अध्यवसाय को त्यागकर अपने शुद्ध ज्ञानघन स्वरूप में ठहरकर धैर्य प्राप्त करता?

1389- व्यग्रतास्वरूप पराश्रितभाव व्यवहार की त्याज्यता-

उस कलश में यह कहा जा रहा है कि सर्व प्रकार के अध्यवसाय त्यागने योग्य हैं? क्यों त्यागने योग्य है क्योंकि ये सब पराश्रित भाव हैं, मायने किसी पर का आश्रय करके उसमें उपयोग दे करके ये बने हुए भाव हैं। मैं इसको मारूँ, जलाऊ, कुछ करूँ, ये सब पराश्रित भाव होने से सभी के सभी त्यागने योग्य हैं। भला, परखो पराश्रितता, यह एक तरह से उधार लेने से भी अत्यन्त खराब है, ऐसी पराश्रिता से उत्पन्न हुए भाव क्या इसे कहीं चैन लेने देंगे? आत्मा की सुध से निकलकर बाहर फिंका हुआ उपयोग क्या चैन से रह सकेगा? सभी प्रकार के अध्यवसाय त्याज्य हैं क्योंकि ये पराश्रित हैं, और आत्माश्रित क्या है? एक अपने आपका सहजशुद्ध विशुद्ध निरपेक्ष ज्ञानस्वरूप का आश्रय वह एक अपने अधीन चीज है। तो जितने पराश्रित

भाव हैं वे सब त्याज्य हैं और स्वाश्रित भाव उपादेय हैं। स्वाश्रित को कहते हैं निश्चय और पराश्रित को कहते हैं व्यवहार। ये सब पराश्रितभाव याने पर का आश्रय करके जितने भी हमारे विकल्प बनते हैं, ये व्यवहार सभी त्यागने योग्य हैं। देखो, आत्माश्रय करें तो ये पराश्रयभाव दूर होंगे। पराश्रयभाव में पर की ओर दृष्टि देकर उनका निषेध करके या उन्हें विपरीत बताकर या कुछ कहकर जो आप बात कहेंगे वह भी पराश्रितभाव होगा। ये पराश्रितभाव त्याज्य हैं, पर से हटें, पर में न लगें, ऐसा जब कभी मनन चले, कल्पनायें चलें तो वे पराश्रित हैं या स्वाश्रित? पर के लिए मनन करें इस पर का आश्रय न करें यह पराश्रित बात हुई या स्वाश्रित? पराश्रित बात, पर में विधि बने, पर में निषेध बने, किसी तरह पर में भाव जाय, उसमें उपयोग हो वह पराश्रित है। सभी पराश्रितभाव त्यागने योग्य हैं याने हम पर को देखे ही नहीं, आत्मा को देखें, आत्मा में रत हों, क्योंकि जितने भी पराश्रित अध्वयसान हैं वे बंध के कारण हैं इसलिए पराश्रित भाव छुटायें मायने व्यवहार ही सारा छुटाया।

1390- निश्चय की प्रतिषेधकता व व्यवहार की प्रतिषेध्यता-

लो परखो, व्यवहार प्रतिषेध्य हुआ, निश्चय प्रतिषेधक हुआ। पराश्रित जितने भी संकल्प-विकल्प हैं वे सब प्रतिषेध्य हैं, निषेध करने के योग्य हैं और स्व की दृष्टि, स्व का आलम्बन यह प्रतिषेधक है। हम स्व का आश्रय करके परिणमें तो व्यवहार छूटे, गड़बड़ तो वहाँ है कि प्रतिषेधक भाव तो आता नहीं और प्रतिषेध्य में जोर देते कि व्यवहार त्याज्य है, सभी कामों में यही अन्तर पड़ गया। जैसे शुभभाव व्यवहार है, प्रतिषेध्य है मगर प्रतिषेध्य तो तब कहलाता है जबकि प्रतिषेधक हमारे सामने है। तो हम प्रतिषेधक का तो आदर न करें, प्रतिषेधक का तो उपयोग न करें और प्रतिषेध्य की मुख्यता रखें तो वह तीर्थप्रवृत्ति कायम रखने में बाधक है। जो शुभभाव हैं वे प्रतिषेध्य हैं। जैसे- दान, पूजा, भक्ति, अनुराग, यात्रा, आदरभाव आदि ये सब भी, शुभभाव भी प्रतिषेध्य हैं क्योंकि इन शुभभावों को ख्याल में रखना, शुभभावों का अध्यवसाय करना ये तो प्रतिषेधक भाव के बाधक हैं। प्रतिषेधक की सुध रहे तब तो प्रतिषेध्य का प्रतिषेध कार्यकारी है और यदि प्रतिषेधक की ओर दृष्टि नहीं है और प्रतिषेध्य किये जा रहे हैं तो वह कार्यकारी नहीं। कभी कोई प्रतिषेध्य का तो खूब बखान किया जावे पर प्रतिषेधक की कुछ चर्चा भी नहीं, सहज अंतस्तत्त्व की बात को अभी तक समझते ही नहीं, केवल इतना भर सुन लिया कि यह त्यागने योग्य है, इसे छोड़ना योग्य है, व्यवहार कार्य करना अयोग्य है, बस इतनी भर तो समझ रखी और उसकी तुलना में हमको और क्या काम करना चाहिये, इतनी बात यदि दृष्टि में न हो तो उसमें विडम्बना की बात आती है। इसलिये प्रतिषेधक को समझना एक खास बात है, और, जो आत्माश्रित भाव बनेगा तो वह तो प्रतिषेधक हो ही जायगा, इसलिये निश्चय के विषयभूत अंतस्तत्त्व में, शुद्धनय के विषयभूत अंतस्तत्त्व में जैसे उपयोग बने, और लक्ष्य बने उसकी उमंग यहाँ होनी चाहिये। प्रतिषेधक का लक्ष्य बनने पर उस शुभभाव-व्यवहार को भी हटायें, प्रतिषेध्य करें और प्रतिषेधक याने अन्तस्तत्त्व के लक्ष्य में जुटें तो यह तो मोक्षमार्ग की आज्ञा है कि इस तरह से प्रवृत्ति बनायें। तो कोशिश यह

करें, हम अधिकाधिक प्रयत्न करें कि हमारा स्वभाव हमारा स्वरूप हमारी दृष्टि में रहे।**1391- व्यवहाराश्रयाग्रह में मुक्ति की असंभवता-**

अच्छा, तो बात यह कही जा रही है कि सारा व्यवहार प्रतिषेध्य है। क्यों प्रतिषेध्य है क्योंकि व्यवहार को तो अभव्य भी कर सकते, उन्हें कभी सिद्धि नहीं मिलती, क्योंकि उनके चित्त में प्रतिषेधक का लक्ष्य नहीं बना। ऐसे ही भव्य भी कोई हो और उसका प्रतिषेधक का लक्ष्य नहीं बनता तो उसका जो व्यवहार है वह व्यवहार शान्तिमार्ग का कार्यकारी न बनेगा। सो व्यवहार-कर्तव्य भी करते लेकिन वे तो अज्ञानी ही रहते, मिथ्यादृष्टि ही रहते, तो यह निर्णय तो न बनायें कि इन क्रियावों से हमको मुक्ति मिलेगी। क्रियावों से तो मुक्ति किसी को नहीं मिलती, न भव्य को न अभव्य को, मुक्ति मिलती है तो रागद्वेष का अभाव होने पर, अत: वीतरागता जितने अंश में है उतने अंश में उसके विशुद्धि है, मोक्षमार्ग में गमन है। राग के कारण तो मोक्षमार्ग है ही नहीं, लेकिन जो वीतरागता का लक्ष्य किए हुए है वह शरीर को कहाँ डाल आवे। एक साधु है उसको अपने स्वभाव का लक्ष्य बना, अंतस्तत्त्व को पहिचाना, उसकी साधना में धुन बनी, ठीक है यह तो बड़ा अच्छा है मगर शरीर तो अभी लगा हुआ है। अच्छा एक दिन न खायें, दो दिन न खायें, पर संयम का साधनभूत शरीर बताया गया है व्यवहार में, तो अब इस शरीर को न भोजन दें तो प्रयोग करके देख लो, क्या दशा होती है। आलोचकों की तो यह दशा, दूसरे की आँख की फुली भी बहुत जल्दी दिख जाती है मगर अपनी आँख का टेंट भी नहीं दिखता, ऐसे ही जैसे देखो किसी के घर कोई इष्ट गुजर गया, पुत्र गुजर गया, मानो वह अकेला ही पुत्र था, तो वहाँ घर के लोग उसके पीछे बहुत-बहुत रोते। वहाँ जाने वाला पुरुष सोचता कि देखो यह लोग कितने मूर्ख हैं। व्यर्थ ही ये रो रहे हैं। उन्हें समझाता भी अरे ! क्यों रोते? वह तो तुम्हारा कुछ था ही नहीं, वह तो एक भिन्न जीव था, अकेला आया था, अकेला चला गया...! यों दूसरों को तो खूब समझाता, पर खुद पर कभी कोई ऐसी बात आ जाय तो फिर वहाँ वह स्वयं बड़ा विह्वल होता, दु:खी होता। तो दूसरों की बात तो झट समझ लेते, पर अपनी बात जरा कठिनाई से समझ में आती है। यह ही बात यहाँ हैं। कोई कहे कि मुनिजनों को तो आहार करने से तो कुछ मतलब न रखना चाहिए, उनको तो अप्रमत्तदशा में रहना चाहिए, वे आहार क्यों करते...? और कभी ऐसा कहने वाला व्यक्ति खुद मुनि बन जाय तो उसे पता पड़ता कि कब किस तरह से क्या होना चाहिए? तो ऐसी बात सोच करके तीर्थप्रवृत्ति का विनाश न हो, यह परम्परा बनी रहे, इस बात का सभी को ध्यान रखना चाहिए।

1392- गुणग्राहित्वप्रकृतिक मनुष्य का व्यवहार-

कोई मुनि, मान लो, कम ज्ञानी है फिर भी उस मार्ग में रहता है उसको ज्ञानमार्ग में बढने का अवसर तो है। तो चरणानुयोग की जितनी भी प्रक्रिया है, विधि है उसके अनुसार यह देख लेवें कि अमुक साधु में कषाय मंद हैं और चरणानुयोग की विधि वाली प्रकिया भी चल रही है, बस उसके आगे तीर्थप्रवृत्ति रखने के प्रसंग में और कुछ प्रासंगिक नहीं है निरखना, कि इसके मिथ्यात्व है या सम्यक्त्व है, यह कुछ निरखने की

वहाँ कुछ आवश्यकता नहीं है। तीर्थ प्रवृत्ति में चलने वाले कोई मुनि मिलें तो उनका दर्शन करें, वंदन करें, यह तो मोक्षमार्ग में चलने वालों की बाहरी मुद्रा हुआ करती है और साथ ही देखिये, जैसे अदालत में किसी मुलजिम पर कुछ शक हो जाय कि पता नहीं इसने इस दूसरे को मारने का अभिप्राय किया या नहीं किया, तो उस शक पर क्या निर्णय होता कि उसको छूट हो जाती। याने वहाँ शक हो जाने पर यह मान लेना पड़ता है कि इसने यह अपराध नहीं किया। तो ऐसे ही किसी भी साधु में मिथ्यात्व है या सम्यक्त्व है यह तो कोई बता नहीं सकता और शक भी हो जाय, मायने उसमें मिथ्यात्व भी हो सकता और सम्यक्त्व भी हो सकता तो इस शक के होने पर अधिकतर किस ओर दृष्टि जाना चाहिए? उसके सम्यक्त्व की ओर। जैसे मुलजिम के कसूर के प्रति कुछ शक हो जाने पर उसे छूट दे दी जाती ऐसे ही मुनिजनों के प्रति भी सम्यक्त्व व मिथ्यात्व के सम्बन्ध में शक हो जाने पर उनके सम्यक्त्व की ओर दिमाग क्यों नहीं आया। मायने उनके मिथ्यात्व की ओर दृष्टि न जाकर सम्यक्त्व की ओर दृष्टि जानी चाहिए। देखिये, मुनि की मुद्रा देखकर, उसके बाहरी रूप को देखकर अपनी तीर्थ प्रवृत्ति को कायम रखने के लिए उनके प्रति भक्ति होनी चाहिए। इस प्रसंग में बातें तो अनेक आयेंगी, मगर अपने आपमें यह ही निर्णय बनाना है कि स्व का आश्रय करना है, बस सर्व विकल्पों को त्यागकर, सारे व्यवहार को, सारे पराश्रित भावों को त्यागकर एक अपने अंतस्तत्त्व का भान हो, यह ही अपने आपको अपने में देखना है तो व्यवहार कहो या अध्यवसाय कहो, ये दूसरे के बारे में कही हुई बातें त्याज्य हैं।

1393- व्यवहार शब्द का प्रकरणवश अर्थ समझकर उसके सत्य-असत्यपने का निर्णय करने का कर्तव्य-

इस प्रसंग में एक बात और जानना। व्यवहार शब्द के अनेक अर्थ हैं और अनेक स्थानों पर व्यवहार का प्रयोग होता है। जैसे विचार करना भी नाम व्यवहार। जैसे निमित्तनैमित्तिक योग, इसका भी नाम व्यवहार। जैसे तीर्थप्रवृत्ति, देवपूजा, वंदना, दर्शन, ये भी व्यवहार हैं। सम्यक्त्व से पहले जो कुछ उसका श्रद्धान बने, ज्ञान बने वह भी व्यवहार। सम्यग्दर्शन होने पर जो भी उसकी परिणति बनी वह भी व्यवहार। निश्चयनय, व्यवहारनय, वहाँ भी व्यवहार। और देखिये एक व्यवहार है द्रव्यार्थिकनय का भेद। नैगम, संग्रह, व्यवहार और इस द्रव्यार्थिक व्यवहारनय से ही उपादान उपादेय का निर्णय किया जाता है। दर्शनशास्त्र के अष्टसहस्री आदिक ग्रन्थों में अध्यात्ममीमांसा की दिशा पाने के प्रयोजन से बहुत से ऐसे वर्णन हैं जिनसे स्पष्ट दर्शन होता है। जैसे कहा कि घट का उपादान क्या? मिट्टी का पिण्ड। यह किस नय से कहा? व्यवहारनय से। कौनसा व्यवहारनय? द्रव्यार्थिकरूप याने पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य को मुख्य रखा गया है एक उपादान में। केवल पर्याय कुछ होता नहीं, उपादान है तो परिणति वाला द्रव्य होता है, और इसके समाधान में कुछ शब्दों में बताया गया कि व्यवहार नामक द्रव्यार्थिकनय से उपादान उपादेय का निर्णय होता है। तो व्यवहार का प्रयोग कई जगह हुआ करता है। वहाँ विवेक रखना होगा कि यह व्यवहार असत्य है, यह व्यवहार सत्य है। यह सब निर्णय बनाना होगा, व्यवहार सत्य हो वह भी, व्यवहार असत्य हो वह भी, सभी व्यवहार आश्रय के योग्य

नहीं है, भले ही किसी पदवी में व्यवहार आश्रय के योग्य कदाचित् हो। व्यवहार से सत्य-असत्यपने की ठीक परीक्षा करना चाहिये। ऐसा किये बिना कथन स्याद्वाद की शैली के अन्तर्गत नहीं रह सकता।

1394- पराश्रयज बुद्धिपूर्वक अध्यवसान व्यवहारों की त्याज्यता-

यहाँ व्यवहार त्याज्य है, यह शब्द इस प्रकरण में आया है कि ये सारे अध्यवसान हैं, पर के बारे में जो कुछ सोचा जा रहा है वह सब व्यवहार है, वह त्याज्य है। क्यों त्याज्य है क्योंकि इस व्यवहार को तो अभव्य भी कर लेता। सभी बातों में व्रत पाले, तप पाले, शील पाले, संयम पाले और अपनी बुद्धि माफिक हृदय से पाले, मगर एक दूसरों पर रोब जमाने के लिये या अपनी प्रतिष्ठा कायम करने के लिये मुनिव्रत लिया हो तो उस मुनि के लिये दु:ख का ही कारण है। उसने चूँकि यह बात सुन रखी थी कि इस संसार में दु:ख ही दु:ख है, इसे छोड़ो और अपनी धर्मसाधना करो, मोक्ष के मार्ग में लगो। मोक्ष का मार्ग तो उसने नहीं पाया, पर नाम का तो पता है, और व्यवहार में जो कुछ चल रहा है उसे तो जानता है, अब इतनी बुद्धि रखकर यह व्रत करता, तप करता, शील पालन करता, उसके भीतर में पर्याय में आत्मबुद्धि बसी हुई है, मैं मुनिव्रत पाल रहा हूँ, मेरे को ऐसा करना चाहिये, लोगों को मेरे साथ यों व्यवहार करना चाहिये, इस तरह एक मुनि पर्याय में आत्मबुद्धि है इसलिए मिथ्यात्व है। देखो, बाहरी कोई बात की आकांक्षा भी नहीं हो, किन्तु उस समझे हुए कल्पित धर्म के ख्याल से उसने तप, व्रत वगैरह पाला है तो पाले, मगर मोक्षमार्ग तो नहीं मिलता। इसीलिये हो रहा है उसका व्यवहार? वह प्रवृत्ति, वह पराश्रित व्यवहार हो रहा, मगर वह उससे अपने आपका दर्शन तो नहीं करता, उसे अपने आपकी मुक्ति का पथ तो नहीं मिला। इसलिये यह व्यवहार त्याज्य है, प्रतिषेध्य है।

1395- श्रुताध्ययन का गुण सहज-अंतस्तत्त्व का परिज्ञान न होने से एकादशांगपाठी के भी व्यवहार की अकार्यकारिता-

अच्छा, देखो कोई अभव्य या भव्य मिथ्यादृष्टि कितना भीज्ञानी बन जाय कि 11 अंग 9 पूर्व का ज्ञाता बन गया और देखिये 9 पूर्व में ज्ञानप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, जैसे कई महत्त्वपूर्ण विषय आते हैं और उस पर उसका पूर्ण अधिकार है, उसका वह पाठी है, वह उपदेश देता होगा तो बड़े फोर्स से, बड़ी शिक्त से, बड़े अच्छे ढंग से देता ना, जिसके वचनों को सुनकर कहो दूसरे भी तिर जायें ऐसा बताया है ना। यहाँ एक बात समझिये कि वहाँ जो श्रोता है उसके मन में उस अंगपूर्व पाठी के प्रति यदि यह बात बसी हो कि यह तो अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, 11 अंग के पाठी भी मिथ्यादृष्टि हो सकते हैं, यह भी अज्ञानी हो सकता है, ऐसा यदि ध्यान में हैं तो उससे भला नहीं है, उसे सन्मार्ग न मिलेगा, उसके सम्यक्त्व न जगेगा, क्योंकि उसके भावों में अज्ञान समाया है। अज्ञानी है भाव में तो वह उपदेश असर ही न करेगा। तो बात यह बतला रहे हैं कि कोई 11 अंग का पाठी हो फिर भी उसका व्यवहार प्रतिषेध्य है क्योंकि उसने 11 अंग पढ़ तो लिया मगर पढ़ने का गुण क्या है? गुनना। जैसे यहाँ बोलते है ना कि अमुक भाई पढ़े तो बहुत हैं मगर गुने नहीं

हैं। तो पढ़ने से गुनना अच्छा होता है ना? हाँ अच्छा होता, कोई 11 अंग तो जान गया, मगर उस सबको जानने का फल तो यह है कि इस अंतस्तत्त्व का मान करें, पढ़ने का गुण तो नहीं लिया उसने, यह ही अर्थ है कि गुना नहीं, इतना अधिक ज्ञान किया इस अभव्य ने, उस पर ज्ञान का गुनना तो यह है कि निज अंतस्तत्त्व का परिचय पा ले, वह तो नहीं मिला ना, तब फिर काहे का ज्ञानी?

1396- अन्यायमयी क्रियावों के कर्ताओं के निश्चय तत्त्व की चर्चाओं की हास्यास्पदता-

लोग बोलते है ना कि कोई ज्ञान की बात तो बहुत ही बघराये मगर क्रिया अन्याय की करे याने ऐसे भी लोग हमको दिखे कि जो आपस में एक-दूसरे के प्रेमी थे, परस्पर धर्मचर्चा किया करते थे, भिण्ड में निश्चयैकान्ती एक व्यक्ति दूसरे की दूकान पर बैठा किराये से, वहाँ उसने कुछ ऐसी चाल खेली कि उस दूकान को अपने नाम खुद लिखकर उस पर नकली हस्ताक्षर लगवाकर अपने नाम से रजिस्ट्री करवा ली, झूठे दस्तखत कर दिये। इस तरह की बात तो हमने आपस में बड़ी-बड़ी अध्यात्म की चर्चा करने वालों के प्रति देखी। अब उसका केस चल रहा है। भला बतलाओ, ऐसा ज्ञान करने मात्र से क्या लाभ? इस प्रकार का अन्याय करने के लिए ही वह अध्यात्मचर्चा किया करते थे? अरे ! अध्यात्मचर्चा करने को प्रयोजन तो होना चाहिए था पापकार्यों से बचने के लिए व अपने आपके आत्मस्वरूप का अनुभव प्राप्त करने के लिए, मगर यह गुण तो नहीं मिला, इस कारण उसे सारे श्रुत के अध्ययन से भी वह आत्मज्ञान न बने तो उसके ज्ञान नहीं, दोनों बातें कह दीजिए, वह अज्ञानी है।

1397- गुणोपयोगिता में ही सन्मार्ग का लाभ-

देखो, कोई किसी के चित्त का क्या निर्णय बनायेगा, ऊपरी निर्णय भी न बना सकेगा। कोई ऐसे गृहस्थ पुरुष होते हैं कि उनके भीतर क्रोध की बड़ी ज्वाला जल रही और ऊपर से ऐसे-ऐसे शब्दों का उपयोग करेंगे कि जिससे यह जाहिर होगा कि यह तो बड़े शान्त हैं, और भीतर से जल रही क्रोध की ज्वाला। यह कला उर्दू भाषा के लोगों में विशेष तौर से पायी जाती है। उनके उर्दू के कुछ ऐसे शब्द हैं कि जिनके बोलने से बड़ी शराफत (सज्जनता) मालूम होती, पर भीतर में क्रोध की भावना रह सकती। ऐसे ही विशेष मान की चाह रखने वालों के भी कुछ शब्द होते हैं कि अन्दर से तो मान की बड़ी चाह भरी होती मगर ऊपर के शब्दों में बड़ी सरलता टपकती। मायाचारी की बात तो बड़ी विचित्र है, सभी लोग इस बात को खूब समझते हैं, किसी के अन्दर की मायाचारी को कोई दूसरा समझ सकने में समर्थ नहीं, ऊपर से तो इतना सरलता का व्यवहार दिखेगा कि लोग उसकी सरलता से विशेष प्रभावित हो जायेंगे, मगर अन्दर से ऐसी मायाचारी बसी रहा करती कि जिसका कुछ कहना नहीं। तृष्णा के सम्बन्ध में भी यही बात है। मान लो किसी का कुछ आशय बन गया है तो वह अपनी प्रतिष्ठा की चाह से बोली बोलेगा तो लाखों रुपयों के दान की बोलेगा, वहाँ ऊपर से देखने में तो ऐसा लगता कि इसके मन में तो जरा-भी लोभ नहीं है मगर उसके अन्दर के परिणामों को तो देखो, उसके अन्दर अपनी इज्जत, प्रतिष्ठा, सम्मान का भयंकर लोभ छिपा हुआ है। तो हम

आपका यह एक निर्णय होना चाहिये कि अपनी एक ऐसी प्रकृति बने कि जिससे किसी भी जीव को देखें तो सर्वप्रथम उसका स्वरूप दृष्टि में आ जाना चाहिये। यह बात पाने के लिये हमको सर्वप्रथम अपने आपके आत्मस्वरूप के दर्शन का अभिलाषी होना चाहिये। यही बात यहाँ कही जा रही है कि लक्ष्य अपना अंतस्तत्त्व की दृष्टि का बनाना चाहिये। बस एक साथ सब सधे, एक अपने आपके अंतस्तत्त्व की साधना बनायें तो उससे सारी सिद्धि प्राप्त हो जायेगी।

1398- जीवों को अध्यवसाय का कष्ट-

प्रकरण चल रहा है कि संसारी जीवों को परेशान कर रखा है इस अध्यवसाय ने। इसके अतिरिक्त जीवों को और कोई कष्ट नहीं। सब जीव ज्ञानानन्द से भरे हुये हैं। इन जीवों को क्या कष्ट है? भीतर में जो एक उमंग बनी, पर पदार्थों में करने की, पर को आपा मानने की और यहाँ तक कि जो भी पदार्थ ज्ञान में आ रहे हैं, चाहे उसका प्रयोजन हो चाहे न हो, बस उसके जानने में ऐसा तन्मय हुआ कि यह अपने को और अपनी प्रक्रिया को तो भूल जाता है और जैसा जाना बस उस ही रूप अपने को अनुभव करता है। जैसे कितने ही पुरुषों की आदत होती है कि अगर ऊपर से उड़कर हवाईजहाज जा रहा हो तो उसे देखे बिना चैन नहीं पड़ती। वैसे उस जहाज से प्रयोजन कुछ नहीं, न जहाज नीचे उतरेगा, न उस पर कोई चढ़ेगा, पर उसे बिना देखे चैन नहीं पड़ती, ऐसे ही यहाँ जितने भी पदार्थ ज्ञान में आ रहे हैं, काम कुछ नहीं है, मगर भीतर जो एक मिथ्याभाव पड़ा है उसके कारण जैसा जाना उस ओर ही इसकी लगन है कि मैं इसको जान रहा हूँ। प्रक्रिया भी भूल गया कि मैं स्वयं के अन्तर्ज्ञेय को जानता हूँ और बाह्यज्ञेय में तन्मय रहता है। यह सब कहलाता है अध्यवसाय।

1399- अध्यवसाय के संभावित अर्थ-

अध्यवसाय का अर्थ क्या है? इसमें दो भेद हैं अधि+अवसाय। अधि उपसर्ग है व अवसाय नाम है निश्चय का व लगने का। तो निश्चय की तो यों कहो कि जो अधिक जान ले, अधिक निश्चय कर ले उसका नाम है अध्यवसाय याने भगवान से भी अधिक बड़ा यह मोही निश्चय करने में, जो भगवान से भी होड़ करे। भगवान ! तुम क्या जानते? तुम तो जो है उसे जानते हो, पर हमारा काम तो देखो जो हमारा नहीं है हम तो उसे भी पचा लेते हैं, उसको भी हम अपना लेते हैं...ऐसा भगवान से भी होड़ करके अपने को भारी जनवा बनाना, बस इसके मायने है अध्यवसाय। अध्यवसाय के बारे में और भी कई बातें कही जावेंगी, उनमें से एक बात यह भी है- भगवान नहीं जानते कि यह मकान इसका है- मगर ये मोही लोग जान रहे है कि यह मेरा मकान है। प्रभु तो इतना ही जानते कि यह यह है व वह वह है। जो है नहीं उसे कैसे जाने तो जो अधिक अवसाय करे तो अध्यवसाय। दूसरी बात अवसाय मायने लगना, जिससे व्यवसाय बनता है। व्यवसाय में वि उपसर्ग है और अवसाय शब्द है जिसका अर्थ है लगना। ऐसा अपने आत्मा में लगना कि कर रहा है कुछ। अनन्त ज्ञान को भगवान जानते रहते हैं, वहाँ कुछ नहीं जंचता कि ये कुछ जान रहे, क्योंकि जिसे जाना वही

फिर जाना, वही फिर जाना, याने इनमें (भगवान में) कुछ कला ही अधिक नहीं है, और यहाँ हममें तो देखो- इस-इस तरह से लग रहे हैं, ऐसी-ऐसी प्रवृत्तियाँ कर रहे हैं कि अद्भुत लगेंगी सबको। भला एकेन्द्रिय में जन्म लेना, भिन्न-भिन्न वृक्षों में भिन्न-भिन्न रूप से फैलना, पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, डाली-डाली में फैल जाना, फूलों के मकरंद किसी जगह में फैल जाना। ऐसे-ऐसे अनोखे काम हम कर रहे, जो लग रहा कि नई-नई प्रवृत्ति की, तो ऐसे जो अधिक व्यवसाय हैं उसे कहते है अध्यवसाय। मतलब यह है कि आत्मा के स्वभाव में जो बात नहीं है सो बातें करने की तरंगें हममें उठती, ऐसे ये सब अध्यवसाय कहलाते हैं। अध्यवसाय निश्चय के अर्थ में भी आता और लगने के अर्थ में भी आता है। अध्यवसाय क्या? कोई अधिक बात मानने को याने कोई उल्टी बात होने को अध्यवसाय कहते हैं।

1400- पराश्रित भाव अध्यवसाय को तजकर स्व में विश्राम करने का संदेश-

ये अध्यवसाय पराश्रित हैं, पर पदार्थों का उपयोग करके, पर पदार्थों में जुटान करके जो एक इसकी लम्बी छलांग होती है, अवसाय होता है, वह सब त्याज्य है, याने सीधे अपने घर में बैठो, क्यों दंगा में पड़ रहे? क्यों लड़ाई –झगड़ा, ऊधम कर रहे हो? अपने घर में बैठो, शान्त रहो, यह तो विवेक है, मगर अपने धाम को छोड़कर बाहरी पदार्थों में जबरदस्ती का एक अधिकार बनाना, 'मान न मान मैं तेरा मेहमान', यह सब दु:खकारी मुग्ध व्यवसाय अध्यवसाय है। जैसे कोई बेशरम यों जब चाहें पहुँच जावे वहाँ रहने लेकिन उस घर के लोग आदर देते नहीं, कहाँ तक आतिथ्य करेंगे? पर यह कहता 'मान न मान मैं तेरा मेहमान'। तो ऐसे ही ये अज्ञानीजन इन बाह्य वस्तुओं से मानो यह कह रहे हैं कि तुम मुझे मानो चाहे न मानो, पर मैं तो तेरा मेहमान बनकर रहूँगा। भला बताओ, वह अचेतन पदार्थ काहे को इस तरह मानेगा? माने तो वह अपना अपमान हुआ। जैसे यहाँ कोई किसी से कहे कि यह तो मेरा आदमी है तो यह तो उस आदमी के लिए गाली जैसी बात हुई, क्योंकि इसके अन्दर यह भाव छिपा हुआ है कि यह सेवक है और यह इसका मालिक है। तो यहाँ कोई मनुष्य तो इस तरह की बात सुनना पसंद न करेगा। वह तो इसमें अपना अपमान महसूस करेगा, पर वह बेचारा अनजान मकान क्या उत्तर दे सकता? यदि यह मकान भी इस तरह की बात समझता होता तो यह भी इस तरह की बात सुनना पसंद न करना, वह इसमें अपनी तौहीन समझता। यहाँ किसी भले मनुष्य को कोई यह कहकर देख तो ले कि यह मेरा आदमी है, यह मेरा सेवक है या यह मेरा दोस्त है। ऐसा कहने में स्वामित्व की बदबू भरी है तो उसमें मालिकाई आयी। कोई अपने लिए दूसरे को मालिकाई कैसे सोच सकता? मगर यह सब अज्ञानी जीवों का व्यवहार है, चल रहा है तो यह अध्यवसाय है।

1401- शुभोपयोग में आत्मत्व अध्यवसाय-

अच्छा, पाप का अध्यवसाय, मैं हिंसा करता हूँ, झूठ बोलता हूँ, इसको यों गवाही दूँगा, इसको यों अपमानित करूँगा। अच्छा और मान लो शुभ काम भी किया, जैसे भगवान की पूजा कर रहे, पूजा करने में गुण है क्योंकि भगवान का स्वरूप और मेरा स्वरूप समान है, उस स्वरूप की याद रहे तो अपने स्वभाव से

सम्बन्ध बने, स्वभाव की याद आती, और इसी कारण बहुत नजदीक बात बन जाती, मगर उसके भीतर यों आस्था रखना कि मैं भगवान को पूजता हूँ, तो भगवान को कोई पूज सकता है क्या? फिर तो लो वह अध्यवसाय बन गया। तो ऐसे ही देखिये पराश्रितपने की बात नियामक नहीं होती। जिसके बाबत हम कोई विकल्प बनायें, वह मेरे विकल्पगत काम को बना दे ऐसा नहीं होता। जैसे ज्ञान, इतने शास्त्रों का ज्ञान करना यह सम्यग्ज्ञान है, तो यदि शास्त्र का ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता, तो जो-जो लोग शास्त्र का ज्ञान करते हैं वे सब आत्मज्ञानी कहलाते। आत्मा का ज्ञान सो ज्ञान। और शास्त्रों का ज्ञान है सो आत्मा के ज्ञान के लिए है, मगर बाहर में यहाँ ही दृष्टि लगाकर वहाँ ही ज्ञान खोजें तो यह क्या हुआ? पराश्रित बात हुई, अध्यवसाय और आत्मा के आश्रित जो ज्ञान है उसके बारे में नियम है कि वह ज्ञान ही है, वह मोक्षमार्ग है। ऐसे ही चलते चलें, 7 तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन और तीनों लोक की जो भी चीजें हैं उनका ज्ञान करना और ज्ञान की तनिक मजबूती करना यह है व्यवहार। अच्छा तो कितने ही जीव तो ऐसे हो सकते हैं कि उन तत्त्वों की बात करें, चर्चा करें और भीतर में सहज अंतस्तत्त्व का श्रद्धान न हो सके।

1402- प्रतिषेध्य होकर भी तीर्थपरम्परा बनाये रखने के लिये शुभोपयोग में प्रवर्तन-

तो अब समझिये स्व के आश्रय से जो बात हुई वह तो है निश्चय अथवा प्रतिषेधक और हमारा व्यवहार प्रतिषेध्य है। हालांकि तीर्थप्रवृत्ति का भंग न करना यह श्रद्धालुजनों का कर्तव्य है, तीर्थपरम्परा को नष्ट न करना यह जैन शासन के प्रति जो श्रद्धा जो रखता है उसमें प्राकृतिक बात बनती है। इसलिए जो-जो कुछ आम्नाय है, प्रवृत्ति है, व्यवहार है सो वह उस पद में चलता है, चलना चाहिए, क्योंकि और लोग भी धीरे-धीरे आयेंगे किस प्रकार से? जैसे एक अपने पर ही घटा लो, जो आज अध्यात्म के प्रेमी बनते हैं वे बचपन में क्या थे, फिर क्या हुआ, फिर किस तरह हुआ, आखिर पहले उस व्यवहार में रहे, उसी में बढ़े, चले, कुछ सिलसिला बना, परिचय बना, फिर ज्ञान बना, फिर अपनी ओर कुछ झुके तो वहाँ अपने आपका कल्याण करने के लिए एक अवसर मिला। कैसे दूसरे को समझाया जायगा कि अब तुम इस व्यवहार में न पड़ो, अपने आत्मतत्त्व में लगो? यह बात अगर उसे समझायी जाय जो व्यवहार में आया ही नहीं है, कि यह व्यवहार बिल्कुल त्याज्य है, इससे दूर रहो, इसे छुओ मत तो फिर उसकी स्वच्छंदता और भी बढ़ जायेगी। जैसे कोई पुरुष नीचे खड़ा है और उससे ऊपर वाला पुरुष कहे कि देखो भाई, सीढ़ी छोड़ने से हम ऊपर आये हैं तुम लोग सीढ़ी को मत ग्रहण करो, छोड़े रहो, तो उसका ऐसा कहना योग्य नहीं। अरे ! उसे तो यह कहना चाहिए कि हम तो सीढ़ी को ग्रहणकर, छोड़कर आये हैं ऐसा ही तुम भी करोगे तो ऊपर आ जाओगे, ऐसे ही इस व्यवहारमार्ग का यहाँ निषेध नहीं है मगर व्यवहारमार्ग में जो चल रहे हैं उनके लिए यह उपदेश है कि व्यवहार को मोक्षमार्ग मत मानो, मोक्षमार्ग तो निज सहज स्वभाव का आश्रय है। यह व्यवहार ही तुम्हारे लिए सर्वस्व नहीं है, कल्याणकारी नहीं है, किन्तु अपने अंतस्तत्त्व को सम्हालो।

1403- अविकार स्वभाव के आश्रय द्वारा व्यवहार की प्रतिषेध्यता-

जो शुभोपयोगी मुनि हैं उन पर डाँट अधिक पड़ी है समयसार में। शुभोपयोगासक्त मुनियों को संबोधन की डाट पड़ी है कि तू इस शुभोपयोग को मोक्ष का हेतु मानता है, तू उसको एक मोक्षमार्ग मानता है, अरे ! जितना वीतराग तत्त्व है वह है मोक्षमार्ग, तू अपने आपका श्रद्धान कर, तो अपने हित की बात चित्त में आना चाहिए। शुभोपयोग किसी पदवी तक बताया है, मगर सर्वथा उपादेय वह शुद्धोपयोग है। एक परिणति है आचार आदिक अंगों का ज्ञान करना, यह ही ज्ञान मोक्ष का हेतु हो सो बात नहीं, अभव्य भी एकादश अंग का ज्ञान करते हैं। इसमें विषय नहीं बनता कि जो 11 अंग का ज्ञान कर लिया, जो 7 तत्त्वों की श्रद्धा बना ली, जो षट्कायजीवरक्षा कर ली वह नियम से रत्नत्रय है। व्यवहार क्रिया में मोक्षमार्ग का नियम नहीं बनता, मगर यह नियम है कि जो-जो सहज अंतस्तत्त्व में अहं का अनुभव करे, ज्ञान करे, यहाँ मग्न हो वह नियम से मोक्षमार्गी है, तो यहाँ पराश्रित व्यवहार का त्याग कराया गया है, लेकिन उसे अनर्थ माने कोई तो तीर्थ मिट जावेगा। अब यहाँ एक प्रश्न होना स्वाभाविक है कि यह तो समझ में आया कि जो रागादिक हैं वे हेय हैं, बंध हैं, इस जीव की परतंत्रता के हेतुभूत है, मगर ये बने कैसे, ऐसा प्रश्न इस काव्य में कर रहे हैं।

कलश 174

रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ता: ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्ना: पुनरेवमाहु: ॥174॥

1404- चिन्मात्र तेज से अतिरिक्त रागादिकभाव के निर्णय से तथा अविकार स्वरूप के परिचय से ज्ञानी के अन्तर में निर्व्यग्रपना-

रागादिकभाव, ये बंध के निदान कहे गए हैं। जीवस्वरूप को देखें, जब अपने ध्यान में यह बात आयी कि मैं समस्त पर पदार्थों से विविक्त; पर के द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, उसका निमित्त पाकर अपने में होने वाली परिणतियों से विविक्त सहज शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, ऐसा ध्यान जाय जिस समय में, कुछ अनुभव बने उस समय में तो वह यों समझो कि त्रिलोकीनाथ राजा है, अनाकुल है, वह तो परम आह्लाद का अनुभव करने वाला है। उसको कोई शल्य नहीं, कोई फिक्र नहीं, कोई चिन्ता नहीं, मगर ऐसी स्थिति ठहर तो नहीं पा रही है, तो क्या बातें आ जाती? जो कर्मविपाक प्रतिफलित हुए बस उनमें वह झुक जाता, उनके स्वर में स्वर मिलने लगता। जो सहज ज्ञानानन्द-स्वरूप को अहं रूप से मिलाये सो ही सम्यग्दृष्टि, उसके भी उपयोगनिमित्तक कुछ व्यग्रता होती है फिर भी ऊपर व्यग्र होकर भी निराकुलता का अनुभव कर लेते हैं, तो उसकी याद में, उसकी प्रतीति में यह भीतर में व्यग्र नहीं होता। यह ज्ञानी गृहस्थ प्रमत्त व्यग्र होता हुआ भी निर्व्यग्र है, जब क्षोभ होता है तो वह क्षोभ ही कहलाता है फिर भी वह अंतरंग में निर्व्यग्र है।

1405- ज्ञानी की प्रमत्तदशा में भी निर्व्यग्रता का कारण अविकार स्वभाव के आश्रय पर अधिकार-

जैसे किसी को कोई अधिकार मिला है। अधिकार है पूर्ण उसको और कदाचित् कोई बात ऐसी होती हो ऊपरी बात जो थोड़ी प्रतिकूल पड़े तो जैसे वह निर्व्यग्र है, क्योंकि उसको अपने अधिकार पर गौरव है, कभी भी अधिकार का प्रयोग कर प्रतिकूलता को हटा देगा। अब आजकल की ही बात देख लो, जो देश में आपत्तिकालीन स्थिति बनी है इससे पहले देश में ही कहीं विघटन वाली बातें भी कोई-कोई करने लगे होंगे। लेकिन सरकार को यह पता तो था ही कि ये-ये कानून बने हैं और किसी न किसी दिन ऐसे कानून लागू कर दिये जावेंगे सो व्यग्रता तो न रही उन्होंने पहले से ही अपने को सावधान कर लिया था। ऐसे ही ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को अपने उस भीतर के अंतस्तत्त्व पर इतना अधिकार है कि वह जानता है कि जब दृष्टि करें तब देख लेंगे। जैसे एक उर्दू शायर ने कहा है- अपने ही अन्दर छिपा है वह खुदा, जब जरा गर्दन झुकायी देख लो। तो इस ज्ञानी ने निराकुल होने का जो इतना प्रभुत्व पा लिया है गृहस्थावस्था में भी, प्रमत्त मुनि अवस्था में भी इसकी जो निराकुल दशा है उसका कारण यह है कि इसको अपने उस मूल स्वरूप पर ऐसा अधिकार है समझने का, अनुभवने का, परखने का कि उस सन्तोष के कारण, उस धैर्य के कारण कर्मविपाक की व्यग्रतायें भी हों, क्षोभ भी हों तो भी वह यों ही गिनता है कि जैसे कोई बच्चा साधारण ऊधम करे, पिता देखता रहता उस बच्चे का ऊधम मगर वह कुछ नहीं बोलता। क्योंकि उस पिता को अपने अधिकार पर गौरव है कि जब चाहूँ तभी इसका ऊधम बंद कर सकता हूँ। और करता भी यही है कि जब देखा अब ठीक नहीं है ऊधम तो उस ऊधम के समय उसका हाथ पकड़कर 2-4 तमाचे जड़ देता तो उसका ऊधम मचाना बंद हो जाता है, ऐसे ही जिस ज्ञानी को पता है कि यह क्षोभ आता है तो आने दो यह तो कर्मविपाक का खेल है, कुछ हर्ज नहीं, अपनी कला पर उसे गौरव है कि जहाँ ही अपने इस ज्ञायकस्वरूप को सम्हाला, वहाँ दृष्टि दी कि क्षोभ खतम। वहाँ अलंकार में बोल रहे, कहीं ज्ञानी इस तरह प्रमाद नहीं रखता कि ये क्षोभ, राग वगैरह आते तो आने दो, वे सब जरा सी देर में मिट जायेंगे। एक बाह्य तत्त्व की उस समय अनास्था है, उपेक्षा है, कहीं इस तरह नहीं कहता कि आता है तो आने दो जरा सी देर में मिटा लेंगे, ऐसा स्वच्छंदता का भाव वहाँ नहीं है। यह तो हम आप सबकी भाषा में बोल रहे, वह तो स्वभावाश्रय के अधिकार के कारण निर्व्यग्र रहता है। भैया ! धर्मपालन अपने निज की चीज है, जो पराधीन नहीं है, किसी का आश्रय नहीं तकना है, किसी की आशा नहीं बनाना है कि मेरा धर्म कोई कर देवे। कोई दूसरा कर देवे। यहाँ कोई ऐसा जाप नहीं है कि किसी पांडे से जाप करा लें तो अपने पाप मिट जायेंगे। यहाँ भी यह स्वपौरुष से सिद्ध होने वाली स्वाधीन बात है। ज्ञानी को स्वानुभव के सन्तोष का इतना गौरव है, गुरुता है, अधिकार है, विश्वास है कि उसे निरखकर वह सारे क्षोभ को दूर कर देता है।

1406- विकार-निष्पत्ति के निमित्त के परिचय की जिज्ञासा-

हाँ, तो बंधन के कारण कौन हुए? रागादिक भाव। ये बंध के निदान बताये गए हैं। कैसे हैं वे रागादिक भाव? आत्मा का जो चैतन्य तेज है, सहजस्वरूप है उससे अतिरिक्त है, पृथक् है वह तेज। स्वरूप का उल्लंघन करके आदेश नहीं है ऐसा कि रागादिक बनें, मगर वह स्वरूप इस प्रकार का है कि विपाक हो, प्रतिफलन हो, विकल्प हो। ये बातें यहाँ बना करती हैं, तो बन तो गया, मगर स्वरूप से निराली चीजें हैं ये विकार। विकारनिष्पत्ति के सम्बंध में विचार करना चाहिए कि आत्मा में जो रागादिक हुए हैं, विकार हुए हैं सो इनके उत्पन्न होने में कोई बाह्यतत्त्व निमित्त है या नहीं है, कोई इसमें निमित्त पड़ता या नहीं पड़ता अथवा निमित्त पड़ता है तो बाहरी चीजें निमित्त पड़ती है या खुद ही निमित्त बनता है? इन सब प्रश्नों पर विचार किया जायगा। इसकी उत्थानिका में कह रहे हैं कि उसका निमित्त क्या है? आत्मा है या पर है? ऐसा प्रश्न करने वाले को इतना तो ज्ञात है ही कि जो विकारभाव हुए हैं वे निमित्त पाये बिना नहीं हुए, निमित्त कुछ इसमें अवश्य है। तब ही तो यह नैमित्तिक कहलाते हैं। जैसे कहा कि क्रोध नैमित्तिक है तो उसका अर्थ यह न लेना कि जिस मनुष्य पर क्रोध आया है वह उसका निमित्त है क्रोध में और यह क्रोध नैमित्तिक है यह अर्थ नहीं है। वहाँ वह पुरुष, वह बाह्य प्रसंग ये तो निमित्त हैं ही नहीं, इसने तो पुरुष को आश्रयभूत बनाया है उसमें उपयोग जोड़ा है, वह उसके क्रोध में निमित्त नहीं है। निमित्त तो वह परखा जायगा कि जिसके होने पर ही यह क्रोध हो और जिसके न होने पर यह क्रोध न हो, कोई ऐसी दूसरी चीज है, उसमें निमित्तपना आता है। हर जगह आप घटा लीजिये। उस नौकर के होने पर ही क्रोध हो, उस नौकर के न होने पर क्रोध न हो, क्या यह नियम बनता है? घर में बच्चे पर क्रोध कर रहे हैं, जैसे माना कभी कोई बड़ा फँसाव में पड़ गया, एक झंझट में पड़ गया और भीतर में बड़ी व्यग्रता हो रही हो तो बच्चों पर क्रोध करने लगते हैं। जैसे एक अहाना है कि 'धोबी से न जीते गधी के कान मरोड़े'। जैसे किसी धोबी को उसकी खुद की स्त्री से लड़ाई हो गई, कुछ कहा-सुनी हो गई तो धोबी ने गुस्सा में आकर स्त्री को पीट दिया। अब वह स्त्री धोबी को तो पीट नहीं सकती थी, सो क्या किया कि पास में ही बँधी थी उसकी गधी, सो कोई बहाना बनाकर उसी के कान मरोड़ने लगी, तो ऐसे ही समझो कि ये पर पदार्थ निमित्त नहीं हैं हमारी कषाय के लिए, हमारे विभाव परिणामों के लिए, किन्तु ये सब आश्रयभूत हैं।

1407- शुद्धपरिणति के लिये निमित्त एवं आश्रयभूत की अनावश्यकता व विकारपरिणति के लिये निमित्त के सान्निध्य की अनिवार्यता-

जिस काल में सम्यक्त्व उत्पन्न हो रहा उस काल में कोई बाहरी पदार्थ आश्रयभूत नहीं है, यह तो तीर्थप्रवृत्ति की रक्षा के लिए है। जैन ग्रन्थों में, धवला में वर्णन किया है कि सम्यग्दर्शन के कहीं चार निमित्त हैं, कहीं तीन निमित्त हैं, क्या-क्या? वेदना, ऋद्धिदर्शन, जिनबिम्बदर्शन, कल्याणदर्शन आदि, उससे क्या शिक्षा ली जायगी सो भी बतायेंगे, मगर जिस काल में यह जिनबिम्बदर्शन, उपदेशश्रवण आदि जो-जो भी बात बन रही उस काल में उसका शुभोपयोग तो हो जायगा, वहाँ शुद्धोपयोग नहीं है। सम्यक्त्व होता है, पर सम्यक्त्व

से पहले शुभोपयोग होना अनिवार्य है, अशुभोपयोग के बाद सम्यक्त्व किसी को नहीं हुआ, सो सम्यक्त्व से पहले जो शुभोपयोग है उस शुभोपयोग में तो आश्रयभूत था वेदनानुभव, जिनबिम्बदर्शन आदि और उसके बाद ही सम्यक्त्व हुआ। वही एक प्रकार की प्रवाह-संतति चले, इस कारण से तीर्थप्रवृत्ति के लिए यह बात कही गई है कि सम्यक्त्व के ये-ये कारण हैं। अर्थ यह लेना कि इन कारणों को जुटावें, इनमें रहे, इनमें रहकर स्वरूप की दृष्टि करना सीखे तो गैल मिलेगा, सम्यक्त्व होगा। तो शुद्ध परिणति के लिए आश्रयभूत कारण नहीं होता। वहाँ निमित्त होता क्या? शुद्ध परिणति की उत्पत्ति के लिए याने प्रथम समय की शुद्ध परिणति के लिए कर्म का क्षय, अनुदय याने कर्मविपाक का अभावरूप है निमित्त, उस शुद्ध परिणति के विपरीत जो परिणाम हो रहा था विभाव परिणाम, उसमें तो सद्भावरूप निमित्त था मिथ्यात्व का उदय, अन्य-अन्य प्रकृतियों का उदय, वह उदय समाप्त हुआ, क्षय को प्राप्त हुआ, किसी तरह समझो और यहाँ शुद्ध परिणति हुई, तो वहाँ प्रथम समय में यह लीजिए कि उस प्रकृति के क्षय होने पर हुआ। और, वह धारा चलती रहेगी। अब वहाँ प्रति समय क्या निमित्त बनता रहता है सो विचारिये। कालद्रव्य एक ऐसी साधारण चीज है कि उसमें अनवय व्यतिरेक इस तरह नहीं चलता कि देखो कालद्रव्य न हो तो यह परिणमन तो नहीं होता, यह कोई बता नहीं सकता इस कारण वह भी सामान्य निमित्तभूत है। तो ये विकार जितने हुए हैं वे सब विषम परिणाम हैं, इनमें निमित्त कोई अवश्य है। तो वह निमित्त खुद आत्मा है, या कोई पर पदार्थ? निमित्त-नैमित्तिक क्या है? आचार्यदेव अब इस विषय में उत्तर दे रहे हैं।

कलश 175

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्त: ।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥175॥

1408- रागादिकभाव की निष्पत्ति में आत्मा के निमित्त बनने की असंभवता-

इससे पहले वाले कलश में यह प्रश्न किया गया था कि यह तो जाना कि रागादिक भाव बंध के कारण हैं और यह भी समझा कि ये चैतन्य-तेज से अतिरिक्त भाव हैं, पर यह नहीं जान पाया कि इन रागादिक भावों के होने में यह आत्मा निमित्त है या कोई परवस्तु निमित्त है। ऐसा प्रश्न किया गया था, उसके उत्तर में यह कलश कहा जा रहा है। आत्मा कभी भी रागादिक के निमित्तभाव को प्राप्त नहीं करता। अर्थात् आत्मा के रागादिक भाव होने में आत्मा निमित्त नहीं है। मोटा दोष क्या है? अगर रागादिक भाव होने में आत्मा ही निमित्त बने तो जैसे आत्मा उपादान सदा है ऐसे ही यह निमित्त माना गया यह आत्मा भी सदा है, फिर तो विकार सदा ही रहना चाहिये और फिर इनके विनाश का कोई अवसर न आ पायगा। दूसरी बात स्पष्ट यह

है कि किसी भी वस्तु के विकार में वही वस्तु स्वयं निमित्त नहीं होती अर्थात् अपना स्वभाव बिगाड़ने में खुद निमित्त कोई नहीं होता।

1409- अर्ककान्तमणि के दृष्टान्तपूर्वक विकार में परसंग के ही निमितत्व की सिद्धि-

जैसे अर्ककांतमणि का एक दृष्टान्त है कि वह मणि सूर्य का सन्निधान पाकर आग बन जाती है। अच्छा, अर्ककांत मणि तो किसी ने देखा नहीं लेकिन इतना तो सब लोग देखते हैं कि सूर्यसन्ताप के सन्निधान में काठ गर्म हो जाता है, उससे अधिक गर्म पत्थर हो जाता, उससे अधिक गर्म सीमेंट का फर्श हो जाता, और बहुत अधिक गर्म डामर की सड़क हो जाती। ऐसे ही होता होगा कोई अर्ककांतमणि जो कि डामर से भी बढ़कर होता हो जो सूर्य का सन्निधान पाकर आग बन जाता हो। तो यह अर्ककांतमणि जो आग बनता है उसमें वह मणि खुद ही निमित्त नहीं है, ऐसा दृष्टान्त देकर यह बात कह रहे हैं कि आत्मा के रागादिक भाव होने में यह आत्मा स्वयं निमित्त नहीं है किन्तु 'तस्मिन्नमित्त परसंग एव', उन रागादिक भावों के होने में निमित्त पर का संग ही है। देखिये, इस प्रकरण से ये शिक्षा लेना है कि सबसे निराला स्वभाव अपना स्वरूप समझ में आये और उस स्वभाव का आश्रय मिले। इस प्रयोजन के लिए यह प्रकरण बहुत ही लाभदायक है।

1410- निमित्तनैमित्तिक योग और वस्तुस्वातन्त्र्य का एकत्र दिग्दर्शन-

निमित्त-नैमित्तिक योग जहाँ होता है वहाँ यह न जानना कि निमित्त की परिणति से उपादान परिणम गया। यह तो त्रिकाल ही नहीं। यह बात तो द्रव्य के 6 साधारण गुणों से ही स्पष्ट है और आगे बढ़ने की जरूरत भी क्या? प्रत्येक पदार्थ में 6 ऐसे गुण हैं कि जो सभी में मिलेंगे। अस्तित्व गुण- जिस गुण के प्रताप से वस्तु की सत्ता है। वस्तुत्व गुण- अपने स्वरूप से रहे, पररूप से न रहे। देखिये, यही से ब्रेक लग गया, यही से नियन्त्रण हो गया। और जब द्रव्यत्वगुण के बाद अगुरुलघुत्व की बात सुनो तो और स्पष्ट हो गया। साधारण गुणों के परिचय में ही यह बात बसी हुई है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमता नहीं। कोई पदार्थ अपनी परिणति से दूसरे का परिणमन करता नहीं, मगर इसके साथ विकार-कार्य में निमित्त का मानना भी अत्यन्त आवश्यक है कि कोई भी विकार हो तो उस विकार में निमित्त परसंग ही है। किसी पर उपाधि का सन्निधान हो, वहाँ ही ये विकार जगा करते हैं। यद्यपि पर ने विकाररूप परिणति नहीं की, मगर ऐसा ही एक सहज योग है कि अनुकूल निमित्त के सान्निध्य में योग्य उपादान विकाररूप परिणमन कर लेता। जब उपादान और उसके कार्य की ओर दृष्टि देते हैं तो यह भी नजर आयगा कि उपादान ने अपने परिणमन में निमित्त की उपेक्षा नहीं की, किन्तु वह सहज योग रहा। इसी की अपेक्षा की ऐसा कह दें, मगर सत्य तो जानना चाहिए कि ऐसे-ऐसे प्रकरण में, ऐसे वातावरण में उपादान ने स्वयं अपने में अपना प्रभाव प्रकट किया है। जैसे रास्ते में चलते जा रहे हैं, कोई पेड़ खड़ा है सड़क के पास, वहाँ यह मनुष्य जाता है तो इसका शरीर छायारूप परिणम गया, फिर आगे गया तो धूप रूप परिणम गया तो कहीं यह छायारूप परिणमने के लिये पर की अपेक्षा नहीं करता, किन्तु ऐसा ही सहज योग है, कि ऐसा निमित्तसन्निधान होने पर ऐसी योग्यता वाला

उपादान अपने में अपना प्रभाव बनाता है। तो चूँकि निमित्त के अभाव में वहाँ रागादिक का प्रभाव नहीं हुआ इस कारण से यह ही कहा गया है और कुन्दकुन्दाचार्य ने इसकी गाथा में स्पष्ट कहा है कि परद्रव्य के द्वारा ही आत्मा रागादिक रूप परिणम जाता है, शब्द ये हैं, उसका भाव यह लेना कि परद्रव्य के अभाव में, परसंग के अभाव में विकाररूप परिणम नहीं हो सकता, ऐसा एक अनवय व्यतिरेक सम्बन्ध है। इससे यह बात जानना कि पर उपाधि के सन्निधान में इस जीव ने अपने में रागादिक विकार उत्पन्न किया।

1411- स्फटिकमणि के दृष्टान्तपूर्वक विकार में परसंग के ही निमित्तत्व की सिद्धि-

विकार में परसंग की निमित्तता की सिद्धि के लिये आत्मख्याति टीका में गद्यटीका में स्फटिक पाषाण का दृष्टान्त दिया है। जैसे स्फटिक पाषाण अकेला है तो परिणमन का स्वभाव तो उसमें है ही, प्रत्येक पदार्थ में परिणमन का स्वभाव होता है। तो परिणमन का स्वभाव होने पर भी स्वयं अपनी ओर से तो वह शुद्धस्वभावरूप है सो वह स्वयं अपनी ललाई में निमित्त नहीं बनता। अकेला पड़ा हो स्फटिक पाषाण, पर उपाधि का सन्निधान नहीं है तो स्वयं ही वह केवल परिणमने का स्वभाव रखता है, पर वह रागादिकरूप नहीं परिणम जाता। इस टीका में शब्दों में कहा जा रहा है कि स्वयं रागादिक का निमित्तपना न होने से यह स्फटिक पाषाण रागादिकरूप से, ललाईरूप से स्वयं नहीं परिणमता, किन्तु 'परद्रव्येणैव' दूसरे द्रव्य के द्वारा ही वह रागादिकरूप से परिणमता है। अब यहाँ कोई दो द्रव्यों में कर्ताकर्मपना न समझ ले, जब इस प्रकार की शक्ति के साथ कहा गया है कि परद्रव्य के ही द्वारा यह स्फटिक पाषाण रागादिक रूप से परिणमता है, मायने लाल, पीले आदिक रूप बनता है, तो इस शब्द को सुनकर कर्तृकर्तव्य की कल्पना न कर लेना, इसके बीच में यह विशेषण दिया है कि अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ यह स्फटिक पाषाण रागादिक रूप से परिणम रहा है। यह बात एकदम स्पष्ट है।

1412- दर्पण के दृष्टान्तपूर्वक विकार में परसंग के ही निमितत्व की सिद्धि-

अच्छा, स्फटिक की जगह यहाँ आप उदाहरण में दर्पण ले लो। यह दर्पण स्वयं तो शुद्धस्वभाव वाला है, तो स्वयं शुद्ध स्वभावरूप से ही बन रहा है और सामने आये हुए उस लाल, पीले कपड़े ने इसको लाल, पीला बना दिया हो यह बात तो नहीं है, फिर भी उसका सन्निधान पाकर यह दर्पण इस प्रकार लाल, पीला आदिक रूप बनने में अपनी शुद्ध स्वच्छता की व्यक्ति से च्युत हुआ और यह फोटोरूप परिणम पाया याने परिणमन इसका खुद का है। अच्छा, और ऐसा निमित्त योग बना क्यों? हुआ क्यों? यों निमित्त हुआ कि निमित्तभूत पदार्थ स्वयं रागादिकभाव से आपन्न (प्राप्त) है। श्री अमृतचन्द्र सूरि के शब्दों में यह बात ध्वनित हुई कि ''परद्रव्य के ही द्वारा'' चूँकि वह परद्रव्य स्वयं लाल रंग से आपन्न है, वह कपड़ा स्वयं लाल है, सो उस परद्रव्य के द्वारा ही दर्पण शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ लालरूप में परिणमता है। वह इस दर्पण की लालिमा का निमित्तभूत है। कहते हैं ना कि अनुरूप कारण होना चाहिए, अनुकूल कारण होना चाहिए। जब एक प्रश्न होता है कि जैसे कोई कार्य हो रहा तो उस समय तो वहाँ अनेकों चीज उपस्थित हैं, सभी क्यों

नहीं निमित्त कहलाते? कोई एक पदार्थ ही क्यों निमित्त कहलाता? तो जो कार्य होना है उस कार्य के अनुरूप ही निमित्त कारण होता है, उसका सन्निधान पाकर उस प्रकार का कार्य बनता है तो यह लाल कपड़ा स्वयं लालिमा से आपन्न उसके सान्निध्य में यह दर्पण स्वयं अपने शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ लालिमारूप से परिणम जाता है। देखिये, शिक्षा क्या लेना है? कि यह जो दर्पण लालरूप परिणमा है सो यह दर्पण का स्वरूप नहीं, दर्पण का स्वभाव नहीं, किन्तु यह तो औपाधिकभाव हैं, अनुकूल निमित्त-सन्निधान में यह परिणमन बना है। यह दर्पण की चीज नहीं, तो दर्पण की स्वच्छता पर दृष्टि सहसा सुगमतया पहुँच जायगी। यह निर्णय होगा कि दर्पण तो अपने में एक स्वच्छतामात्र है।

1413-आत्मा के विकार में परसंग के ही निमित्तत्व की सिद्धि-

कुछ दार्ष्टान्त परखिये। केवल यह आत्मा परिणमन का स्वभाव तो रख रहा है। यह तो प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है। तो परिणामनस्वभाव रखने पर भी स्वयं यह आत्मा शुद्धस्वभावरूप है, यह आत्मा अपने सत्त्व से, अपने स्वरूप से केवल एक दर्शनज्ञानसामान्यात्मक याने प्रतिभासमात्र है, जैसे कि प्रकाश तो प्रकाशमात्र है, अब यहाँ लाल, पीला, हरा आदि जिस रंग का बल्ब चढ़ा हो या जिस रंग का कागज चढ़ा हो, उपाधि का सन्निधान हो तो प्रकाश हरे, पीले रूप होता है मगर प्रकाश का स्वयं स्वरूप क्या है इस लाल, पीले आदिक से अलग? आत्मा का स्वयं का स्वरूप क्या है? शुद्धस्वभाव प्रतिभासमात्र, तो स्वयं शुद्ध स्वभावमात्र होने से यह आत्मा स्वयं अपने आपके रागादिक विकारों में निमित्त नहीं होता। तो स्वयं तो अपने विकार में निमित्त होता नहीं, तो हुआ क्या? परद्रव्य के द्वारा ही यह आत्मा स्वयं रागादिक रूप से परिणम गया। कितना इन वाक्यों में नियन्त्रण है हर जगह, ताकि कोई इनको सुनकर किसी प्रकार की अटक न पाये। पर द्रव्य द्वारा परिणमा है तो यह आत्मा रागादिक विकाररूप, मगर यह स्वयं परिणमा। ऐसा वह परसंग एक सन्निधान है, वातावरण है, वहाँ यह आत्मा स्वयं रागविकाररूप परिणमा। मगर निमित्त खुद नहीं कहलाया, निमित्त परसंग ही है। कैसे परिणम गया? अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ परिणम गया। कहीं ऐसा नहीं है कि कर्मोदय आया और यह आत्मा तो स्वयं अपने शुद्ध स्वभाव से परिणमने का ही काम कर रहा और इन कर्मविपाक ने उसे अपनी शक्ति से, परिणति से इसको रागरूप बनाया हो। वह तो निमित्त है। परिणमा यह जीव स्वयं है।

1414- अनुकूल निमित्त का दिग्दर्शन-

वे कर्मविपाक स्वयं रागादिक भावों से आपन्न है मायने जो कर्म उदय में आये हैं वे कर्म जब भी बँधे थे कोई कोड़ाकोड़ी पहले सागर बँधे थे, कोई कभी बँधे थे, जिस काल में बँधे थे उस ही काल में उसमें प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग बंध हो गया था। प्रकृति बंध मायने ये इतने निषेक ये अमुक प्रकार की प्रकृति के हैं, ज्ञानावरण प्रकृति के हैं, ये राग प्रकृति के हैं आदि। प्रदेश मायने परमाणु। स्थिति मायने कितने दिन तक ये निषेक आत्मा में ठहरेंगे और अनुभाग मायने कितनी डिग्री तक वे फल देने की शक्ति रखेंगे। तो यह उन

कर्मों में स्वयं अनुभाग पड़ गया था। जैसे कि कपड़ा लाल है और दर्पण के सामने आया, दर्पण लाल फोटोरूप बन गया, तो जैसे कपड़ा खुद लाल है ऐसे ही ये कर्मनिषेक खुद राग, खुद द्वेष याने इनमें प्रकृति वही पड़ी है, ये अचेतन हैं। कैसा कर्मनिषेक में रागविपाक है हम इस विषय में ज्यादह नहीं कह सकते हैं, क्या सूक्ष्म पर द्रव्यगत बात है मगर युक्ति बतलाती है, आगम बतलाता है, स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य ने गाथाओं में बतलाया है 'मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेवअण्णाणं। अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा'। कषाय मिथ्यात्व आदि ये सब दो-दो हैं- जीव मिथ्यात्व, अजीव मिथ्यात्व आदि। कर्म में जो मिथ्यात्व प्रकृति है, प्रदेश है, अनुभाग है वह सब अजीव मिथ्यात्व है। तो अजीव मिथ्यात्व का उदय है, अजीव कषाय का उदय है। अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदिक ये स्वयं कर्म हैं, इनका विपाक काल आया, बस यह तो कहलाया निमित्तपना, अब उस काल में यह जीव स्वयं अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ राग विकाररूप परिणम जाता है, यह हुआ नैमित्तिक कार्य।

1415- रागविकार के निमित्त का दृढ़तापूर्वक निर्णय-

यहाँ आचार्यदेव ने जोर इस बात पर दिया कि रागादिक विकाररूप यह जीव परद्रव्य के द्वारा ही परिणमा सो अपने कर्तव्य की बात इसमें कुछ मत लगाओ। यह मेरी चीज है, यह मेरा स्वरूप है, मैं इसे क्यों जाने दूँ, मैं इस राग की क्यों न रक्षा करूँ, आखिर हमारी ही तो चीज है। जैसे कि सोचते हैं ना माता-पिता, माँ अधिक सोचती कि आखिर यह मेरे पेट से ही तो पैदा हुआ लड़का है। क्यों न मैं इसे अपनाऊँ? क्यों न मैं इसे सुखी करूँ? अगर देश निकाला का आदेश दे दिया राजा ने उस लड़के के माता-पिता को तो वे माता-पिता सोचते- मैं अपने लड़के को भी साथ क्यों न ले जाऊँ, आखिर वह मेरा ही तो बेटा है। तो ऐसा यहाँ विकार के सम्बन्ध में न सोचना। यदि कोई विकार को अपनाये तो वह अज्ञान दशा की बात है कि ये रागादिक परिणतियाँ मेरी ही तो हैं, मैं इन्हें क्यों जाने दूँ, मैं इनकी क्यों न रक्षा करूँ। ऐसा उन रागादिक भावों में आत्मीयता का प्रतिषेध करने के लिए इस प्रकरण में बताया जा रहा है कि ये रागादिक भाव परभाव है, क्योंकि इनकी उत्पत्ति में यह आत्मा खुद निमित्त नहीं है, परसंग ही इसमें निमित्त है, तो कहते हैं कि स्वयं जो रागभाव करके सहित है वह कर्मप्रकृति उसके ही द्वारा यह जीव शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ रागविकार रूप परिणम जाता है। जातु, तावद्, वस्तुस्वभावः, एव, इन चार शब्दों को इस एक ही कलश में रखने से कैसा दृढ़ निर्णय बताया भली प्रकार से यह वस्तु का स्वभाव है, याने आत्मा में रागादिक विकार इसी प्रक्रिया से होते हैं। देखिये, वह सब निष्पत्तिदृष्टि से कथन चल रहा है। जब निर्णय किया जाता है वैज्ञानिक विधि से तो कैसे बना, कैसे क्या हुआ सब निर्णय लेना और जब यह निरखते हैं कि विशिष्ट ज्ञानियों ने तो जान ही लिया, यद्यपि जाना उन्होंने वही जिस विधान से जो बात हुई है, होगी, मगर जान तो लिया, अब उस जानन की ओर से देखें तो यह बन गया निर्णय कि जिस समय में जो बात होती है उस समय में वह बात हुई, मगर हुई किस विधि से, उस विधि का निर्णय निष्पत्तिदृष्टि से बनता है।

1416- रागादिकविकार में परसंग के ही निमितत्व का दृढ़ बोध होने पर स्वयं में विकार के अकारकत्व की सिद्धि-

परद्रव्य के द्वारा ही आत्मा रागादिकरूप से परिणत होता है। स्वभाव को जो पहिचान लेगा मायने रागादिक विकार जीव में जीव की ओर से जीव ही निमित्त बनकर नहीं होता, ऐसा जो जानेगा वही दृढ़ता से यह कह सकेगा कि मैं रागादिक भाव को करता नहीं। रागादिक भाव का कर्तृत्व मिटाने के लिए यह प्रकरण बहुत ही सहयोगी है, ऐसा यह स्वभाव है मायने एक पद्धति है, इस तरह होता है। इस बात को तावत्, एव, स्वभाव, जातु इन शब्दों में कहकर पुष्ट किया है। यहाँ कहीं यह न जानना कि दो द्रव्यों का वर्णन चल रहा है, घटना की बात कही जा रही है सो यह व्यवहार है और असत्य है। देखिये, व्यवहार कोई सत्य है, कोई असत्य है। कौनसा व्यवहार असत्य है? उपचार वाला व्यवहार। यहाँ तीन बातें समझना असत्य, सत्य और आश्रयणीय। प्रकरण में जो रागादि की निष्पत्ति की विधि कही है यह बात तो सत्य है, यह वस्तुस्वभाव है, रागादिक विकार इस पद्धति से बने, पर आश्रयणीय क्या है? इसके फलस्वरूप जो एक निर्विकार अखण्ड विविक्त चैतन्यस्वभाव दृष्टि में आये वह आश्रयणीय है, असत्य आश्रयणीय नहीं होता है, सत्य ही कोई आश्रयणीय है कोई नहीं भी है। सत्य को परसम्बंधित सत्य, स्वसम्बंधित सत्य और स्वपयोगी सत्य, तीन प्रकार में देखना। बाहरी पदार्थों में क्या हो रहा, किस तरह हो रहा, क्या घटना है, यह सब सत्य है, जानते ही हैं रोज-रोज चूल्हा जलता है, रोज रोज उस आग से रोटी सिकती हैं। सब बात जान रहे हैं कि क्या निमित्तनैमित्तिक योग है, अगर निमित्तनैमित्तिक योग नियत व्यवस्था में न हो तो रोज रोज अटपट विडम्बना बने, आज तक तो रोटियाँ आग से ही सिकतीं रहीं, पर पता नहीं अब आग से सिकेंगी या धूल से या पानी से, या अन्य किसी चीज से? ऐसी भी कोई शंका करता है क्या? अरे !सभी के चित्त में निमित्तनैमित्तिक योग की नियत व्यवस्था घर कर गई है मगर ध्यान यह देना है कि इस निमित्तनैमित्तिक योग के प्रकरण में भी वस्तु सब न्यारी-न्यारी हैं, सब अपनी-अपनी परिणति से परिणमने वाली हैं।

1417- विकारनिष्पत्ति के तथ्य का उपसंहार-

विकार में ऐसा सहज योग होता है कि वह परसंग पाकर ही विकृत बनता है, मगर पर ने विकृत नहीं बनाया। जैसे उपादान खुद ही विकार से निमित्त होता तो वहाँ यह दोष आता है कि फिर तो ये विकार सदा रहने चाहिए, ऐसे ही निमित्त अगर विकार-परिणति करता है तो वहाँ भी यह ही दोष आता है फिर भी इसमें आत्मा का क्या उठता? वह तो उसकी मर्जी है, निमित्त तो पर का विकार परिणमन करने में स्वतंत्र है, वही विकाररूप परिणमा देता है तो बस उसकी मर्जी पर बात है सब। कदाचित् मर्जी आये निमित्त की, स्वयं विकार परिणमन न करायें तो छुट्टी मिल पायेगी, सो भला निमित्त ऐसा क्यों बुद्धू बने कि वह कभी विकार न परिणमाये, वह तो अपना कुल बढायेगा ही, तो ध्यान दोनों में देना, रागादिक विकार होने में यह आत्मा स्वयं निमित्त नहीं एक बात, दूसरी बात परद्रव्य का निमित्त सन्निधान पाकर ही यह जीव रागादिक विकाररूप से

परिणमा है तो भी निमित्त ने रागादिकरूप नहीं परिणमाया, किन्तु यह जीव स्वयं शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ उस प्रकरण में रागादिकरूप से परिणम गया है, यह एक निर्णय दिया। इस निर्णय से क्या शिक्षा मिलती और इस जीव का क्या भला होता और इसको किस ढंग से घटाना चाहिए, इन सबका उत्तर आगे के कलश में आयगा।

कलश 176

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन स: ।
रागादीन्नात्मन: कुर्यान्नातो भवति कारक: ॥176॥

1418- आत्मा के शुद्धस्वाभावत्व, विकाराकर्तृत्व व समुचितोपादानस्वभाव का दिग्दर्शन-

पिछले कलश में यह बताया गया था कि कभी भी आत्मा अपने रागादिक भावों के होने में खुद ही निमित्त नहीं हो पाता। उसमें निमित्त परसंग ही है और यह एक वस्तुस्वभाव है कि ऐसी पर्याय योग्यता वाला पदार्थ ऐसे निमित्तसन्निधान में अपने आपमें अपना विकार परिणाम करता है, जिसको आत्मख्याति टीका में इन शब्दों में कहा कि यह आत्मा स्वयं रागादिक रूप नहीं परिणमता किन्तु परद्रव्यों के द्वारा ही शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ आत्मा रागादिक रूप से परिणमाया जाता है। यहाँ अर्थ तो यह है मगर इस बात को बड़े जोरदार शब्दों में कहने का प्रयोजन क्या है? प्रयोजन यह है कि इस आत्मा की समझ में यह बात आ जाय कि मैं रागादिक का अकर्ता हूँ, इस प्रयोजन के लिए यह प्रकरण दिया है क्योंकि बहुत पहिले से यह प्रकरण चला आ रहा था कि यह जीव मिथ्या अध्यवसाय करता है कि मैं मारूँ, जलाऊँ आदि। ज्ञानी के अध्यवसाय नहीं होता, अज्ञानी के अध्यवसाय होता है जैसे कि मैं करने वाला हूँ, मैंने अमुक काम किया। आचार्यदेव यहाँ बतला रहे हैं कि इन आश्रयभूत कामों में इसको मैंने किया, यह बात तो दूर रही मगर आत्मा में उठने वाले जो रागादिक भाव हैं उनको भी मैं नहीं करता हूँ। ज्ञानी की यह आस्था है, वह परख रहा है कि ये रागादिक विकार जो हुए सो यद्यपि मेरी ही भूमि में हुए तो भी मैं इनका कर्ता नहीं, क्योंकि इनका निष्पत्ति में निमित्त परसंग ही है। जैसे सिनेमा के हाल में पर्दे पर चित्र आते, चित्रों का आधार है वह पर्दा, मगर उस दूसरे कमरे में बैठा हुआ जहाँ फिल्म आफिस है वहाँ वह अपनी मशीन चलाता रहा है और उस प्रकार का फोटो फिल्म की एक रील में आती जाती है, उसमें बिजली का तेज प्रकाश भिदता रहता है और उसका निमित्त पाकर उस पर्दे पर वह सारा चित्रण प्रकट हो जाता है, तो उस काल में उस पर्दे का जो एक शुद्ध सफेद स्वरूप है, पर्दा सफेद ही तो है, वह पर्दा अपनी उस शुद्ध सफेदी को छोड़कर उन चित्रों पर परिणम

रहा है, मगर ऐसा परिणमने में वहाँ पर्दा खुद निमित्तभूत नहीं है, किन्तु फिल्म पर का संग ही निमित्त है। इसी प्रकार इस उपयोग-पर्दे पर जो कुछ भी चित्रण चल रहा है, रागद्वेष क्रोधादिक भावों का यह चित्रण यहाँ चल रहा, परिणम रहा यह उपयोग जीव, मगर उसमें परसंग ही निमित्त है, आत्मा स्वयं निमित्त नहीं। तो वहाँ वह यह उत्साह कर रहा है भीतर में कि इसको करने वाला मैं नहीं।

1419- प्रमाण से परखने पर आत्मा के शुद्धभावत्व व अकर्तृत्व का परिचय-

देखिये एक दृष्टि की बात- अशुद्ध निश्चयदृष्टि से देखना है, तो क्या कहेंगे कि आत्मा में जो रागादिक विकार परिणमन हो रहा है उसका करने वाला आत्मा है, अपनी परिणति से करता है, अपनी योग्यता से करता है। यहाँ यह भी एक तथ्य है, मगर यह किस रोग को मिटाने की ओषधि है? जो यह बात बसी थी कि कर्म ने रागादिक किया, निमित्त के कर्तृत्व का राग जहाँ बस गया था उसको हटाने के लिए कहा गया है कि निमित्त ने अपनी परिणति से कुछ नहीं किया, किन्तु जो निमितत्व का वातावरण रहा उसके अभाव में राग-परिणमन नहीं हो सकता था, हुआ उपादान की योग्यता से। वह तो एक निश्चयनय से ही देखने में बैठा है याने एक ही पदार्थ को देखने में बैठा है तो एक पदार्थ को जब देख रहा तो एक में एक का तो बोध चलता है, वहाँ यह ज्ञान बताना कि आत्मा में ज्ञानविकल्प हुआ, उसकी योग्यता से हुआ, यों होता चला आ रहा, यह सब तो कहा जा सकता, लेकिन वहाँ दूसरे की चर्चा ही न करना चाहिए, क्योंकि वह निश्चयनय के मूड़ में देख रहा है। वह दृष्टि केन्द्रित है, वहाँ दूसरे की चर्चा तक भी नहीं करना चाहिए कि उस समय निमित्त यह है इसके कहने की आवश्यकता नहीं, अगर कहता है कोई तो वह निश्चय नय के मूड़ में रहा नहीं, तो निश्चयनय की दृष्टि में केवल एक ही एक पदार्थ नजर आता- यह है, ऐसा परिणमा, अपनी योग्यता से परिणमा, यह दृष्टि रखना है। अब जरा प्रमाण दृष्टि से देखें, आखिर यह हुआ क्यों? युक्ति से निरखें कि आखिर यह बना क्यों? क्या आत्मा में रागादिक विकार जितने होते हैं वे मात्र अपनी योग्यता से ही याने परसंग बिना ही हो जाया करते है? उसके लिए अभी बताया गया था कि आत्मा का परिणमन स्वभाव है, उसमें कोई दखल नहीं दे सकता, वह परिणमता ही रहेगा, आत्मा खुद तो शुद्धस्वभाव है याने अपने स्वरूप से सत्, पररूप से असत् ऐसा पर से विविक्त अपने ही स्वभावमय है, तो जब स्वयं शुद्धस्वभाव है तो अपने विकारभाव में खुद निमित्त कैसे हो सकता?

1420- विकारपरिणमनों की नैमित्तिकता के परिचय से आत्मा के अकर्तृत्व का परिचय-

जितने भी विकार विषम परिणमन है वे सब कुछ नैमित्तिक हैं अनैमित्तिक नहीं होते हैं। विषम परिणमन याने अभी कुछ था, अब कुछ बन गया, ऐसा जो व्यक्त बदल होती है उस बदल का कोई परसंग निमित्त होता है। अब करें खोज अपने में, रागादिक भाव होना अपने आप पर ही घटित करें, मेरे इस विकार भाव में परसंग ही निमित्त है, और ऐसा ही यह वस्तुभाव है कि ऐसा उपादान ऐसे निमित्त सन्निधान में अपने विकार को उत्पन्न करता जिसे यहाँ अमृतचन्द्र सूरि ने और कुन्दकुन्दाचार्य देव ने जोरदार शब्दों में कह दिया कि

परद्रव्य के ही द्वारा आत्मा रागादिकरूप परिणमाया जाता है, तो ऐसा जानकर हमें शिक्षा क्या मिली? अगर हम बहुत बातें कहते रहें, बोलते रहें, जानते रहें और उसमें हम अपना कोई प्रयोजन न हल कर सकें, न निकाल सकें अपने हित की बात न पा सकें तो उस चर्चा से लाभ क्या? तो इस चर्चा में, इस तथ्य के परिचय में कौनसी उपलब्धि होती? यह उपलब्धि होती कि इस प्रकार के वस्तुस्वभाव को जानता हुआ यह ज्ञानी केवल जानता ही है, परन्तु उन रागादिक भावों को, जिनमें निमित्त परसंग ही है, उनको अपना नहीं करता याने आत्मा इनको करने वाला है, यह बात तो तब कहलायेगी कि जब यह स्वयं ही उपादान और स्वयं ही निमित्त होगा, जैसे कि सिद्ध अवस्था में सिद्धप्रभु परिणम रहे, स्वयं ही उपादान है, निमित्त की बात क्या है? वहाँ वह अनैमित्तिक परिणमन है।

1421- स्वभावपरिणमनों की अनैमित्तिकता तथा स्वभावपरिणमननिष्पत्ति प्रथमक्षण में स्वभावविरुद्धपरिणमन के निमित्त की निवृत्ति की (अभाव की) निमित्तता-

एक बात जानना कि जितने भी शुद्धभाव होते हैं वे सब अनैमित्तिक परिणमन हैं। अब वहाँ देखना, कालद्रव्य साधारण है, उसकी चर्चा कहीं न लायें, वह तो सबके लिए साधारण परिणमनहेतु है, पर जितने भी शुद्ध परिणमन हैं उन परिणमनों में न आश्रयभूत कारण मिलता और न निमित्त कारण मिलता याने आश्रयभूत करने की तो बात ही क्या कहें, यहाँ कोई परद्रव्य का सद्भाव रूप निमित्त कारण भी नहीं होता। आत्मा परिणमन स्वभाव वाला है, स्वयं शुद्ध स्वभाव है। बस कालद्रव्य का निमित्त होना सबको एक साधारण बात है। परिणमनस्वभाव होने से आत्मा अपने में अपने स्वभाव के अनुरूप निरन्तर परिणमता रहता है। परन्तु एक बात और समझें, शुद्ध परिणति का जो प्रथम समय है याने प्रारम्भ में जिस काल में वह शुद्ध परिणमन हुआ, चाहे सम्यक्त्व कहो, केवलज्ञान कहो, जो भी शुद्ध परिणमन हुआ है किसी पहले समय में याने उससे पहले शुद्ध परिणमन न था और अब शुद्ध परिणमन हुआ। तो इतनी बात तो जानने में आयी कि कोई नया परिवर्तन हुआ है, जो समझ में आता है कि ओह ! पहले वह एकदम यह था, अब यह एकदम इस प्रकार बन गया तो ऐसी उस शुद्ध परिणति का जो प्रथम समय है याने शुद्ध परिणति की निष्पत्ति का काल है उस काल में यह तो थोड़ा सोचना होगा कि जब एक प्रकार के परिणमन से एक अद्भुत परिणमन हुआ है तो वहाँ कोई निमित्त है, मगर वहाँ निमित्त क्या है कि उस शुद्ध परिणमन से पहले जो अशुद्ध परिणमन था और उस अशुद्ध परिणमन का जो निमित्त था बताया ही है कि परसंग ही विषम परिणमन का निमित्त है। जिस-जिस प्रकृति का उदय शुद्ध परिणमन के प्रतिपक्षभूत विकार का निमित्त था उस निमित्त का क्षय होना, उसका अभाव होना यह अभावरूप निमित्त उस शुद्ध परिणमन के प्रथम समय में है। जो निमित्त अशुद्ध परिणाम का कारण था उस निमित्त का अभाव होना ही शुद्ध परिणाम की निष्पत्ति होने का निमित्त है, अर्थात् अशुद्ध परिणाम का निमित्त हटकर बस साधारण स्थिति आयी, शुद्ध परिणाम हुआ। अब उसके बाद जितने भी शुद्ध परिणाम होते

जायेंगे उसमें अब वह बात भी न सोचें, वह केवल प्रथम समय के लिए सोची हुई बात थी, आगे शुद्ध परिणति धर्मादिद्रव्यवृत्त होती रहती है।

1422- सम्यक्त्वघातक सप्त प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम में निवृत्तिरूपता का दर्शन-

एक बात और स्मृति कीजिये कि जिसे सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ तो सम्यक्त्व की उत्पत्ति का जो प्रथम समय है जिस समय सम्यक्त्व हुआ तो सम्यक्त्व होने के काल में कारण क्या? किस कारण को पाकर सम्यक्त्व हुआ? इसका सही समाधान पाने के लिये पहले तो यह ही निर्णय बनायें कि सम्यक्त्व शुद्ध परिणाम है या शुभ परिणाम है या अशुभ परिणाम है? यह तो सब कोई कह देगा कि सम्यक्त्व शुद्ध परिणाम है, शुभ नहीं, अशुभ नहीं, तो उस सम्यक्त्व शुद्ध परिणाम की उत्पत्ति में न तो कोई आश्रयभूत कारण होगा न कोई सद्भावस्य निमित्त होगा। जब सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ उस काल में यह तो बताया गया कि 7 प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम निमित्त है। हाँ बात ठीक है और निमित्त है, मगर उसका अर्थ क्या? 7 प्रकृतियों के उपशम का अर्थ क्या कि अब 7 प्रकृतियों का उदय नहीं चल रहा। अब अन्तर्मुहूर्त काल में 7 प्रकृतियों का उदय नहीं है। मिथ्यात्वादि प्रकृति का उदय है सद्भावरूप निमित्त और वह है मिथ्यात्व का निमित्त। मिथ्यात्वभाव की निमित्तभूत 7 प्रकृतियों का उदय न रहा तो अभाव ही अर्थ आया ना उपशम का।

1423- उपशम सम्यक्त्व में सम्यक्त्वघातक प्रकृतियों के अनुदय की व्यवस्था–

उपशम के लिये व्यवस्था यह होती है कि जैसे मानो 7 प्रकृतियों की सत्ता का कोई समय रख लो, मानो 8 बजे तक है, है तो सागरों की बात। 8 बजे तक है, इस समय मानो पौने 8 बजे हैं और उपशम सम्यक्त्व का काल है मानो 7 बजकर 50 मिनट पर। तो अब क्या है? सत्ता पड़ी हुई है अनन्तानुबंधी 4 की व दर्शनमोह 3 की। किसी के 5 की सत्ता, किसी के 7 की सत्ता, यह अनादि व उद्वेलना वाले मिथ्यादृष्टि आदि मिथ्यादृष्टि का भेद है। अब जैसे मानो 7 बजकर 48 मिनट पर पहुँचे, उस समय क्या होने लगता कि 7 बजकर 50 मिनट से 7 बजकर 51 मिनट तक एक मिनट तक उपशम सम्यक्त्व रहना है तो उस एक मिनट की स्थितियाँ आगाल- प्रत्यागाल द्वारा कुछ तो पहले समय में मिल जाती है, कुछ अगले समय में मिल जाती हैं। एक मोटा दृष्टान्त लो, जैसे कोई धार्मिक वकील है और उसको अचानक इच्छा हुई कि हमको भादों के इस लक्षण के दिनों में कोर्ट में नहीं जाना चाहिए, तो वह क्या करता है कि उन दसलक्षण के दिनों में कोई तारीख लगी हो तो उस तारीख को वह दसलक्षण से आगे या पीछे लगवाने की कोशिश करता है, बस इसी को कहते है आगाल-प्रत्यागाल। पहले लगवाने को आगाल और पीछे लगवाने को प्रत्यागाल कहते हैं। तो उस एक मिनट की स्थिति के 7 प्रकृतियों के निषेक 49 वें व पूर्व के मिनट में आ जायेंगे, कुछ 52 आदि मिनट में पहुँच जायेंगे, ऐसा हो होकर जब यह अन्तरकरण पूरा हो जाता है मायने उस मिनट में उस स्थिति की कोई ये प्रकृतियाँ नहीं रहती तो अन्तरकरण होने के बाद अन्तर्मुहूर्त विश्राम करके अन्तर के आदि समय में औपशमिक सम्यक्त्व होता है, होता रहता है सब अनिवृत्तिकरण परिणाम में,

अनिवृत्तिकरण परिणाम में अन्तरकरण हो, विश्राम हो और फिर वह कालप्राप्ति आयी, वह 50 वें मिनट में पहुँच गया, यहाँ अनिवृत्तिकरण का अन्त है। अब एक मिनट तक उपशम सम्यक्त्व है, वहाँ उदय तो न रहा। उदय की बात तो दूर रहो, उस स्थिति का यह कर्म भी नहीं है। देखो, कितनी विचित्र बात है। किसी भी कर्म की स्थिति क्या इस तरह टूटती है कि आज से मानो 10 वर्ष की स्थिति का है कर्म कोई तो बीच में किसी स्थिति का रहे नहीं, यह बड़ी अद्भुत बात है, और इस करण परिणाम के द्वारा ऐसी अद्भुत बात उपशम सम्यक्त्व के लिए बने तो अनुदय रहा ना, तो उस दर्शनमोह का अनुदय वहाँ उपशम सम्यक्त्व का हेतुभूत हैं।

1424- क्षयोपशम सम्यक्त्व व क्षायिक सम्यक्त्व में अनुदय की विधि-

क्षयोपशम सम्यक्त्व में भी यह ही बात है, वहाँ जो 7 प्रकृतियाँ हैं, अनन्तानुबंधी 4, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति, इनमें 6 तो हैं सर्वघाती, उनका तो उदयाभावी क्षय होगा और सत्ता वाले का उपशम होगा, और सम्यक्त्वप्रकृति का उदय है वहाँ, लेकिन वह उदय सम्यक्त्व को बिगाड़ने में समर्थ नहीं। कुछ चल, मलिन, अगाढ़ दोष बनता है तो उन दोषों का निमित्त रहे, किन्तु सम्यक्त्व का हेतुभूत उदयाभावी क्षय व उपशम तो है उन छह प्रकृतियों का, कितना विशुद्ध परिणामों का प्रभाव आ रहा है। उन 7 प्रकृतियों का उदयक्षण न आये, उदयावली आये, उदयकाल से एक समय पहले वे 6 प्रकृतियाँ अन्य अन्यरूप बन-बनकर उदय में निकल जाती हैं, इसे कहते हैं उदयाभावी क्षय और उनकी स्थिति जो आगे की पड़ी है वह कहीं उदीरणा में न आ जाय ऐसा नियंत्रण है उपशम, तो इसमें अनुदय रहा। जहाँ क्षायिक सम्यक्त्व है वहाँ 7 प्रकृतियों का क्षय है।

1425- परम्परया कारणों के रूप में सम्यक्त्व के बाह्य निमित्तों की चर्चा-

अब फिर भी यह सोचो कि आगम में यह बात लिखी है कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने में इतने कारण हैं देवदर्शन, ऋद्धिदर्शन, कल्याणदर्शन, अरहंतदर्शन आदिक, और नरकों में वेदनानुभव आदिक, इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि सम्यग्दर्शन से पहले अनिवार्य है शुभोपयोग का होना, अशुभोपयोग के बाद शुद्ध परिणाम नहीं हुआ करते, उस शुभोपयोग में जो सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पहले हुआ उस शुभोपयोग में ये कारण तो बताये गए हैं वे आश्रयभूत हैं, निमित्त वे भी नहीं हैं, जीव के भाव में एक कर्मदशा ही निमित्त होती है, बाकी जितनी भी चीजें कारण रूप से कही जायें उसका अर्थ है आश्रयभूत कारण, निमित्त कारण नहीं। तो उस शुभोपयोग की निष्पत्ति में वह आश्रयभूत कारण था, तो चूंकि उस शुभोपयोग के बाद ही तो उस धारा में चल-चल कर याने बीच में अशुभोपयोग न आये उसमें रहकर इसने उन विकल्पों को त्यागकर सम्यक्त्व पाया है इसलिए परम्परया कारण कहकर उनका जिक्र किया जाता है। बात यह है कि शुद्ध परिणमन में तो निमित्त नहीं है बाह्यवस्तु परसंग, परन्तु अशुद्ध परिणाम में परसंग ही निमित्त है, अशुद्धपरिणमन अनैमित्तिक नहीं होता।

1426- आत्मा के रागादिक के अकारकत्व का समर्थन-

भैया, रागादिकभाव करने वाला तब यहाँ जानें आत्मा को कि जब ये जो रागादिकभाव हो रहे हैं इनमें आत्मा खुद निमित्त बने। ये मेरे स्वभाव से उठी हुई बात नहीं, इनमें परसंग निमित्त है तो मैं कर्ता नहीं। यहाँ निमित्त पर दृष्टि दी और उस पर कर्तृत्व का आरोप किया। देखिये- आत्मा के उस ज्ञानविकल्प को कर्म ने अपनी परिणति से नहीं किया, उसे तो किया इस जीव ने, अपने ही स्वरूप में विकार लगा लिया। किन्तु यह हो सका परसंगसान्निध्य में ही, आत्मा ने अपने आपसे विकार नहीं किये, अत: आत्मा रागादिक विकारों का अकारक है, यह बात यहाँ दिखायी गई है। इसमें निमित्त चूंकि परसंग ही है इस कारण मैं उन रागादिक विकारों का कर्ता नहीं। तो अपने में विकारों का अकर्तृत्व समझने के लिए इन उपायों को प्रयोग बनायें, वस्तुस्वभाव का परिचय बनायें कि मैं इन रागादिकों का अकारक हूँ, ऐसा समझ लेने के बाद यह समस्या अपने आप हल हो जाती कि ज्ञानी जीव के अध्यवसाय नहीं होता, क्योंकि वह अकारक है, अकर्ता है। जो अहंकार रखे सो कर्ता, जिसको अहंकार नहीं वह कर्ता नहीं। तो इस प्रकार के स्ववस्तुस्वभाव को ज्ञानी जानता है, तो यह रागादिक को अपना नहीं कर रहा। देखिये अशुद्ध अनिश्चयनय में यह निर्णय आयेगा कि मैंने ज्ञानविकल्प किया। अब जब यहाँ सर्वतोमुखी दृष्टि हो रही है और आत्मा के भीतर उस शुद्ध स्वभाव को निरखा जा रहा है, वहाँ यह निर्णय है कि रागादिक को मैने नहीं किया। आत्मा रागादिक का अकर्ता है, क्योंकि रागादिक भावों में इसको राग नहीं है ना। हुआ है सो उसे जानता है जानता भर है, पर उसका कर्ता नहीं, उसमें अपनापन नहीं। उसमें अपनापन क्यों नहीं है क्योंकि उसने यह जाना कि अपना तो केवल एक शुद्ध चैतन्यमात्र सर्वस्व है और कुछ नहीं है तो वह निष्पत्ति-विधि में जैसी कि बात होती रहती है उसका वह जाननहार है, वह रागादिक भावों का कर्ता नहीं। अपने आपमें अकर्तृत्व समझने के लिए यह प्रकरण, एक सर्वविशुद्ध ज्ञान को अनुभवने के लिए यह प्रकरण और इस प्रकार का निर्णय सुगम ढंग से लाभ पहुँचा रहा है। मैं रागादिक का कर्ता नहीं यह प्रकरण चलेगा इस अधिकार में अन्त तक। अब वही-वही विषय होगा कि यह आत्मा रागादिक भावों का कर्ता नहीं है, दृष्टान्त देकर युक्ति देकर यह प्रकरण होगा कि यह आत्मा अकर्ता है। होता है रागादिक विकार उसको जान लिया कि इस परसंग की संनिधि में इस-इस प्रकार का इस भूमि पर परिणमन हो रहा, पर इसके अन्दर से कोई उमंग नहीं वहाँ। वह राग को अपनाता नहीं, अपना नहीं बनाता और निरख रहा कि मैं रागादिक का कर्ता नहीं हूँ।

1427- राग होना व राग का कर्ता होना इन दोनों का विश्लेषण-

राग होना और राग का कर्ता होना इन दोनों में पहले अन्तर समझिये। राग होने की विधि तो यह है कि जो कल के कलश में प्रतिपादित हुआ। 'तस्मिन्निमित्तं परसंग एव', उसी से सम्बंध पाकर यह विधि बनी कि राग का मैं कर्ता कैसे? मैं तो शुद्धचैतन्यमात्र हूँ, मैं इन रागादिक भावों का निमित्त नहीं हूँ और ये रागादिक भाव निमित्त गिना हो सकते नहीं, क्योंकि निमित्त बिना याने निमित्त-सन्निधान के अभाव में भी

परिणमन होगा वह शुद्ध परिणमन होगा, वहाँ विकृत परिणमन न होगा, तो सब परख लिया कि यह है विकार का विधान, इस तरह हुए हैं ये रागादिक 'मैं इनका कर्ता नहीं'। राग होना यह बात तो ज्ञानी के भी चल रही है, अगर राग में राग हो तो वह कर्ता कहलाता है याने इस रागरूप मैं हूँ, मैं कितना अच्छा कर रहा हूँ इस तरह से अगर वह अपने में निर्णय रखता है तो वह कर्ता है।

1428- अध्यवसाय वाला विचार न करके शुद्धतत्त्व का मनन करने का अनुरोध-

लोग तो ऐसा सोचते कि मैंने तो इस काम को बहुत विचार कर किया, बहुत दिनों तक इस काम का विचार किया, अब तो मुझे यह काम करना ही चाहिए। अरे भाई ! यह भी तो सोचो कि मैंने अनादिकाल से लेकर अब तक न जाने क्या-क्या विचार किया, पर यह विचार कभी नहीं किया कि हमें स्वरूपदर्शन चाहिए, स्वभाव की अनुरूपता चाहिए, आत्महित की बात चाहिए। अरे ! अब तो एक अपना सही विचार बनाओ कि हमें तो अपने आत्मा का कल्याण करके ही रहना है। आज तक जो कुछ विचारते आये, जो कुछ करते आये उसको तो खोटा समझकर छोड़ना ही चाहिए, ये अध्यवसाय तो सब नैमित्तिक हैं, खोटे हैं, दु:खदायी हैं, इन्हें में नहीं करता, ऐसा जानकर अब मैं अपने आपके शुद्धस्वभाव को यह मैं हूँ चैतन्यमात्र, ऐसा जान लें, उसका आदर करें, उसका आश्रय लें, बराबर उसकी दृष्टि बनाये रखे, उस ही दृष्टि के प्रताप से हम नियम से इस संसार-सागर को पार कर लेने का एक सुन्दर अवसर प्राप्त कर लेंगे।

कलश 177

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन स: ।
रागादीनात्मन: कुर्यादतो भवति कारक: ॥177॥

1429- स्वपरोभयसत्य के परिचय से ज्ञान के विकारों के अकारकत्व का निर्णय-

पहले बताया गया था कि ज्ञानी पुरुष इस तथ्य को जानता है कि यह मैं आत्मा स्वयं परिणमन स्वभावी हूँ, स्वयं शुद्धस्वभावी हूँ। स्वयं शुद्धस्वभावी हूँ अर्थात् अपने में अपने आपके ही द्वारा यहाँ किसी प्रकार का विकार नहीं। विकार में निमित्त परसंग ही है, वह क्या? कर्मविपाक कर्म में, कर्म में विपाक स्फुटित हुआ। उसका निमित्त पाकर रागादिक विकार हुए, आत्मा स्वरूप में से विकार नहीं कर रहा याने आत्मा का स्वभाव विकार का नहीं, मैं स्वयं अपने आप विकाररूप नहीं बन रहा, उसमें परसंग ही निमित्त है और इस स्थिति में ऐसा हो रहा है। मैं रागादिक को करता नहीं, मैं रागादिक विकारों को करने वाला नहीं।

देखिये, मैं विकार को करता नहीं, ऐसा ध्यान जिस उपाय से बन सकता था उस उपाय का प्रतिपादन श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 278 वीं 279 वीं गाथा में बताया है। स्वानुभव में पहुँचने के लिए पूर्ण साधकतम है शुद्धनय। शुद्धनय में पहुँचने के लिए साधक है परमशुद्धनिश्चयनय। परमशुद्धनिश्चयनय तक पहुँचने के लिए यहाँ हम कितने ही प्रकार के नय, विज्ञान, प्रमाण इन सबका उपयोग किया करते हैं।

1430- विभावों की परभावता व आत्मा के आत्मना स्वयं अकारकत्व के परिचय का साधन स्वपरोभय सत्य का परिचय-

निश्चयदृष्टि में रागादिक विकारों के बारे में यह तो जान लेवें कि वहाँ केवल एक आत्मा को ही देखा जा रहा है, यह आत्मा रागादिक विकारों रूप परिणम रहा है, अपनी योग्यता से परिणम रहा, उसमें ये ये परिणमन चलते जा रहे इस दृष्टि से दूसरी चीज न देखना, क्योंकि इस निश्चयदृष्टि में न अभाव बताने के लिए न सद्भाव बताने के लिये, किसी भी पर की चर्चा नहीं बन पाती। जैसे सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से जब कोई ज्ञान करता है तो एक एक समय की पर्याय बस, वही उसके ध्यान में है, उस दृष्टि में उपादान-उपादेय का निर्णय नहीं बनता, न कार्य कारण का निर्णय बनता, न निमित्तनैमित्तिक का निर्णय बनता, और विशेष्य-विशेषण सम्बंध भी नहीं बनता, याने सम्बंध नाम की कोई भी बात सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय के मूड़ में नहीं है तो वहाँ सम्बंध की बात करना ही न चाहिए, ऐसे ही समझिये कि निश्चयदृष्टि में केवल एक ही वस्तु दिखती है। एक आत्मा अशुद्ध दिखे तो अशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध पर्याय में दिखे तो शुद्ध निश्चयनय, पर्याय में नहीं, किन्तु मात्र स्वभाव में दिखे परमशुद्ध निश्चयनय। तो निश्चयनय के उपयोग में चलते हैं तो यह जीव है, राग विकाररूप परिणम रहा हैं, अपनी परिणति से परिणमता है और परिणमता जा रहा है, जिस समय जैसा परिणमन चल रहा उस समय वहाँ वही परिणमन बन रहा, वही-वही बात निश्चयनय की दृष्टि में दिख रही है। किन्तु ये रागविकार परभाव है, इसका निर्णय यह निश्चयदृष्टि नहीं कर पाती, उसका उपयोग जितने के लिए है उतना उपयोग लेना। यह विकार परभाव है, यह निर्णय करने के लिए और इसी कारण मैं इसका कर्ता नहीं हूँ, मैं रागादिक विकारों का अकर्ता हूँ उसके लिए अभी एक प्रयोग बताया गया था, वहाँ इसने क्या समझा कि समुचित उपादान कारण मायने वह योग्य उपादान वह अपने में ऐसा ही स्वभाव रख रहा कि इस प्रकार का अनुकूल परसंग निमित्त के सन्निधान होने पर ही वह अपने विकाररूप से परिणमता, इसी तथ्य को आचार्यदेव ने इतने कड़े शब्दों में, स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया कि यह जीव परद्रव्यों के द्वारा ही रागादिक रूप से परिणमाया जाता, बीच में एक विशेषण दिया है वह बड़े मार्के का है। अपने शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ रागादिक रूप से परिणमाया जाता है, कर्मवाच्य प्रयोग है, वहाँ इतना तेज निर्णय प्रयोग क्यों किया है कि रे आत्मन् ! तू यह समझ कि तू रागविकार को करता नहीं। तू अपने शुद्ध स्वभावरूप है, और देख तेरे ही सत्य-स्वरूप में उसी के ही अनुरूप पर्याय हो तो बस उसका ही तू अपने को कर्ता समझ।

1431- कर्तृत्व का स्वयं का मिथ्यापना-

अथवा कर्ता की बात जाने दो, कर्ता शब्द क्यों दुनिया में रखा गया? क्या जरूरत थी। देखो खुद प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला है सो खुद-खुद में परिणमता चला जा रहा। निमित्त की बात यह है कि वह एक अपने ढंग का वातावरण है, ऐसे वातावरण में उपादान अपनी परिणति से विकार रूप परिणम रहा। वस्तु और अपनी प्रकृति के कारण परिणम रहा, इसमें करने की क्या बात आयी? खुद-खुद का करता क्या? यह तो है सो परिणमता रहता है, और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को करता नहीं, और खुद खुद को करे क्या? खुद दूसरे को कभी करता नहीं, तब फिर यह करने की धातु, करने का शब्द यह शब्दशास्त्र में (कोष में) वैयाकरणों ने रखा ही क्यों?क्या हम सब लोगों को भ्रम में डालने के लिए रखा गया? अरे ! जरा वैयाकरणो, बुद्धिजीवियो ! आओ तो, तुम इस कृ धातु को डुकृञ्, को बाहर निकाल दो, यह बढ़िया बात नहीं है। यह शब्द सुनने में भी बड़ा कठोर लगता है, मूल धातु है डुकृञ्, इस डुकृञ् धातु को कहीं ले जावो, इसकी हमें कुछ जरूरत नहीं। इसका सारा व्यवहार सब कुछ करने का नाम न कहेंगे और व्यवहार भी सब होता रहेगा। वह पढ़ रहा है, उसका पढ़ना हो रहा है, वह चाकू के द्वारा पेंसिल को ठीक कर रहा है, लो इसके द्वारा इस चाकू के साधन से पेन्सिल ठीक हो रही है, हम सब बात निभा लेंगे, पर हे डुकृञ् तुम जावो, खुद में खुद को करना क्या, खुद दूसरे का कर सकता नहीं।...अरे ! तुम तो इस डुकृञ् से इतना नाराज होते हो, और आचार्य महाराज ने कहा है कर्ता, कर्ता कौन? 'य: परिणति स: कर्ता', जो परिणमे सो कर्ता, तो सुनो आचार्य महाराज ने उमंग के साथ नहीं कहा, किन्तु करने के रोगियों के प्रतिबोध के लिये कहा, जब करना, करना, करना यह सारी दुनिया में गूंज रहा, जहाँ से सुनो बस वही करना, देखो जितनी भी लड़ाईयाँ हैं, जितने विवाद हैं वे सब करने के नाम पर हैं, तो करना करना जिनसे गूंज रहा, ऐसे लोगों को समझाना था सो बताया है कि जो परिणमता है उसे कर्ता कहते हैं। अरे ! कर्ता क्या, डुकृञ् इस धातु ने तो संसारी जीवों को भ्रम में डाला, कृपा करके इस डुकृञ् को निकाल फैंको।

1432- विधि विधान के परिणमते में कर्तृत्व की गुंजाइश का अभाव-

देखो निष्पत्ति में कोई विधि होती हैं, विधि को कोई नहीं मेट सकता। जहाँ यह बात दृष्टि में आती है कि बस भगवान ने जाना वही होता, हाँ...यह बात ठीक है, मगर भगवान ने जाना क्या? जो बात जिस योग में जिस विधान में जिस प्रकार से निष्पन्न हो रही, जैसी निष्पन्न होगी वैसा तैयार मामला ज्ञान में आया, न कि प्रभु के ज्ञान से पदार्थ की तैयारी बनी। तो बात निमित्तनैमित्तिक योग की असत्य नहीं है याने ऐसा योग होने पर यह योग्य उपादान इस प्रकार से परिणम जाता, मगर वहाँ वस्तु स्वातंत्र्य को परखो, भले ही निमित्तनैमित्तिक योग है, सहज है, मगर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को करता नहीं वहाँ वह ही उपादान स्वयं इस लायक है, इस योग्य है कि ऐसे वातावरण में वह इस रूप से अपने में विकार रूप परिणम जाता। वह विकार कहीं पर की अपेक्षा नहीं करता, लेकिन सहज योग में ही उपादान ऐसा कर पाता है तब ही तो कहते हैं कि निमित्त बिना विकार नहीं होता। निमित्त विकार को नहीं करता व निमित्त बिना विकार नहीं होता। दोनों

का सामंजस्य तो देखो और उसके एक सही संतुलन से एक ठीक सीधा मार्ग बनाओ। निमित्त-नैमित्तिक योग है, वस्तुस्वातंत्र्य है, बात सब ज्यों की त्यों है, मगर डुकृञ् धातु पसंद नहीं, हो रहा है परिणमन जिस विधि से जो चल रहा है। उसमें करने की तुक क्या है? क्योंकि खुद खुद को करता क्या है? इस अंगुली ने अंगुली को टेढ़ी कर दी, अच्छा करना तो तब जंचता है कि जब कोई दूसरा हो और इसे कर दे, खुद-खुद में परिणम जाय, इसमें करने की क्या बात दिख रही है? इस पर्याय को छोड़ा, इस पर्यायरूप परिणम गया, इतनी ही तो बात है, खुद ने खुद को किया क्या? परिणम गया। निमित्तयोग में परिणम गया। उस निमित्तयोग बिना परिणम नहीं सकता विकार। सारी मंजूर, मगर खुद का खुद में करना क्या? खुद दूसरे का कुछ त्रिकाल कर सकता नहीं। कई बार अंगुली का दृष्टान्त आ जाया करता, मगर वह सब भिन्न-भिन्न प्रसंग है, और उनकी भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ हैं, सारी बातें यहाँ दृष्टि से घटती हैं।

1433- करने के कोलाहल की सुनने में भी सहायता-

यहाँ यह कह रहे कि खुद खुद को करे ऐसा शब्द प्रयोग जरा अखरता है, वह है, स्वभाव है, परिणमता है, हाँ निमित्त योग मिला, वहाँ वह अशुद्ध उपादान विकाररूप परिणम गया। ये सब बातें व्यवस्थित बनती है, करने-करने की बात कोई बहुत बोले तो वह बोलते बालते उकता जायगा और सुनने वालों की दृष्टि में भला न लगेगा। किसी भाई ने चाहे मंदिर बनवाया हो, चाहे अस्पताल खुलवाई हो, चाहे पाठशाला खुलवाया हो, चाहे अन्य कोई काम परोपकार की दृष्टि से किया हो, पर वह सभा में आकर ऐसा नहीं बोल सकता कि भाईयों ! मैंने यह काम तुम सबके उपकार के लिए किया है, ऐसा बोलने में कर्तृत्वबुद्धि बसी है, यह कर्तृत्वबुद्धि ऐसा अपराध है कि ऐसा बोलने में भी शरम आती है। और, जब कोई कठिन कषायभाव में हो, असभ्यता में हो तब ही वह करने की बात बोल पायगा, असभ्यता न हो तो फिर यों बोलेगा कि भाईयों ! आपके आशीर्वाद से यह काम हो गया, मैंने इसे नहीं किया, मैं तो उसमें निमित्त मात्र था। वह ऐसा भी नहीं बोल सकता कि मैंने यह परोपकार का काम इसलिए कर दिया कि आप लोग उससे लाभ उठायें। तो यह तथ्य दृष्टि में लेना है कि मैं रागादिक भावों का अकर्ता हूँ, अकारक हूँ, मैं रागादिक को करता नहीं।

1434- विभाव को परभाव समझ पाने का उपाय-

देखिये, मैं रागादिक विकार का अकारक हूँ इस बात को पुष्ट करने के लिए निश्चय दृष्टि से मदद न मिलेगी, वहाँ केवल यह ही दिखेगा कि बस यह है, परिणम रहा है, योग्यता से परिणमता चला जा रहा। अच्छा, और यह विकाररूप परिणम गया, हाँ, विकाररूप परिणम गया, कैसे परिणम गया? अपनी योग्यता से परिणम गया। तो अब इसमें परभाव मायने क्या? कदाचित् हम जबरदस्ती ऐसी बात लादें कि हमने पर का लक्ष्य करके विकार किया इसलिए परभाव है, तो पर का लक्ष्य क्यों किया? अपनी योग्यता से। तो वे सब मेरे स्वरूप की क्रियायें कहलायेंगी। जब तक '' परसंग एव निमित्त'' इतनी बात न समझ में आये तब तक रागादि विकारों का परभावपना भली प्रकार से निर्णीत करना कठिन है, और परिचय पाना कठिन है कि इसी

कारण यह आत्मा रागादिक का अकारक है। यह बात जमाने के लिए बंधाधिकार में ये सब अन्त में खबरें ली जा रही हैं कि तू अपने स्वभाव को देख, अपने शुद्धस्वभाव को निरख, तू तो रागादिक का अकारक है। भैया, परसंग का निमित्त याने बिना अकर्तृत्व की, अकारकपने की बात स्पष्ट यों न आयगी कि फिर प्रश्न पर प्रश्न उठते जायेंगे। परलक्ष्य करके भाव किया तो हमने अपनी स्वतंत्रता से ही किया क्या? या इसमें कोई परसंग निमित्त है। यदि स्वतंत्रता से किया तो इसमें परभाव की क्या बात आयी? केवल ज्ञानी भी तो पर को विषय करके ज्ञान किया करते। तो क्या इतने मात्र से परभाव हो गया केवलज्ञान? नहीं हुआ, तो कैसे हुआ विकार परभाव? जैसे हम स्पष्ट देखते हैं कि दर्पण रखा है सामने, कोई लाल, पीली फोटो का सान्निध्य मिला, यह लाल, पीले रूप परिणम गया। बच्चों से लेकर वृद्ध तक सब वहाँ समझते हैं कि दर्पण में जो लाल फोटो है वह दर्पण की चीज नहीं, वह परभाव है। यहाँ थोड़ा विवेक जरूर किया जायगा कि पर का निमित्त पाकर होने वाले दर्पण का भाव है, यहाँ परभाव का यह अर्थ है, कहीं कपड़े की वह ललाई कपड़े से निकलकर दर्पण में नहीं घुसी, मगर परसंग की बात समझे बिना परभाव की बात ठीक नहीं बैठती कि ये रागादिकभाव परभाव हैं, मैं इनका कर्ता नहीं।

1435- निमित्तनैमित्तिकभाव के परिचय का प्रयोजन आत्मा के अकारकत्व का निर्णय-

सबके प्रयोजन अपने-अपने होते हैं, मैं विकार को करता नहीं, मैं शुद्धस्वभावरूप हूँ, लो यहाँ अब परमशुद्ध निश्चय पर उतरें। इसके बाद अखण्ड शुद्धनय आयेगा और वही ज्ञानरूप अनुभूति और शब्दरूप में विकल्पमय है, अज्ञानी इस रहस्य को नहीं जानता सो वह उपादान रागादिक विकाररूप परिणम जाता है। तथ्य तो यही है कि परसंग के निमित्त- सन्निधान में ही जीव विकाररूप परिणमता है यह अपने आप अपने ही स्वभाव से, अपने ही रूप से अपने ही द्वारा विकाररूप नहीं परिणमता। आचार्य ने आत्मना शब्द दिया, अपने ही द्वारा रागरूप नहीं बनता, मायने पर उपाधि-सन्निधान बिना यह स्वयं अपने ही सत्त्व से रागादिक रूप नहीं बनता इसलिए यह विकार का कर्ता नहीं हैं, यह कर्ता है तो अपने शुद्धस्वरूप का कर्ता है। अध्यात्मसहस्री पुस्तक के 13 वें अध्याय के प्रवचन हुए थे, उनमें षट्कारक का भी बहुत वर्णन है। होते-होते जब वहाँ शुद्ध स्वरूप की भक्ति उमड़ी, इस ओर दृष्टि गई तो एक बार यह भी देखा गया कि इस जीव में मिथ्यात्व करने की अपनी शक्ति नहीं, सम्यक्त्व करने की शक्ति है। देखिये इस प्रकरण में अर्थ क्या लेना कि जो अपने आप पर के सम्बंध बिना, पर की अपेक्षा बिना केवल अपने ही से अपने स्वरूप के ही द्वारा जो बात की जा सकती, सामर्थ्य तो वह है असली, और, होता रहता है तो उस ही की दृष्टि यहाँ जग रही है। यह मैं विभावों को, परभावों को नहीं करता हूँ, यह ज्ञान अज्ञानी को नहीं हैं, इस वस्तुस्वभाव को अज्ञानी जानता नहीं है, वह तो कर्मविपाक से उत्पन्न हुए याने कर्मविपाक निमित्त का सन्निधान पाकर उत्पन्न हुए रागद्वेष, मोह के भावोंरूप से परिणम रहा मायने अज्ञानी को राग में राग बन रहा, इसी कारण अज्ञानी जीव विकार का कर्ता है।

1436- राग की बीमारी और राग में राग का पागलपन-

वस्तु का राग हुआ, यहाँ तक तो गुंजाइश है अपनी रक्षा की, पर राग में राग हो फिर वहाँ किसी का वश नहीं चलता, इसका क्या वश चले? वहाँ फिर गुंजाइश नहीं, बीमार हो कोई वहाँ तक तो वश चलता और कदाचित् वह बिल्कुल पागल बन जाय, दिमाग खराब हो जाय तो फिर वश होना कठिन है, बीमारी तक में तो लोग साथ निभा देते, पर बिल्कुल पागल होने पर कोई साथ नहीं निभाता। प्राय: ऐसा देखा जा रहा है कि चाहे घर में कोई कितना ही प्यारा हो, पर जब वह पागल हो जाता तो वे ही घर के लोग उसे बिल्कुल मरा-जैसा जान लेते हैं और उससे फिर सम्बंध नहीं रहता। ऐसे ही यह पागल हो गया अज्ञानी, ज्ञानी बीमार है, अज्ञानी पागल है, किसी हद तक ज्ञानी को जरा बीमारी है, जब तक रागविपाक है, तब तक उसके थोड़ा-थोड़ा राग भी चलता है, जैसे यहाँ कोई मनुष्य कितना ही स्वस्थ हो फिर भी उसके कोई न कोई रोग रहता है चाहे सर्दी जुकाम का ही जैसा क्यों न हो, ऐसे ही ज्ञानी को भी पूर्वबद्ध कर्म के विपाक के अनुसार कुछ न कुछ राग रहता है। यह राग की बीमारी लगी है ज्ञानी के साथ चारित्रमोह के उदय से, उसके प्रीति भी जग रही, वह घर में भी रह रहा, दूकान में भी बैठता, सारे काम-काज देखता, पर वह अभी पागल नहीं हुआ, अज्ञानी पागल हो गया। बाह्य पदार्थों के प्रति प्रीति उत्पन्न हो जहाँ तक तो चिकित्सा चल सकती, पर बाह्य पदार्थों के प्रति जो प्रीति है, उसके प्रति जो आसक्ति हुई, वहाँ चिकित्सा नहीं चल सकती। इस अज्ञानी ने रागादिक में अपनायत किया, कि इनका मैं ही तो करने वाला हूँ।

1437- निश्चय और व्यवहार के निर्णयों की उपयोगिता और उपचार में मात्र प्रयोजन का लक्ष्य–

देखिये, अशुद्ध निश्चयनय तो कहता है कि जीव राग का कर्ता है, उसकी दृष्टि और है और यहाँ कहा जा रहा कि जीव राग का कर्ता नहीं। निश्चय का अर्थ मात्र इतना ही है कि एक को देखकर ही बोलना, दूसरे को न देखना, इसके मायने यह नहीं कि दूसरा कुछ है ही नहीं, निश्चय ही यथार्थ है दूसरा सब झूठ है ऐसी बात नहीं। जहाँ निश्चय और व्यवहार इन दो में मुकाबला करते हैं कि निश्चय सही है, व्यवहार गलत है, तो वहाँ व्यवहार का अर्थ है, उपचार वाला व्यवहार और तभी 'माणवक एव सिंह:' दृष्टान्त में बोला, वह उपचार की बात कही। व्यवहार शब्द के अनेक अर्थ हैं। इस अर्थ में कुशलता अवश्य होना चाहिए। उपचार का अर्थ क्या? उपचार वह कहलाता है जहाँ पर स्वामित्व और पर कर्तृत्व की भाषा में प्रयोग हो। उसमें असत्यता क्यों आयी कि वह पर का स्वामी नहीं, पर का कर्ता नहीं मगर भाषा में थोड़े समय के लिए व्यवहार बताने के लिए बोला जाता है। फिर भी जो विवेकी पुरुष हैं वे उसे सुनते क्यों हैं? इस उपचार भाषा को समुद्र में क्यों नहीं फेंकते? क्यों आगम में प्रयोग करते? उसका कारण है प्रयोजन पर दृष्टि डालने की। उपचार भाषा के प्रयोग का केवल इतना ही प्रयोजन है कि उसके प्रयोजन को पहचान लेना, और हो रहा है ऐसा। माँ ने कहा बच्चे से कि घी की डबलिया ले आओ तो वह झट जाकर उठा लाता है। उस बच्चे के चित्त में जरा भी भ्रम नहीं होता कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि जैसे मिट्टी, लोहा, टीन आदि की डबलिया होती

वैसी ही घी की होती होगी, यों उसे रंच भी संदेह नहीं होता, वहाँ वह प्रयोजन समझ लेता कि जिसमें घी रखा है उसे घी की डबलिया कहा गया है। तो उपचार भाषा का प्रयोजन है, प्रयोजन को समझें, पर जो शब्द प्रयोग है उसे ही कोई सत्य माने तो वह भ्रम में पड़ेगा, इसी प्रकार परकर्तृत्व की भाषा में प्रयोग होता उसे कहते हैं उपचार। जैसे कर्म ने जीव को रागी बनाया, यह कर्तृत्व भाषा का प्रयोग है, और प्रमाण प्रयोग यह है कि कर्मविपाक के सन्निधान में यह अशुद्ध उपादान विकाररूप से परिणम गया। अब इतनी बात को संक्षेप में कहने का कोई शब्द न था। तो प्रयोजन क्या है और भाषा क्या है, बस दो का विवेक करने की बात है। तो यह उपचार भाषा जिसको स्वामित्व परकर्तृत्व की बोली में बोला जा रहा है वह उपचार है, जिसे कहते हैं कि वह असत्य है। अब इसके अतिरिक्त कितनी ही तरह के और व्यवहार होते हैं ये असत्य नहीं, खूब विचार करके परखें कि वहाँ घटना ऐसी ही रही या नहीं।

1438- उपचार-संज्ञक व्यवहार की भाषा की असत्यता, शेष व्यवहारों की सत्यता-

व्यवहार मायने परिणमन जैसे क्षणिक व्यवहार, व्यवहार मायने भेद, व्यवहार मायने प्रतिपादन, व्यवहार मायने साधन, व्यवहार मायने उपादान इत्यादि अनेक अर्थ हैं। देखिये, जहाँ यह चर्चा चलती है कि पूर्व पर्यायसंयुक्त द्रव्य उत्तर पर्याय का उपादान कारण है वहाँ यह बतायेंगे कि यह किस नय की भाषा है। यह है व्यवहारनय नामक द्रव्यार्थिकनय की भाषा। दार्शनिक शास्त्र में इन बातों का बहुत निर्णय है। निर्णय करने का प्रधान हक दार्शनिक विषय को है। वहाँ जब यह बात चली कि प्रागभाव का क्षय प्रध्वंसाभाव। जैसे कि घड़ा फूटा और खपरिया बन गई तो खपरियों का प्रागभाव क्या है? घट। तो घट की खपरिया बनी कैसे? किसी दार्शनिक ने कहा कि प्रागभाव का अभाव होने से खपरिया बनी, तो जैन दार्शनिक उसमें विवाद उत्पन्न करते हैं कि प्रागभाव तो पहली परिणति का नाम है ना, कार्य से प्रथम समय की पर्याय, वह है प्रागभाव और इस प्रागभाव से पहले की जो अनन्त पर्यायें गुजरी, वे यह प्रागभाव नहीं ना? हाँ नहीं। तो उन पहले समयों में खपरियाँ याने कार्य हो जाना चाहिये, प्रागभाव का पहले भी अभाव है। वहाँ प्रागभाव नहीं है ना। इस प्रागभाव का अभाव जब खपरियाँ बन गई उसके बाद भी तो भविष्य की पर्याय में इस प्रागभाव का अभाव है, जैसे कि पहले की पर्याय में उस प्रागभाव का अभाव है। वह कार्य बहुत पहले और बहुत पीछे क्यों नहीं हो जाता। तो उत्तर देते कि प्रागभाव का अभाव के मायने कार्य नहीं, किन्तु प्रागभाव के उपमर्दन का नाम कार्य है। अष्टसहस्री ग्रन्थ में जब हमने यह शब्द पढ़ा 'उपमर्दन' तो वहाँ आचार्यदेव के ज्ञान पर ऐसी उत्कृष्ट श्रद्धा बनी कि कैसे युक्तिवादी होते हैं ये पुण्यात्मा पुरुष। प्रागभाव का अभाव कार्य नहीं किन्तु प्रागभाव का उपमर्दनात्मक अभाव कार्य है। हाँ, तो फिर वही बतलाया, उपादान उपादेय। तो स्पष्ट लिखा कि यह व्यवहारनय नामक द्रव्यार्थिकनय से ज्ञान में आता कि पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य उत्तर पर्याय का उपादान है, क्योंकि उसमें अन्वय और द्रव्यत्व की मुख्यता है। अच्छा और आप निरखिये 7 नय कहे उसमें नैगम, संग्रह, व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिकनय के भेद बताये हैं और ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवभूतनय, ये

पर्यायार्थिकनय के भेद बताये हैं। व्यवहारनय का जब विश्लेषण करेंगे तो कितनी-कितनी बातें आयेंगे, कितने ही तरह के अर्थ है, कितने ही प्रसंग हैं। बुद्धि स्वयं जवाब दे देगी कि यह बात ऐसी है तो वह ठीक हैं। उसमें देखेंगे आप कि सत्य चार प्रकार के होते है।

कलश 178

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसन्ततिमिमामुद्धर्तुकामः समम् ।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥178॥

1439- आत्मा के विकाराकारकत्व का विचार-

ऐसा विचार करके, कैसा विचार करके? जो कि इससे पहले कहा गया है, क्या कहा गया है? कि आत्मा अपने आपसे शुद्ध स्वभाव होने के कारण रागादिक रूप नहीं परिणमता, किन्तु पर द्रव्य के सान्निध्य में और आचार्यदेव के शब्दों में परद्रव्यों के द्वारा ही यह शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ रागादिकरूप से परिणमाया जाता है, ऐसा यह एक वस्तुस्वभाव है। योग्य उपादान-अनुकूल परद्रव्य के सान्निध्य में ही अनुरूप विकाररूप से परिणमता है। इसको जो नहीं जानता वह अज्ञानी है और वह रागादिक भावों को अपना बनाता है, मैंने किया, इन रागादिक भावों का मैं कर्ता हूँ, इस तरह जान रहा, क्योंकि उसे निमित्तनैमित्तिकयोग की जानकारी नहीं और वह अपने आपको मान रहा कि मैं रागादिक का करने वाला हूँ। इस प्रकार जो अपने आपको रागादिकरूप कर रहा है, वह अज्ञानी जीव कर्मों से बँध रहा है और जो यह जानता है कि मैं तो शुद्धस्वभावरूप हूँ, मेरी जो शुद्ध परिणति है, हो सकती है उस ही रूप में परिणमने में मैं स्वयं समर्थ हूँ और पर निमित्त भी उसमें नहीं होता, स्वयं ही सब कुछ रहा। एक काल द्रव्य साधारण निमित्त है, उसकी प्रतिष्ठा यों नहीं की जाती कि न हो काल तो न परिणमे ऐसा व्यतिरेक नहीं मिलता। वस्तुस्वभाव को जो नहीं जानता वह अज्ञानी रागादिक को अपना बना रहा है और वह कारक होता है, सो वह कर्मविपाक से उत्पन्न हुए रागद्वेष, मोहादिक भावों से परिणमता हुआ अज्ञानी रागद्वेष, मोहभाव का कर्ता होता हुआ बँधता है, इसको अगर बहुत सीधी भाषा में बोलें तो राग होता है और होते हुए उस राग को जिसने अपना राग माना है अपना कर डाला है कि यह मेरा स्वरूप है, इस प्रकार जो राग में राग बनाये है उसको कर्ता बोलते हैं।

1440- करने के प्रयोग की व्यर्थता-

यह बात पहले कही थी कि केवल पदार्थ-पदार्थ की बात निरखी जाय तो करना नाम किसका? खुद-खुद में करता क्या? परिणमता है, खुद दूसरे को त्रिकाल कर सकता नहीं, इस कारण करना जो बोलते हैं, यह सब फालतू का व्यवहार है। अगर सही-सही वर्णन करें तो यों कर देंगे कि अमुक द्रव्य के सान्निध्य में अमुक

पदार्थ इस रूप परिणम रहा, तब करने की बात कुछ न आयी। यह एक वातावरण है, जिसके होने पर ही यह जीव विकार करता है, जिसके न होने पर जीव विकार नहीं करता, मगर करने की बात चूंकि एक प्रसिद्ध शब्द हो गया सो न करे तब भी करना शब्द लगा दिया जाता है, पर कोई खुद में या पर में करता कुछ नहीं, परिणमन है सर्वत्र और इस ही परिणमन को कर्ता कहा जाता। तो इस दृष्टि से देखें तो अज्ञानी भी कहाँ कर्ता है, किसका कर्ता है, कैसे कर्ता है? अज्ञानी जीव के राग परिणमन होता रहता है। अच्छा, और बढ़कर कहो, रागपरिणमन में आसक्ति, मोह चल रहा है याने उस राग परिणमन से अपने को तन्मय मान रहा है, इसमें करने की बात क्या आयी? पर उस राग परिणमन में अपने को तन्मय मानने का नाम कर्ता कहलाता है। तो जो वस्तुस्वभाव को नहीं जानता वही यह कहता हैं कि मैं रागभाव का कर्ता हूँ।

1441- निमित्तनैमित्तिकयोग के परिचय में आत्मा के विकाराकारकत्व का परिचय-

देखना, अशुद्ध निश्चयनय यह बात बतलाता है कि यह संसारी जीव अपने रागादिक परिणामों का कर्ता है, मगर इसे निश्चय क्यों कहा गया है? इस कारण कि एक को ही देखकर बात कही जा रही है। अब यहाँ यह देखो कि इस व्यवहार ने उस अशुद्ध निश्चय के विषय से भी बढ़कर बात कही कि यह जीव रागादिक का कर्ता नहीं, किन्तु यह तो उस वातावरण द्वारा परिणमाया गया है, परिणमा है, मगर वह अपने ही शुद्धस्वभावरूप है। यह रागादिक का कर्ता नहीं। प्रमाण से इस बात को और विशेषता से प्रमाणित किया जाता कि भाई ! ऐसे इस विपाक के काल में यह जीव अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ रागादिकरूप परिणम रहा है। सब उपदेशों में प्रयोजन एक लेना कि जिस प्रकार यह जीव शुद्धस्वभाव की ओर अभिमुख हो सके उस प्रकार परिचय प्राप्त करना है। सबका प्रयोजन एक है और उस प्रयोजन के नाते से जितने भी ज्ञानी पुरुष हैं उन सब ज्ञानियों के एक ही मार्ग है शुद्धस्वभाव को परखना, अखण्ड अन्तस्तत्त्व का आलम्बन लेना। एतदर्थ आवश्यक है स्वभाव का परिचय होना, कहीं एकदम साक्षात् परिचय हो जाय स्वभाव का, उसे कहते हैं परम शुद्धनिश्चयनय और कहीं अन्य उपदेशों द्वारा उस स्वभाव का निर्णय बनेगा याने परम शुद्ध निश्चयनय बनेगा उसके ये सब उपाय हैं। जितने भी समयसार में जहाँ जहाँ जो भी कथन हैं, सबको इस तरह से ही समझना कि जिससे सर्वविविक्त आत्मा का चैतन्यस्वभाव दृष्टि में आये। तो यह सब वस्तुस्वभाव नहीं जाना, उस जीव ने अज्ञानवश रागादिक भावों को अपना किया, अपना बनाया, अपना माना, यह मैं इसका कर्ता हूँ, सो जो विकार का कारक बनता है वह कर्म से बँधता है, किन्तु जो अकारक है, वह कर्म से नहीं बँधता। यह सब तथ्य जिसके विचार में आया उसके एक निर्णय बनता कि यह आत्मा स्वयं ही अपने आपसे रागादिक भावों का कारक नहीं है। क्यों नहीं है, इसका कारण अब दूसरा बतला रहे।

1442- प्रतिक्रमणादि के द्वैविध्य के उपदेश से आत्मा के विकाराकारकत्व की सिद्धि-

अगर यह आत्मा अपने स्वभाव से रागादिक का कर्ता होता तो यह अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान इन दो के द्वैविध्य का उपदेश न दिया जाता। क्या मतलब? इनके दो-दो पने का उपदेश नहीं दिया जाता,

क्या मतलब? अप्रतिक्रमण दो प्रकार के हैं- द्रव्य- अप्रतिक्रमण और भाव-अप्रतिक्रमण। द्रव्य-अप्रतिक्रमण-पूर्व काल में जो पदार्थ मिला था उस पदार्थ के प्रति पूर्व काल में राग किया था, वह तो बात हो गई, गई गुजरी, पर अज्ञानी के नहीं हुई गई गुजरी? किया था उसने राग, मगर उसका ख्याल करके वर्तमान में उसे गलती नहीं समझ रहा, वह उसकी गलती थी और यहाँ उसे भला समझ लेता है, मैंने ठीक किया था, यह हुआ द्रव्य अप्रतिक्रमण, जैसे अब भी तो जब कोई बात आ जाती, कोई चीज बनाया, निर्माण किया और किसी ने कुछ कहा कि आपने ठीक नहीं किया तो यह कहता है कि मैंने तो ठीक किया था। अरे ! जब किया था तब किया था मगर आज के भाव में पहले के उस संयोग को जो अच्छा समझ रहा है वह द्रव्य अप्रतिक्रमण कर रहा है, याने बात न चीत, बात तो गई गुजरी मगर त्रुटि को वर्तमान में सही समझ करके पापबंध कर रहा है, इसे कहते हैं द्रव्य-अप्रतिक्रमण। और, भाव प्रतिक्रमण क्या? उस द्रव्य-अप्रतिक्रमण के सम्बंध में याने उस बाह्य पदार्थ से राग करके जो हमने अपनी मौज मानी, जो विकार किया, जो प्रीति मानी, उस राग, प्रीति और मौज के प्रति आज ममता बनी, मैंने क्या मौज किया था उस उस बात में, उस-उस संग में मैंने कैसा मौज माना, कैसे मेरे आनन्द के दिन थे, इस तरह उन भावों में जो पहले माने गए थे उनका स्मरण कर आज संस्कार बनाया जा रहा है, वासना की जा रही है कि मैंने वहाँ खूब मौज लूटा था। बड़ा अच्छा समय गुजरता था, यह हो गया भाव-अप्रतिक्रमण।

1443- द्रव्य-अप्रतिक्रमण व भाव-अप्रतिक्रमण के निमित्तनैमित्तिकपने का विश्लेषण-

द्रव्य व भाव अप्रतिक्रमण इन दो बातों में एक ध्यान दीजिए, कि भाव-अप्रतिक्रमण कब बना? पहले समय में जो अव्रत क्रिया की, पाप कार्य किया, पाप का साधन जोड़ा और उससे जो इसके पापभाव बने उन पापभावों का जो आज मौज माना जा रहा है कि मैने कैसा आनन्द लूटा था, कैसा मेरा मौज चल रहा था, इस प्रकार का जो भाव-अप्रतिक्रमण बना याने भाव जो पहले भोगा था उन भावों को आज की वासना में उभाड़ा जा रहा है, यह समझिये नैमित्तिक काम हुआ और इसका आधार क्या रहा? द्रव्य-अप्रतिक्रमण। तो उन बाहरी पदार्थों का जो सम्बंध बना, उन सम्बंध की जो इच्छा की वह बात हो तो फिर इच्छा की इच्छा बनी। देखो सीधे, एक वर्तमान की बात ले लीजिए। कहते ना- राग हुआ और राग में राग हुआ तो राग में राग हुआ, इसका आधार तो राग था ना? राग न होता तो उस राग में राग कहाँ से होगा? जैसे यहाँ हम आप समझ सकते है ऐसे ही भूत की बात समझिये कि द्रव्य-अप्रतिक्रमण न होता तो भाव-अप्रतिक्रमण कहाँ ठहरता? तो इसमें यह बात दर्शायी गई है कि द्रव्य-अप्रतिक्रमण निमित्त हुआ और भाव-अप्रतिक्रमण नैमित्तिक हुआ, ऐसे इन दो बातों में जो निमित्त- नैमित्तिक की व्यवस्था बतायी है वह इस बात को सिद्ध कर रही है कि आत्मा रागादिक का अकारक है। किन्तु, आत्मा की वे विकृत परिणतियाँ विशिष्ट विपाकवश होती हैं, इनमें फँसाव होना यह भी एक निमित्त-नैमित्तिक योग की बात है। आत्मा की और परवस्तु की जो परिणतियाँ हैं उनमें निमित्त-नैमित्तिक भाव हैं परन्तु आत्मा में कारकता न बनाइये, क्योंकि आत्मा तो शुद्धस्वभावरूप है,

उसके साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं बनता। जिसके साथ अन्वय-व्यतिरेक बने वहाँ लगाओ सम्बंध निमित्त-नैमित्तिक का। ऐसा जब यहाँ न देखा जा रहा है तो इसने यह निर्णय किया कि मैं आत्मा अकर्ता हूँ जो द्रव्य और भावरूप से अप्रतिक्रमण, अप्रत्याख्यान का उपदेश है वह द्रव्य और भाव में निमित्त नैमित्तिक भाव को प्रसिद्ध कर रहा है, और वहाँ निमित्त-नैमित्तिक भाव की सिद्धि ज्ञापन कर रही है कि आत्मा अकर्ता है।

1444- आत्मस्वभाव की विशुद्धता का दिग्दर्शन-

आत्मा स्वयं अपने स्वरूप से जैसा है उस स्वरूप में देखें तो सही, वहाँ कहीं विकार रखे हैं क्या? स्वभाव में विकार नहीं पड़े हैं, स्वभाव का परिणमन हो तो स्वभाव के अनुरूप होना चाहिए, उसका वह कर्ता कहलाया, मगर यहाँ विरुद्ध परिणमन चला तो स्वयं, मगर निमित्त हुआ परसंग ही। आत्मा ही विकार में निमित्त हो और विरुद्ध विकार परिणमन चले, उसका वहाँ निषेध किया, क्योंकि इसमें आत्मा नित्य कर्ता हो जायगा। तो परसंग ही उसमें निमित्त हैं, ऐसा कह करके पहले सिद्ध किया था कि आत्मा रागादिक का अकर्ता है, और अब दूसरी युक्ति से सिद्ध कर रहे हैं कि आत्मा रागादिक का अकर्ता है। अगर आत्मा रागादिक का कर्ता होता तो ये अप्रतिक्रमण, भाव –अप्रतिक्रमण, इनके कहने का अर्थ क्या? और ये दो जब कहे गए हैं तो इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादिक का कर्ता नहीं है, तब क्या युक्त रहा? परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिक भाव नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा न कहा जाय तो यह उपदेश किया है कि द्रव्य-अप्रतिक्रमण कर्ता है और भाव-अप्रतिक्रमण कर्म है, यह उपदेश अनर्थक हो जावेगा। क्यों अनर्थक न होना चाहिए? क्योंकि शास्त्रों में लिखा, युक्ति से जाना, अनुभव से माना, यह उपदेश अनर्थक नहीं। इससे यह बात सिद्ध हुई कि आत्मा रागादिक का अकर्ता है। वह तो हो गया अनर्थक। और, यहाँ आत्मा को रागादिक भावों की उत्पत्ति में मान लिया निमित्त तो यह नित्य कर्ता हुआ, मोक्ष का अभाव हो जायगा। क्योंकि अनादि सिद्ध यह अपने स्वभाव से रागरूप परिणमता रहता है तो उस स्वभाव को कौन मेटेगा? स्वभाव है जब विकार का, तो निरन्तर होता रहे, फिर उसका नाम विकार ही क्यों कहा? क्योंकि स्वभाव से चल रहा है, वह स्वभाव ही स्वभाव है, वह सब विकार है वह भी स्वभाव हो तो यह अवसर ही कैसे आयेगा कि ये विकार न रहें, तो स्वभाव से जब यह आत्मा अपने रागादिक विकार को करे, ऐसा माना जाय तो यह सदा कर्ता हो जायगा? अब जो बात यहाँ कही जा रही है कि परद्रव्य निमित्त हैं, रागादिक नैमित्तिक हैं, इससे यह बात लेना है कि यह आत्मा रागादिक का कर्ता नहीं है। देखो, जब ऐसा मानें कि आत्मा अपने आपसे राग करने वाला है तो फिर राग से छुटकारा मिलना कठिन है। ये दोनों ही बातें सदा हैं सो राग को करता ही रहेगा। और, ऐसा माना जाय कि कोई पर पदार्थ आत्मा में रागादिक परिणति करता है तो सदा होता रहेगा राग, क्योंकि दूसरा पदार्थ गम क्यों खायेगा कि मैं कुछ इसको सुविधा दूँ। आत्मा राग परिणति न करे और निमित्त उसका कर्ता बने तो विकार कभी मिटेगा नहीं और उपादान स्वयं निमित्त होकर कर्ता बने तो विकार कभी मिटेगा नहीं। इस तरह यह उपदेश बताया कि कर्म विपाक का जब उदयकाल है, उदय आया तो उस उदय काल में, उस

विपाक के सान्निध्य में यह जीव शुद्ध उपादान, स्वयं शुद्धस्वभाव को छोड़ता हुआ रागादिक रूप परिणम जाता है। परिणमा यह जीव ही, मगर उस वातावरण में यह राग विकाररूप में परिणमा।

1445- कर्मवेग की हीनता व अधिकता का कर्मगत कारण-

एक बात और करणानुयोग की जानें, जैसे कि पंडित टोडरमलजी ने एक प्रसंग में कहा कि नदी बह रही है, उसमें से कोई मनुष्य पार कर रहा है तो जहाँ उसका वेग कम हो वहाँ वह पौरुष करता है और उस नदी को पार कर लेता है। तो वेग क्या चीज है? वहाँ है जल का वेग, यहाँ है विभावों का वेग और दूसरा है कर्मविपाक का वेग। तो यह कर्मविपाक कैसे मंद-तीव्र वेग में आया करते हैं उस कर्म की बात सुनिये जरा। जीव ने एक समय में कर्म बाँधा। मानो बँधना तो है करोड़ों सागरों की स्थिति में, दृष्टान्त में कुछ भी ले लो। मानो 100 वर्ष की स्थिति बाँधी और मानो कई करोड़ परमाणु बाँधे, बँधते तो हैं अनन्त परमाणु, किन्तु दृष्टान्त मान लो, तो कई करोड़ परमाणु एक समय में उदय में न आयेंगे, फिर किस तरह आवेंगे? उन बद्ध परमाणुओं का आबाधाकाल, जैसे समझ लो, एक मिनट है तो उस एक मिनट को तो छोड़ दो। उस आबाधाकाल के बाद एक मिनट कम 100 वर्ष के जितने समय हैं उन प्रत्येक समयों में वे कई करोड़ परमाणु बँट जायेंगे। वह कहलाती है भिन्न-भिन्न निषेकों की स्थिति, तो बँटते कैसे हैं वे? उसकी गुण हानियाँ होती हैं। तो वहाँ एक मिनट कम 100 वर्ष के जितने समय हैं उन प्रत्येक समयों में वे इस प्रकार परस्पर परमाणु बँट गए। कौन बाँटने वाला है? सब प्रक्रिया में हो रही हैं, निमित्तनैमित्तिकयोग योग सर्वत्र दिखता है, कर्म के निमित्त से जीव में परिणमन हुए, केवल इसी को न देखना, जीव के भावों के निमित्त से कर्म में क्या गुजरता, यह भी एक योग है। अच्छा, तो वे बँधे तो हैं मगर पहले समय में परमाणु ज्यादह बँटते हैं, मिलते हैं, दूसरे समय में उससे कुछ कम फिर और कुछ कम होते होते अन्त में, मायने 100 वर्ष के आखिरी समय में वे कर्म परमाणु बहुत कम मिले, पर अनुभाग का यह हाल है कि जहाँ अधिक परमाणु मिलते याने पहले समय में उसकी शक्ति कम है और कम कम जैसे पाते गए शक्ति बढ़ती गई और अन्त में 100 वर्ष के आखिरी समय में जहाँ समझो 4-6 परमाणु हिस्से में हैं, परमाणु तो एक पुञ्ज में अनन्तानन्त होते किन्तु दृष्टान्त के लिये यह सब कहा जा रहा है। अब वहाँ जो कम परमाणु के निषेक हैं, उनकी ताकत पूर्व से अनन्त गुणी है। देखो, शायद इसी बात को परखा हो वैज्ञानिकों ने जिससे अणुबम खोज निकाला हो, एक परमाणु में कितनी शक्ति है इसका अंदाज उस एटम बम से भी हो जाता। यह तो हो गया प्रथम एक समय में जो कर्म बाँधे वे भविष्य में बँटे। अब उसके बाद के समय में भी यह प्रक्रिया हुई। उसमें भी मानो 100 वर्ष की स्थिति बाँधी तो उसके 100 वर्ष से एक समय अधिक पड़ा ना? वहाँ तक आबाधाकाल को छोड़कर सब समयों में कर्म बँध गए। बात वही, पहले ज्यादह फिर कम ऐसे ही अनेकों समयों के कर्मों के बन्ध के सम्बन्ध में समझना।

1446- कर्मवेग की हीनता का अवसर-

अब उदय की बात देखो। जो कर्म बाँधे थे, उनमें आज जो निषेक उदय में आ रहे हैं वे कब-कब के बाँधे आ रहे, उनकी संख्या कितनी है, उनका अनुभाग कितना है, और उन सबका अनुभाग जो अनुपात में बैठे वह उस एक क्षण की फलदानशक्ति है। जैसे 20 औषधियों को मिलाकर गोली बनाई तो उन औषधियों में प्रत्येक ओषधि की तासीर जुदी है, तेज और वेग जुदा-जुदा है, किन्तु उन सबकी एक गोली बनने पर उनका जो अनुपात होगा उसके अनुसार रोगी को काम देगा। इस तरह के अनुभाग में जिस समय अनेक समयबद्ध एक समयोदयागत निषेक के अनुभाग की डिग्रियाँ कम होंगी उस समय में जीव पुरुषार्थ करके ज्ञानमार्ग में बढ़ लेता है। जैसे कि किसी नदी में से कोई पुरुष पैदल दूसरे पार जा रहा है अब नदी में वेग भी रहता है, तो जब उसमें वेग न हो तो ऐसी स्थिति में वह नदी को पार कर लेता है। तो अब आप सोचिये कि जो आज कर्म उदय में आ रहे हैं वे अनगिनते भवों पहले के हैं, और कदाचित् उन्हें अनन्त भी कह दिया जाय तो कह सकते है किन्तु उस अनन्त का अर्थ अन्तरहित नहीं है। अवधि ज्ञान के विषय से परे हो वह भी अनन्त कहलाता है। अनन्त 9 प्रकार के बताये गए।

1447- कर्मबन्धन की पूर्वचिरकालता के परिचय का दिग्दर्शन-

देखिये, ऋषभदेव के समय में जो मारीचि था, जिसके बारे में यह उपदेश में आया; जब पूछा गया कि अपने कुल में तीर्थकर कौन होगा? तो उत्तर मिला की मारीचि तीर्थकर होगा। यह बात सुनकर उसे अहंकार आ गया और तब से लेकर चौथे काल के करीब अन्त तक भ्रमण करता रहा वह। कितना काल व्यतीत हो गया? एक कोड़ाकोड़ी सागर, यह कितना होता है, उसके सम्बंध में तो पीछे बताया ही जा चुका है। उसमें बीच में मान लो 10 दिन के लिए भी वह लब्ध्यपर्याप्तक बन गया होगा या जो भव बताया ग्रन्थों में तो अब दस दिन में कितने भव हो जायेंगे, एक श्वास में 18 बार जन्ममरण करें, एक नाड़ी उचकी तो इतने में 18 बार जन्ममरण हो जाता, तो एक अन्तर्मुहूर्त में कोई 66336 बार के करीब में पड़ जाता है, अब एक घंटे में मान लो एक लाख हुए, इस तरह से 12 घंटे में हुए 12 लाख, एक-दिन रात में हुए 24 लाख, ऐसे दस दिन में ढाई करोड जन्ममरण हुए। अब मान लो 100 वर्ष तक रहे तो न जाने कितने ही बार जन्ममरण होगा। तो बात यह कह रहे हैं कि हमारे कितने भव पहले के बाँधे हुए कर्म आज स्थित हैं और उदयागत होते हैं। तो अब जो एक समय में उदय में आया है तो वह वह जो कभी किसी समय का बँधा, उसी तरह से प्रदेश का बँटवारा और अनुभाग का बँटवारा हुआ। अब एक समय में जो उदय में अनुभाग का अनुपात आया वह वर्तमान में विकार का निमित्तभूत है, इसी कारण तो कहते हैं कि अनुकूल निमित्त के सान्निध्य में नैमित्तिक कार्य होता है।

1448- दृष्टान्तपूर्वक कार्य के निमित्तानुरूपत्व की सिद्धि और नैमित्तिकभाव के अस्वभावभावत्व की सिद्धि-

जैसे दर्पण के सामने कोई पीला कपड़ा रखा तो दर्पण में चित्र पीला आयगा। तो पीला स्वयं वह कपड़ा है, उसका सान्निध्य पाकर दर्पण ने अपनी स्वच्छता को त्यागकर पीले फोटोरूप में परिणमन किया है। हाँ, तो

जो कर्मविपाक उदय में आया उसका प्रतिफल तो अनिवारित है। अब ज्ञानी की विजय इस बात में है कि वह रहस्य समझे कि यह विकार मेरे स्वरूप का नहीं है किन्तु यह नैमित्तिक है। मैं इस विकार का कर्ता नहीं हूँ, जिसको ऐसा ज्ञान जगा है तो इस विशुद्ध परिणाम के सान्निध्य में बंधा आस्रव नवीन नहीं हो रहा है, वहाँ अबुद्धिपूर्वक कलुषता तो हुई, वह है विपाक प्रतिफलनरूप किन्तु ज्ञानी ने उसे अपनाया नहीं है, इस कारण यह ज्ञानी कर्ता नहीं और संसार-प्रकृति का बंधक नहीं। जिसके सम्यक्त्वघातक 7 प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम हुआ है उसको ऐसा स्पष्ट आत्मप्रतिबोध हुआ है कि वह अपने स्वभावभाव के अतिरिक्त किसी भी परभाव को अपना नहीं करता है, परभाव तो किसी आत्मा का स्वरूप नहीं है किन्तु अज्ञानी ने मान्यता की कि यह मेरा है, इस कारण यह कर्ता कहा जाता है। जैसे मकान आपका तो नहीं है किन्तु मान्यता में यह बात लायें कि यह मेरा है तो आप उसके कर्ता कहलाने लगते हो, ऐसे ही जो नैमित्तिक विभाव है वह जीव का स्वरूप तो नहीं है लेकिन उसे जो अपना करे तो वह कारक कहलाने लगता है।

1449- अप्रतिक्रमण द्वैविध्य विषयक उपदेश के अनुसार आत्मा के विकाराकारकत्व का चिन्तन-

ज्ञानी जीव यह चिन्तन कर रहा है कि यह आत्मा अपने आपसे स्वयं विकार को करने वाला नहीं है। कैसे जाना कि आत्मा विकार का अकारक है? आगम में यह उपदेश है कि परद्रव्य का त्याग न करना यह होता है निमित्त और विभावों का त्याग न करना यह होता है नैमित्तिक याने द्रव्य-अप्रतिक्रमण और भाव-अप्रतिक्रमण, तो जब वहाँ निमित्तनैमित्तिक की व्यवस्था ही है तो उससे यह सिद्ध है कि आत्मा रागादिक विकारों का करने वाला नहीं है। उसे यों समझ लीजिए कि ऐसे वातावरण में विकार हो जाता है, यह जीव अपने आपके स्वभाव से विकार को नहीं करता। तो यहाँ इससे प्रसिद्ध वह बात ले लीजिए- परवस्तु का त्याग न करना, मायने परवस्तु के बारे में इच्छा बनाये रहना, यह तो हुआ निमित्त और इच्छा विकार आदिक में अपनी रुचि करना, इसे अपना मानना, यह हुआ विभाव का अपनाना नैमित्तिक, यों परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है द्रव्य-अप्रतिक्रमण व भाव-अप्रतिक्रमण में। यह वह सिद्ध कर रहा कि जीव रागद्वेष का करने वाला नहीं है, और मोटी बात लो कि जैसे एक दृष्टान्त दिया है कि धान के ऊपर का छिलका साफ न उतरा हो तो भीतर रहने वाले चावल में जो ललाई या पतली भूसी-सी रहती वह दूर नहीं की जा सकती, पहले धान के छिलका तो दूर हो, उसके बाद उद्यम करता है कूटने वाला कि वह चूर्ण जैसी भूसी भी दूर हो जाती है। इसी तरह बताया कि बाह्य परिग्रह का त्याग न किया तो अन्तरंग मूर्च्छा –ममता, इन भावों का त्याग न किया जा सकता, इस ओर से तो नियम है और बाह्य परिग्रहों का ग्रहण करे, उसमें मन भावे और कहे कि बाहरी परिग्रह हैं, उनसे क्या सम्बंध हैं? अन्तरंगभाव शुद्ध होना चाहिए, यह आत्मवंचना है। परद्रव्य निमित्त है और विभाव नैमित्तिक हैं, ऐसी जो बात कही गई है वह यह बात सिद्ध कर रही है कि आत्मा रागादिक का अकारण है। इस तथ्य की कई बातों से, कई उपायों से सिद्धि चल रही है, उसी को कह रहे है कि तभी तो

यह बात बनी कि परद्रव्य ही आत्मा के रागादिक भावों का निमित्त हुआ, और जब ऐसा तथ्य है तो यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादिक का अकारक है।

1450- द्रव्यअप्रतिक्रमण व भाव-अप्रतिक्रमण के अन्वय-व्यतिरेक का दिग्दर्शन-

यहाँ यह बात भी जानना कि जीव निमित्तभूत द्रव्य का जब तक त्याग नहीं करता, प्रतिक्रमण नहीं करता, प्रत्याख्यान नहीं करता, तब तक विभावों का त्याग नहीं बनता, और जब तक उन भावों का त्याग नहीं बनता तब तक वह कर्ता ही है। जिसको अपने स्वरूप की न्यारी सुध नहीं है, और जो विभाव जगते हैं उनको वह स्वरूप मान रहा है, तो इसमें परिणमने का काम तो चल रहा है, पर विभाव परिणमन में ममता और तन्मयता आने से वह उसका कर्ता कहा जाता है। और इसी तरह यह भी मानना कि जिस समय निमित्तभूत द्रव्य का त्याग करता है, प्रत्याख्यान, प्रत्याक्रमण करता है उस ही समय वह नैमित्तिकभूत भावों का भी प्रतिक्रमण करता है, त्याग करता है और जब भावों का त्याग कर दिया याने उस रागादिक विकारों में, विभावों में जब इसने रुचि न रखी, उनसे निराला अपने को समझा, भाव-प्रतिक्रमण हुआ तो उसी समय यह जीव रागादिक का अकर्ता है, और इसका कारण यह दर्शाया गया है कि द्रव्य-अप्रतिक्रमण, भाव-अप्रतिक्रमण यों जो दो प्रकार का उपदेश है और उनमें भी द्रव्य-अप्रतिक्रमण कर्ता, भाव-अप्रतिक्रमण कर्म इस तरह का उपदेश है, इससे यह सिद्ध हुआ कि यह जीव रागादिक भावों का अकारक है।

1451- द्रव्य और भाव की निमित्तनैमित्तिकता के विषय में उदाहरण के लिये अध: कर्म व उद्दिष्ट का निर्णय-

अच्छा, द्रव्य और भाव में निमित्तनैमित्तिकपना बताया है, इसका कोई उदाहरण है क्या? समयसार में तो आचार्यदेव ने स्वयं उदाहरण दिया है कि देखो, जैसे अध:कर्म और उद्दिष्ट ये दो दोष हैं तो इनमें अध:कर्म और उद्दिष्ट का त्याग जो नहीं करता उसके बंधकभाव का त्याग न बनता तो ये परद्रव्य और नैमित्तिक भाव इनका उदाहरण बना ना ! भाव क्या है? अध:कर्म के मायने हैं कि अशुद्ध भोजन बनाना, हिंसा सहित भोजन बनाना, अमर्यादित भोजन, जैसी चाहे प्रवृत्ति करके, जैसे चौकी में घसीटकर बर्तन लाना, इस तरह भोजन बनाये गए का नाम है अध:कर्म, और भी बड़ी-बड़ी बातें ले लो, और उद्दिष्ट मायने केवल पात्र के लिए ही बनाया गया भोजन उद्दिष्ट है, इसका जब तक त्याग नहीं करता, तब तक भाव-प्रत्याख्यान नहीं होता। देखिये, उद्दिष्ट त्याग मायने क्या है? मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना, नवकोटिका विशुद्ध परिणाम होना, नवकोटि से आहार में सम्मिलित न होना, इसे कहते हैं उद्दिष्ट का त्याग। यह परिभाषा मुनि के ओर से है, और उद्दिष्ट मायने केवल मुनि के लिए ही भोजन बना दिया, स्वयं जैसा बनाते सो तो अलग है ही, अगर उसके लिए ही केवल अलग से चूल्हा, सिगड़ी आदि साधन पर बना दिया तो वह उद्दिष्ट भोजन है।

1452- उद्दिष्ट व अतिथिसंविभाग में अन्तर-

अब ऐसा ध्यान दीजिए- उद्दिष्ट और अतिथिसंविभाग इन दो का अन्तर देखो। अतिथिसंविभाग करना इस श्रावक का कर्तव्य है मायने अतिथि के लिए उसमें विभाग बनाना। मैं भोजन बना रहा हूँ, अतिथि का भी मैं विभाग बनाऊँगा, यह काम अतिथिसंविभाग में है, याने केवल अतिथि के लिए ही भोजन बनाकर उसे आहार कराना इसमें उद्दिष्ट का दोष है, जैसे कभी कोई अवसर ऐसा आता है कि कोई अचानक ही आहार के समय के अतिरिक्त मौके पर आ गया, मान लो दिन के दो ढाई बजे आ गया जबकि चौका सम्बंधी काम खतम हो चुका था, ऐसे मौके पर आ गया और उसके लिये ही मात्र बनाकर खिलाया जाय तो इसमें उद्दिष्ट का दोष है। और स्वयं चाहे रोज अशुद्ध खाता हो, पर एक दिन भी भाव करे कि मैं तो आज पात्रदान करूँगा, शुद्ध विधि से आहार बनाऊँगा और उसी जगह पर बनाये, सबके लिए बनाये, वहाँ फिर यह विभाग न बने कि इतना तो सबके लिए रसोई में ऐसा भोजन बना लो और अतिथि के लिए ऐसा अलग बना लो, ऐसा विभाग वहाँ न करे तो वह उद्दिष्ट न कहलायेगा। अतिथिसंविभाग में सोचा तो क्या है कि मैं अतिथि को आज पात्रदान करूँगा और उसके लिए भी बनाये, पर अपन सबके लिए वह अलग से न बनाये तो वह अतिथिसंविभाग है। इसका एक उदाहरण सुनिये। ऐसा भी नियम लेता है श्रावक कि प्रत्येक महीने के अन्दर इस दिन मैं पात्रदान करूँगा, मायने वह रोज-रोज तो अशुद्ध खाता था अब उसने ऐसा सोच लिया अब मैं तीज को, या पंचमी को, या दसमी को, किसी भी दिन के लिए सोच ले, पात्रदान करूँगा तो ऐसे भाव से जो अतिथिसंविभाग करता है उसे युक्त कहा गया है। चाहे रोज नहीं कर रहा, उसने कोई एक दिन ही किया, वह अतिथिसंविभाग है। यदि केवल पात्र के लिये ही भोजन कोई बनाये तो यह है श्रावक के आश्रय का दोष। और वहाँ मुनिजन उस विषय को मन से, वचन से, काय से न करेंगे, न करायेंगे और न अनुमोदना करेंगे, न वचन से बोलेंगे, किसी तरह का विकल्प न रखेंगे तो उनका नवकोटि से विशुद्ध आहार बना और इसी के मायने है निरुद्दिष्ट भोजन। देखिये, यहाँ जो वर्णन चल रहा है वह यह चल रहा है उस जगह कोई और भी उदाहरण दे सकते थे, मगर यह ग्रन्थ मुनियों ने बनाया है और प्रधानतया मुनियों के प्रतिबोध के लिए बनाया है, इसीलिए ऐसा दृष्टान्त आना एक प्राकृतिक बात है।

1453- द्रव्य-अप्रतिक्रमण व भाव-अप्रतिक्रमण के निमित्तनैमित्तिकभूतपने का विवरण-

पुद्गलद्रव्य, जो निमित्तभूत है उसका त्याग न करता हुआ वह बंध-साधक नैमित्तिक भावों का त्याग नहीं करता। त्याग क्या है? मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से उसमें सम्मिलित न होना याने भावों से द्रव्य का त्याग है द्रव्य का प्रत्याख्यान। तब ही तो कोई बाह्य पदार्थ का त्याग कर दे फिर भी ममता का त्याग हो भी न सके, छोड़ दिया बाहरी चीज, पर ममता तो कहीं भी हो, चित्त में बसी रह सकती है। पुष्पडाल मुनि के सम्बंध में सुना होगा, उन्होंने सब कुछ त्याग दिया, निर्ग्रन्थ मुनि हो गये, जंगलों में रहने लगे, फिर भी उन्हें अपनी स्त्री की ममता उत्पन्न हुई। तो बाहरी पदार्थों को छोड़कर भी ममता का त्याग किया या नहीं किया, दोनों बातें सम्भव हो सकती, मगर बाह्य पदार्थों का ग्रहण करते हुये ममता का त्याग कर सके यह

कभी सम्भव नहीं। यहाँ एक तरफ से नियम की बात समझना। और, इसी कारण यहाँ पर द्रव्यों को निमित्त कहा और तत्साधक भावों को नैमित्तिक कहा। यहाँ और कोई दूसरी बात कहने का प्रकरण नहीं है, किन्तु यह जीव रागादिक भावों का कर्ता नहीं है, यह समझाने की मंसा है। तो जैसे यहाँ यह बात समझी गई कि ये परद्रव्य निमित्त और तद्विषयक भाव नैमित्तिक, इसी प्रकार सर्वत्र जानना। देखिये, दृष्टान्त चलता है, मगर सब जगह विवेक करना होगा, यहाँ जो दृष्टान्त दिया सो एकदम सामने तो यों नजर आ रहा कि यह बाह्य पदार्थों का दृष्टान्त दिया गया, मगर उसमें यह ध्यान में लायें कि बाह्य पदार्थों का ग्रहण करने का भाव यह तो हुआ द्रव्य-अप्रतिक्रमण और उस भाव में अपने आपको रमा लेना यह हुआ भाव-अप्रतिक्रमण। यह बात कब घटित होती, जब विधिपूर्वक ही यह वर्णन चल रहा, यह बात ध्यान में लाते, और वैसे तो निमित्त-नैमित्तिक भाव में कर्मविपाक निमित्त है और प्रतिफलन या क्षोभ का परिणाम जीव का बना वह नैमित्तिक है, मगर आत्मा तो अपने आपमें उस रागादिक का अकारक है। ऐसा ध्यान क्यों दिलाया गया क्योंकि यह जीव अपने उस शुद्धस्वभाव को दृष्टि में ले, यह तो अकर्ता अभोक्ता है। यह तो अपने शुद्ध चैतन्यमात्र है, ऐसे शुद्ध स्वभावरूप में अपने आपकी जानकारी बनी।

1454- विभावों की पौद्गलिकता का सप्रयोजन वर्णन-

इस प्रसंग में एक बात और जानना। जैसे कहते हैं कि व्यवहार से ये रागादिक विकार पौद्गलिक है। उस व्यवहार का मतलब है विशिष्ट एकदेश शुद्ध निश्चयनय। समयसार की जो आचार्यजयसेनकृत टीका है उसमें जब यह पूछा गया कि शुद्धनिश्चय से ये विकार पौद्गलिक हैं, आत्मा के नहीं ठहराये, अशुद्धनिश्चय से आत्मा के हैं, तो उसी प्रसंग में बताया गया, विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनय। देखिये, कितनी दुहरी तैयारी है, ऐसा चिंतन करने वाला भीतर में अपने आत्मस्वभाव को ऐसा सुरक्षित रखता है कि कोई इसमें धक्का न लगा सके, यह पूर्ण विशुद्ध दृष्टि में रहे, एक तो यह थी तैयारी, दूसरी बात कोई वहाँ पूछ ही रहा बार-बार अनुरोध ही कर रहा कि तुम्हें तो बताना ही पड़ेगा कि ये रागादिक विकार किसके हैं, जीव के हैं या पुद्गल के? तो जब इस स्थिति में है यह कि अपने शुद्धस्वभाव को वह अछूता रखें, उसमें कोई धक्का न लगाये, उसमें कोई कमी न आये, वह पूर्ण शुद्धस्वभाव दृष्टि में रहे तो उसके फल में रागविकार किसके हैं? ऐसा पूछने पर उत्तर दिया हैं कि ये राग-विकार पौद्गलिक हैं। यहाँ दूसरी बात यों समझिये कि जब मिथ्यात्व, कषाय, रागद्वेष सभी दो-दो प्रकार के कहे गए; जीव मिथ्यात्व, अजीव मिथ्यात्व, तो अजीव मिथ्यात्व के मायने वह मिथ्यात्व कर्म प्रकृति जिसमें मिथ्यात्व का अनुभाग पड़ा है। जैसे दर्पण के आगे कोई नीली वस्तु रखी हो तो उस वस्तु में स्वयं नील रूप पड़ा हुआ है, और फिर उसके सन्निधान में स्वच्छताविकार बन गया दर्पण में, ऐसे ही मिथ्यात्व प्रकृति में मिथ्यात्व अनुभाग पड़ा हुआ है उसके निज की गाँठ का, उसके विपाककाल में इस जीव में स्वच्छता का विकार बना, जो मिथ्यात्वरूप परिणत हो रहा है, तो ये बातें यह सिद्ध करती हैं कि जीव तो शुद्ध स्वभावरूप है, वह रागादिक विकार का कर्ता नहीं है, राग का अकारक है,

ऐसा कहकर ध्यान दिलाया गया है अपने विशुद्ध स्वभाव का। अपनी उपासना बनायें कि मैं विशुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, इसमें कोई बात उठे, शुद्ध चैतन्य की तरंग उठे, अनुभवन बने तो शुद्ध चैतन्य का अनुभवन बने, मगर इसके अतिरिक्त याने इस चैतन्य तेज के अतिरिक्त जितने भी भाव हैं वे सब नैमित्तिक हैं, परभाव हैं उनको यह ज्ञान अपना नहीं करता, अपने को शुद्ध स्वभाव में निरख रहा है।

1455- समस्त धर्मकार्यों का प्रयोजन अन्तस्तत्त्व का आश्रय-

एक प्रधान बात हर जगह समझना कि प्रयोजन को छोड़कर मंद पुरुष भी कार्य में नहीं लगते, तो जब हम कार्य में लगें, स्वाध्याय में, उपदेश में, तत्त्वविज्ञान में, तत्त्वपरीक्षण में लगें तो हम कभी भी अपना उद्देश्य न भूलें। अपना उद्देश्य है स्वभाव की दृष्टि होना, स्वभाव का आश्रय होना। बस यह बात जिस प्रकार प्राप्त हो उस प्रकार से उपदेश और चर्चा, धर्मादिक अन्य सब बातें-क्रियायें भी सब इसी मूल उद्देश्य को रखकर बन जायें कि मेरे को मेरे में विशुद्ध चैतन्यमात्र का अनुभवन बने। उसी के लिए यह सब उप्रकरण बंधाधिकार में अन्त में कहा जा रहा है, तो इसका अर्थ यह रहा कि यदि समस्त परद्रव्यों का त्याग नहीं हुआ, तो उनके निमित्त हुए भावों को यह त्यागता नहीं है। अब दूसरी बात यह सोच रहा है ज्ञानी कि जो अध:कर्म है, जो उद्दिष्ट है वह पुद्गल का कार्य है, वह आत्मा का कार्य नहीं है, उसका कार्य तो मन, वचन, काय से कृत, कारित अनुमोदना के जो विकल्प बने, ये हैं, पर इसका भी निमित्त है, क्या? कर्मविपाक। जिस प्रकार का विपाक होता, वैसा ही प्रतिफलन होता है। मैं तो यह चैतन्यस्वभावमात्र हूँ, इस तरह अपने को परख रहा है, यह अध:कर्म और उद्दिष्ट पदार्थ इनके विषय में एक तत्त्वज्ञान पूर्वक विचार कर रहा है। इस तरह यह जीव सभी परद्रव्यों का त्याग कर देता है तब यह तन्निमित्तक शुभभावों का त्याग कर लेता। इसमें यह बात बतायी गई कि अपने को इन भावों में निरखें कि जैसा मैं अपने सत्त्व के कारण हूँ, केवल एक चैतन्य प्रकाशमात्र हूँ, यह दृष्टि में रहेगा तो बंध न बनेगा, और जहाँ इस दृष्टि से हटे शुद्ध स्वभाव की दृष्टि से च्युत हुए तो बाहरी पदार्थों में यह उपयोग लगायेगा, जैसा बाहरी पदार्थों का आश्रय किया वैसा इसके बंध चलेगा, सो बाहरी पदार्थों में लगना तेरे लिए लाभदायक नहीं है। तू तो अपने स्वरूप में बस, तेरा स्वरूप निर्विघ्न है। उसमें किसी तरह का अंतराय नहीं, जाप में, ध्यान में किसी भी जगह आत्मा पर दयाभाव रखकर कि मेरा जगत में कोई साथी नहीं, मैं अटपट विकल्प न करूँ, मैं अपने इस विशुद्ध निज तत्त्व को निरखूँ, उस स्वरूपमात्र अपने को मान लूँ, बस यह ही काम पड़ा है अपने आपको सुखी करने के लिए संतुष्ट रखने के लिए।

1456- आत्मा की परद्रव्यों से विविक्तता की प्रायोगिक भावना-

यह जीव उक्त प्रकार विचार करके समस्त परद्रव्यों से अपने को विविक्त निरखता है। सर्व पर से निराला यह मैं एक स्वतंत्र सत् हूँ, परिणमता रहता हूँ, परिणमे बिना एक समय भी नहीं रहता। और विकाररूप जब परिणमन होता है तो ऐसा ही यह अशुद्ध उपादान है कि अनुकूल वातावरण के सन्निधान में ही यह अपने में अपनी ही परिणति से विकाररूप परिणमता है, मगर यह चूंकि नैमित्तिक भाव है, परभाव है सो

इसमें आत्मीयता नहीं करता, इसका ज्ञाता रहता है। यहाँ यह हो गया कि यह ऐसा ही संपर्कज भाव है कि ऐसी घटना में ऐसी बात बन गई, मगर यह मेरे स्वभाव की चीज नहीं। अपने को उससे अलग मानना है, इसके वास्ते आचार्यदेव कह रहे हैं कि अरे ! इन समस्त द्रव्यों को तू बल-पूर्वक त्याग कर, जानकर त्याग, उनसे हट, बाह्य से हट और भीतर में उसके प्रति प्रीति का भाव न रख। देखिये, परद्रव्यों के प्रति अगर प्रीति की उमंग रहती है तो यह तेरे लिए अनर्थकारी है। अरे ! परभाव ये तो आत्मा के विकार हैं, इनको करता हुआ तू अपने को बड़ा बुद्धिमान समझता है, तू तो इन परद्रव्यों को मूलत: त्यागकर, अपने में उठे हुए, चित्रित हुए इन परभावों का त्याग कर, इन परभावों से निराले अपने आपके विशुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव कर। बस यह ही बंध को मिटाने वाला भाव है। इसका इसमें वर्णन किया गया है।

1457- आत्मा के विकाराकारकत्व के परिचय का परिणाम निज शुद्धस्वभाव की अभिमुखता-

यह बंधाधिकार का उपान्त्य कलश है। यहाँ प्रकरण और प्रयोजन यह है कि यह आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव को निरखे अर्थात् इसका जो अपनी सत्ता के कारण सहज भाव है चैतन्यमात्र, प्रतिभासमात्र, ऐसे उस स्वरूप को निरखें और उसमें मग्न होवे। इस प्रयोजन से यह वर्णन चल रहा है। यह आत्मा अपने विशुद्ध चैतन्यस्वभाव को देख सके उसके लिये पहले यह निर्णय बताया कि अपने आपको ऐसा निरखे कि मैं विकार का करने वाला नहीं हूँ, किन्तु मैं स्वभावमात्र हूँ; और मैं विकार का करने वाला नहीं इसका निर्णय दो तरह से दिया, एक तो यह कि आत्मा अपने विकार का करने वाला नहीं, क्योंकि कर्मप्रकृति परद्रव्य के द्वारा ही यह विपरिणमा अर्थात् परद्रव्यों के सन्निधान में ही यह जीव अपने रागविकार रूप परिणम सका, इस कारण यह रागविकार का कर्ता स्वयं नहीं है। अर्थात् यह स्वयं समर्थ कारण नहीं कि केवल अपने आप अपने ही द्वारा अपना ही निमित्त करके बिना परसम्बन्ध के भावों में रागविकार करे, ऐसा तो नहीं हो रहा। इसमें स्वभाव की दृष्टि करायी कि रागविकार करने का इसका काम नहीं है। दूसरी युक्ति दी कि जब द्रव्यअतिक्रमण और भावअतिक्रमण की व्यवस्था बताई गई है कि परद्रव्य निमित्त है और भाव नैमित्तिक है, द्रव्यअप्रतिक्रमण निमित्त है, भावअप्रतिक्रमण नैमित्तिक है, और इन दोनों में ही कर्तृकर्मत्व का उपदेश किया। द्रव्यअप्रतिक्रमण कर्ता, भावअतिक्रमण कर्म। तो यह उपदेश यह बात सिद्ध करता है कि जीव रागविकार का कारक नहीं है।

1458- स्वयं ज्ञानमात्र स्वभाव का निर्णय होने पर परद्रव्य के ही निमित्त से विभावनिष्पत्ति का तथ्य जानने के बाद ज्ञानी का परद्रव्य के परिहार का कृत्य-

उक्त दो युक्तियों से यह ध्यान में लिया ज्ञानी ने कि मैं शुद्ध ज्ञानस्वभाव मात्र हूँ, इसके जानने पर अब यह प्रतिबन्ध होना चाहिये कि उस परद्रव्य का त्याग करें, परद्रव्यों से उपेक्षा रखें, परद्रव्यों में उपयोग न फँसायें। अच्छा, यह भी कुछ-कुछ किया, मगर भली-भाँति न हो सका इसका कारण क्या? इसका कारण यह है कि परद्रव्यमूलक जो नाना प्रकार की भावसंततियाँ होती हैं उनको मूल से उखाड़ने का हमने अभी भीतर से ज्ञानबल का पौरुष नहीं किया। परद्रव्य हैं, इनका मैं कर्ता नहीं। इनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझमें नहीं,

ये मुझसे अत्यन्त निराले हैं। इनका आश्रय करके मैं अपने आपको संसार में भटकाता हूँ। इनका आश्रय छोड़े, बाहर से छोड़ें, भीतर से छोड़ें। जो बाहर से छोड़ने की बात है वह तो परद्रव्य के त्याग रूप है। जैसे चरणानुयोग में बताया है कि जो आश्रयभूत हैं उन वस्तुओं का परित्याग करें और अन्दर से देखने के मायने है कि किसी भी परद्रव्य में हम ममता न लावें, उसका ख्याल न बनावें, उससे हित-अहित की बात चित्त में न लावें, तो इस प्रकार मूल से ही उन विभाव संततियों को उखाड़ने की आकांक्षा रख रहा है। यह उमंग हो तो उनके त्याग में फिर कोई दिक्कत नहीं। हाँ तो अन्दर से, बाहर से परद्रव्यों का परिहार करते हुये यह आत्मा अब अपने भगवान आत्मा को प्राप्त कर रहा है।

1459- परद्रव्य का परिहार करने से हुई ज्ञानी को उपलब्धि-

पहले यह आत्मा विभावों में उलझा था, परद्रव्यों में उलझा था। अब इसकी उलझन इसने दूर की तो क्या पा रहा है अपने में कि बड़े अतिशय से उमड़ने वाले पूर्ण एक ज्ञान से युक्त आत्मा को पा रहा है। बाहर का विकल्प छोड़ा तो अन्दर में क्या पा रहा? एक ज्ञानविलास में अनवरत रहने वाले अपने आत्मा को पाया। ऐसे अन्तस्तत्त्व को पाकर यह भगवान आत्मा उन्मूलितबंध हो जाता है। बन्ध को उन्मूल कर दिया, उसकी जड़ तोड़ दी, बंध की जड़ अब न रही, क्योंकि बंध की जड़ क्या थी? स्वरूपसुध से च्युत होकर बाह्य पदार्थों में राग करने से बंध चल रहा था। अब वह संधि टूट गई। जीवभाव क्या है, और यह औपाधिक क्या है? सर्व रहस्य जान लिया गया। यहाँ निमित्त-नैमित्तिक योग की कथनी से अकर्तृत्व को प्रसिद्ध किया है कि आत्मा अकारक है, करने वाला नहीं है। यद्यपि अशुद्ध निश्चयनय से यह बात निरखी जा सकती थी कि आत्मा एक है और वर्तमान में वह अपने राग परिणाम को कर रहा है, पर अकारकत्व निरखना है जिससे कि आत्मा अपने विशुद्धस्वरूप को सुगमतया पा ले। उस अकारकत्व की प्रसिद्धि के लिये यह तथ्य बताया गया है। यह रागरूप स्वयं अपने आपसे नहीं परिणमता। परिणमता यह अवश्य है, मगर अपने आपसे नहीं परिणमता, पर-उपाधि के सन्निधान में यह अपना बल प्रकट कर पाता है, अतएव यह आत्मा अकर्ता है। शुद्ध स्वभाव को निरखने के लिये जो उपाय बताये गये हैं उन उपायों से मनन करके समस्त परभावों से निराले शुद्ध स्वभाव का अनुभव करना है। यह भगवान आत्मा, इसने बंध का उन्मूलन किया, सो यह आत्मा अपने आपमें स्फुरायमान होता, विकसित होता।

1460- अभूतपूर्व उपलब्धि-

संसार में अब तक इस जीव ने अपने आपके इस विशुद्ध स्वभाव को नहीं जाना, और जैसा अशुद्ध परिणम रहा उस ही रूप अपने को अनुभव किया। जो अपने को अशुद्ध परिणमनरूप अनुभव करे उसके अशुद्ध परिणमन की संतति चलती है, जो अपने को केवल सहज स्वभावरूप अनुभव करे उसके शुद्ध परिणमन की संतति चलती है। जो काम अब तक न किया गया हो वह काम जिस क्षण प्रकट हो, अपने शुद्ध स्वभाव की सुध प्रकट हो वह इसका एक नया दिन समझिये, नया दिवस, नया युग, नया वर्ष उसकी

एक नई बात है। अब तक वह संसार और संसारमार्ग में था, अब वह मोक्षमार्ग में आ गया। आत्मा की उपासना, आराधना और कुछ ख्याल नहीं। हित में बाधक है कषाय, किसी भी प्रकार की कषाय बनती है तो वह बाधक है और उसमें भी धर्म के विषय में, धर्म के बहाने उस धर्म के रूप में कषाय जगती है वह अधिक बाधक है। घर में रहते हैं अनेक कषायें बन जाती हैं। हो गई कषाय तो वह नियमत: अनन्तानुबंधी का रूप रख लेती है और वह भगवान आत्मा के मिलन में साक्षात् बाधक बनती है। इसमें धर्मप्रसंग में याने आत्मा के अनुभव के प्रसंग में सबसे प्रथम बताया है कि इसको इतना सरल यथार्थ द्रष्टा होना चाहिए कि समस्त जीव स्वरूपत: समान हैं, यह दृष्टि में हो और उस समानता के दृढ़ निर्णय के कारण किसी भी जीव में अनादर की बुद्धि न आये तब वह समता बनेगी, जिस समता के प्रसाद से आत्मा का अनुभव बनता है। सयाना, चतुर, बुद्धिमान वह कहलायेगा जो अपने आपके स्वानुभव का पौरुष बना ले।

1461- दृश्यमान के मोह में कर्म के साम्राज्य की निरन्तरायता-

देखो, जो भी दृश्यमान हैं वे कोई रहेंगे नहीं, ये अपने काम में आयेंगे नहीं जिनका लक्ष्य रखकर हम रति की उमंग बनाते, अरति की उमंग बनाते ये कोई मददगार नहीं। यह केवल खुद ही अपने किए का फल पाता है। जैसे पार्श्वनाथ पुराण में पार्श्वनाथ भगवान के अनेक भव और उनके साथियों के भव दिखाये तो जहाँ नरकभव की बात दिखायी है वहाँ विवेकी जो नारकी है वे वहाँ विवेकी नारकी इस रूप से चिन्तन करते हैं कि अहो ! जिसके लिए मैंने नाना पाप किये, कषाय किये वे अब कोई यहाँ साथ नहीं दे रहे, केवल खुद को ही यह भोगना पड़ रहा है, जिसको कुटुम्ब समझा, जिसको गोष्ठी समझा और उस रति के कारण कुछ से कुछ व्यवहार भी किया, दूसरों पर अन्याय हो जाय ऐसे भी व्यवहार बने, इस सब करनी का फल भोगने कोई दूसरा न आयगा। जिनके लिए ममता करके विकल्प बनाये वे कोई भोगने न आयेंगे, भोगना इस खुद को अकेले ही पड़ेगा। देखिये- कर्मबंध, कर्मोदय यह एक जैसे यहाँ की चीज है, देखते हैं यह ठीक है, तथ्य है ऐसे ही कर्म की बात भी कोई कहने मात्र की नहीं है, वह पौद्गलिक कार्माण वर्गणाओं की परिणति है। जब विकारभाव जगा, रागद्वेष जगे तो उसके सान्निध्य में यह कार्मण वर्गणायें उस अनुरूप परिणत हो गई याने कर्मरूप बन गई, कर्मरहित दशा और कर्मत्वसहित दशा ये दो बातें कार्मणवर्गणा में होती रहती हैं। अब कर्मबंध हो गया, सत्ता में बना है। जब तक ये सत्ता में हैं तब तक उनका फल नहीं मिल रहा भले ही ये सत्ता में है, किन्तु जो-जो उदय में आ रहे उनका ही फल प्राप्त हो रहा, पर सत्ता में रहने वालों का फल नहीं प्राप्त हो रहा, अर्थात् उनका उदयकाल आता है, विपाक होता है तो कर्म की बात वहाँ कर्म के ढंग से कर्म में बनती चली जा रही है। विपाककाल आया, जिस काल में विपाक होता है तो चूंकि यह आत्मा उपयोगस्वरूप है तो वह विपाक का प्रतिफलन वहाँ न आये यह नहीं हो सकता। विपाक का प्रतिफलन होता है यहाँ तो जीव जान-जानकर कषायों के आश्रयभूत को समझता है कि यह अमुक है, यह अमुक है। किंतु

अंदर में बुद्धि-पूर्वक नहीं बन रहा प्रतिफलन, मगर ऐसा ही योग है कि वह विपाक का प्रतिफलन याने अँधेरा इस उपयोग में आता है।

1462- ज्ञानस्वच्छस्वभाव और आगंतुक प्रतिफलन के भेद के अभ्यासी की प्रगति-

कर्मविपाक के प्रतिफलन के काल में यदि यह अज्ञानी है तो इस मोही को उसमें आसक्ति होती है, उस रूप अपने को मानता है और ज्ञानी है तो वह प्रतीति में अपने स्वरूप को ही लिये हुये है और ज्ञाता-द्रष्टा रहता है, वह हो गई कषाय, वह हो गया विकल्प, यह मैं नहीं हूँ, इस तरह अपने को निराला रखता है। तो कर्तव्य यह है ना कि अपने स्वरूप का सही परिचय पायें और स्वरूप के अतिरिक्त जो भी भाव हों उन भावों को औपाधिक नैमित्तिक परभाव सर्व तरह से निर्णय करके उनसे उपेक्षा कर लें। इनमें लगने से मेरा हित नहीं है। सो स्वाध्याय द्वारा, अध्ययन-मनन द्वारा ऐसी एक अपनी भावनापुष्ट करें, मैं यह हूँ चैतन्यप्रकाशमात्र। बहुत विकल्प और निर्णय जब हुये, किये, उनके बिना भी काम नहीं चला, मगर जब निर्णय कर चुके और अपने सहज स्वरूप का अनुभव पा चुके तब उसकी ऐसी एक साधारण स्थिति रहती हैं कि जिसमें रहता हुआ यह भव्य आत्मा जब चाहे समय-समय में जरा दृष्टि की, स्वभाव को निरखा और उन संकटों को शान्त कर दिया जो कर्मविपाकवश आया करते है। मैं ज्ञानमात्र हूँ...। ज्ञानी बाह्यविकल्पों से, पर पदार्थों से इस तरह अलग होता हुआ, जैसे मानो झटका देता हुआ, यह मैं नहीं, इस तरह एक छुटकारा सा करता हुआ यह अपने अन्दर में निरखता है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। थोड़ा सा यह कुछ विवाद में आ गया था, कर्मविपाक ऐसा ही आया और यह क्षोभ में आया, कोई विकल्प किया, कुछ परेशानी इसके आयी, कुछ परेशान सा बन रहा था, अब यह किसी भी समय जैसे ही अपने अविकार स्वरूप पर दृष्टि देता है वहाँ परेशानी का काम नहीं। और ऐसा ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व का अनुभव यदि कुछ ही काल बना रहे, आज तो सम्भव नहीं, मगर जब भी सम्भव था, और की गई इस अविकार स्वरूप की अनुभूति बहुत काल तक जिसे कहते हैं योग्य अन्तर्मुहूर्त तक अनुभूति रही, तो उसके फल में वह श्रेणी पर चढ़ गया, कर्म नष्ट हुये, केवली अरहंत बन गये, यह स्थिति सुगमतया शीघ्र आ जाती है। तो समझ लो एक बार स्व का अनुभव बनकर फिर चाहे कुछ काल न अनुभव बने तो स्मरण तो रहेगा। मैं यह हूँ इस ही स्मरण का ऐसा प्रताप है कि यह जीव अनेक अनर्थों से बच जाता है।

1463- मान्यतानुसार वृत्ति-

जो जैसा मानता है वैसी उसकी वृत्ति होती है। जो अपने को किसी का पिता समझता है तो उस समझ के अनुरूप भीतर में विकल्प चलते हैं, इसको यों पढ़ाना, यों होशियार बनाना, यों काम में लगाना, यह मेरा है, कितना अच्छा है..., उस रूप इसकी वृत्तियाँ चलती हैं। तब ही तो देखते ना कि कोई अच्छी चीज हाथ में आयी तो खुद न खा सकेंगे, पर बच्चों को खिला देंगे। उसमें ये बड़ा संतोष मानते खुश होकर कहते कि हमारी यह मौज अकारथ नहीं गई, किन्तु हमारे बच्चे ने खाया। अब उन बच्चों के प्रति एक आसक्ति की बात तो देखिये, पहले समय में लोग जब साफा धोती पहना करते थे तो मानो कोई नया साफा अपने बेटे के

लिए पहनने को लाये, कुछ दिन वह पहनले, कुछ पुराना-सा हो जाय तो उसे उसका पिता बाँधा करता था, तो एक प्रीति की बात देखिये इन अज्ञानी जीवों को कितनी आसक्ति बनी हुई है, करने न करने की आलोचना नहीं कर रहे, किन्तु भीतर में जो यह बात पड़ी है कि बाकी जीव तो ये अजीव जैसे है, ये बहुत-बहुत चिल्लायें, दु:खी हो तो भी ये मोही जीव समझते कि ये दु:खी नहीं हो रहे, ये तो ऊपरी-ऊपरी रोकर नाटक-सा दिखा रहे। और, कभी खुद के बच्चे को जरा-सा सिरदर्द भी हो जाय या कोई छोटी-मोटी फुंसी भी हो जाय तो इसके इलाज कराने की बड़ी परवाह करते, उसके लिए बड़े चिन्तित होते, अब यहाँ किसी को मना क्या करें ऐसा करने के लिए, परंतु एक भीतरी भाव की बात कह रहे कैसी कुछ भावों में ममता बस रही है। खैर, जिन्दगी तो गुजर रही हैं, जीवन के जो क्षण गुजर गए वे वापिस नहीं आते, मरण के सम्मुख पहुँच रहे हैं और अपनी आदत को ये मोही जीव छोड़ते नहीं हैं।

1464- अपमानकारक घटनाओं में मोही के आत्मप्रशंसा की मान्यता की उमंग-

वे मोहीजन अपनी आदत से बाज नहीं आते, ये मोह करने वाले लोग बहुत बहुतसी बातें भी करते ज्ञान की, धर्म की, व्याख्यान की, पर इनके मोह करने की आदत नहीं छूटती। मेरा मकान, मेरा घर, मेरा कुटुम्ब इससे मेरी बड़ी महिमा है, इसे देखकर किसी की प्रशंसा करे कोई और कहे यह कि साहब आप इन्हें नहीं जानते, इन साहब का क्या कहना, इनके चार लड़के हैं, सो एक तो है मिनिस्टर, एक है डाक्टर, एक है कलेक्टर और एक है इन्स्पेक्टर। अब इस बात को सुनकर वह सेठ बड़ा खुश होता। वह यह समझता कि इसमें मेरी प्रशंसा की गई पर दी गई उसे गाली। कैसे, कि यदि उसमें कुछ गुण होते तो उसके गुणों की बात कही जाती जैसे ये सेठ जी बड़े दानी हैं, परोपकारी हैं, उदार हैं...। ये कोई बातें तो कही नहीं गई। वहाँ तो लड़कों के विषय में कहा गया कि इनके लड़के इतने ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर हैं, उसमें यह बात स्वयं ही बसी हुई है कि इन सेठ साहब के लड़के तो ऐसे-ऐसे बुद्धिमान हैं पर ये सेठ कोरे बुद्धू हैं, इनमें कोई कला नहीं, कोई गुण नहीं। और भी देखो जैसे किसी ने किसी के प्रति कहा कि इन सेठजी का क्या कहना हैं, इनके पास ऐसी हवेली है कि जिसे बस देखते ही बनता है, उसका मुख्य द्वार इतना सुन्दर बना है कि जिसमें बड़े कलात्मक ढंग से चित्रकारी की गई हैं, उसके बनाने के लिए विदेशी कारीगर आये थे...। अब इन बातों को सुनकर सेठ बड़ा खुश होता, वह समझता है कि इसमें मेरी बड़ी प्रशंसा की जा रही है, पर दी जा रही उसे गाली। कैसे, कि यदि उस सेठ में कोई कला होती तो उसकी बात कही जाती, कही तो गई उस हवेली की बात कि यह हवेली, ये ईंट-पत्थर तो इतने अच्छे हैं, इनमें इतनी-इतनी कलायें हैं, पर सेठ में कोई कला नहीं, यों दी तो गई उस सेठ को गाली, पर वह प्रशंसा जानकर खुश होता। याने मोह के थपेड़े देखो, किस-किस ढंग से यह जीव अपने आपको बड़ा खोटा अनुभव कर रहा। अच्छा यह तो साधारणजनों की बात हैं। कोई धार्मिक क्षेत्र में भी उतरे तो वहाँ भी देखो, ये मोह के थपेड़े कैसे कैसे चल रहे।

1465- मोह की विभिन्न करतूतें-

प्रथम तो देखो भगवान के आगे दर्शन कर रहे, ढीले-ढीले खड़े, जैसे-जैसे जल्दी-जल्दी में स्तुति पढ़ रहे, और वहाँ कोई दर्शन करने वाले लोग आ गए तो उन्हें देखकर झट अटेन्सन में भी हो गए और बड़े स्वर में स्तुति पढ़ने लगे, वहाँ बात तो यह घट गई कि उसके लिए तो भगवान वे दर्शन करने वाले लोग हो गए, नहीं तो वह भला ऐसा क्यों करता? यदि वे दर्शन करने वाले लोग इसकी निगाह में न होते, एक भगवान की ओर ही इनकी निगाह रहती तो वहाँ तो एक स्वयं सहज भक्ति होती, तो ये मोह के थपेड़े न जाने कहाँ-कहाँ जाकर इस जीव को सताते है। इस मोह की आदत की कभी खोट नहीं हटती है। मोह जहाँ जाता बस वही इस जीव को सताने लगता। जैसे पुष्पडाल मुनि को उस जंगल में भी अपनी कानी स्त्री की याद आयी, वहाँ उन्हें उसके प्रति मोह उमड़ा, अच्छा और भी इस मोह के थपेड़े देखो- यह पुरुष निर्ग्रन्थ भेष को लेकर आत्मसाधना के ध्यान से तो गया, मगर इस भेष पर ममता हो गई कि मैं ऐसी उपाधि वाला हूँ, ये लोग ऐसे ही हैं, इनमें मैं श्रेष्ठ हूँ, इनको मेरे प्रति ऐसे ही झुकना चाहिये, मैं इनमें मुख्य हूँ, इस दृष्टि से इस मोही ने अपने को अब तक यहाँ इस ढंग से सताया। अच्छा यहाँ भी सताया जाता, खैर यह भी अभी एक व्यक्तरूप-सा है, कि हाँ ऐसा न करना चाहिये, मगर इस मोह की बात देखो किन्हीं साधु पर, जैसे पहले कोल्हू में अनेक साधु पेल दिये गये, उनमें से जो विवेकी साधु थे, वे अपने आत्मस्वभाव का लक्ष्य लेकर उस ही रूप अपने को अनुभव करते हुये दिवंगत हुये, मोक्ष गये या जो भी जिसे हुआ और जो मोह में रहकर कोल्हू में पिले याने जिनकी यह दृष्टि रही कि मैं मुनि हूँ, चाहे कोई कुछ करे, पर मुझे किसी से द्वेष नहीं करना है, यों देहाश्रित लिङ्.ग के प्रति आत्मरूपता की मान्यता जिनके थी बस उनका मोक्षमार्ग रुक गया। देखिये यह बात सुनने में तो भली लग रही होगी कि उन मुनियों ने वहाँ ठीक ही तो सोचा कि मैं मुनि हूँ, मुझे किसी से द्वेष न करना चाहिए..., पर कल्याण के मार्ग में परद्रव्य व परभाव के प्रति अहंकार का विकल्प उठना बाधक बताया गया है। तो यह मोहबंधन कैसे मिटाया जाता है, यह सब बात इस छंद के अन्दर बतायी है, कैसा-कैसा पौरुष किया और इस ज्ञानमय आत्मस्वभाव को किस तरह किसने प्राप्त किया।

कलश 179

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बन्धं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥179॥

1466- स्वभावाश्रय से विभावविदारण-

यह बंधाधिकार का अन्तिम कलश है। पहले जो वर्णन चला था तो उसका ध्येय यह है कि रागादिक भावों से उपेक्षा हो और अपने स्वभावभाव में अवस्थित हो। तो जिस तरह से इन रागादिक भावों को धुतकारा गया है सो मानो इस ज्ञानज्योति ने इन रागादिक भावों का, उन कारणों का जो कर्मबंध के निमित्तभूत हैं, इन रागादि विभावों का निर्दयता से विदारण किया है। जब यह ज्ञान अपने सहज ज्ञानस्वभाव को निर्लेप अविकार जैसा कि सहज स्वरूप है उस स्वरूप में जब निरखता है तो वहाँ विभावों का विदारण हो जाता याने ये विभाव दूर हो जाते हैं, छिद जाते हैं। ये अपनी पोजीशन नहीं बना पाते। मानो तब ही वह ज्ञानी दयापूर्वक मंदिर में जाता हुआ नि:सही नि:सही पहले बोलता है। उस नि:सही का क्या अर्थ है? निकलो निकलो, अलग हो। यह ज्ञान मानो यह सूचना दे रहा है इन रागादिक विभावों को कि हे विभावो ! तुम बड़ी अच्छी तरह से मौज से हमारे में रहे। हमने भी तुम्हारा यथातथा जैसे बना स्वागत किया। रहे तुम, मगर अब हम वीतराग प्रभु के दर्शन करने जा रहे हैं, वहाँ अब तुम्हारी दाल न गलेगी। तुम अचानक ही बुरी मौत से मरोगे इसलिए हम तुम्हें सूचना दे रहे कि तुम धीरे से यहाँ से निकल जावो, हम मन्दिर के द्वार पर ही खड़े होकर बोल रहे। वहाँ मानो दया करके इन रागादिक भावों को सूचना दी। यह एक व्यवहार विधि है। मगर ऐसी सूचना ज्ञानी देता नहीं। वे रागादिक भाव अचानक ही मर जाते हैं। जहाँ स्वभावदृष्टि की तहाँ ये सब छिन्न-भिन्न हुये, तो बताओ यह सब विदारण निर्दयता से हुआ कि नहीं? (हँसी)

1467- रागविदारण से आत्मदया व आत्मरक्षा-

देखिये, आपसे प्रीति करके आपकी जड़ काटे कोई तो वह निर्दयता कहलायेगी ना। इसी तरह अनादि से पल-पूस रहे संततियों को तो मूलत: उखाड़ फैंके तो उसे निर्दयता क्यों नहीं कहेंगे? और यह निर्दयता नहीं, आत्मदया प्रखर थी। यह भगवान आत्मा अब तक मोह से झुलसा चला आ रहा था, तो उसने अपने आप पर दया की। उस परम करुणा के प्रोग्राम में बस उसकी रक्षा हुई है। रागादिक का क्या बिगड़ता, मिटने दो, मिटने तो थे ही, वे यों न मेटें, तो मिटते हैं। आप खूब राग करें तो भी ये मिटते ही रहते हैं। कोई पर्याय आगे तो नहीं चलती, पर्यायें व्यतिरेकी हैं। मिटनी तो थी ही, बस इसने इतना ही किया कि भाई नवीन न आवें और आवें तो कम आवें। अब बताओ, यह भी कोई अन्याय हो गया क्या? यह भी कोई निर्दयता हो गई क्या? अरे ! होने वाले राग को नहीं यह नष्ट कर रहा, वह तो अबुद्धिपूर्वक हुआ, कुछ हुआ, मगर यह संतति नहीं होने देता, आगामी नहीं होने देता। इसी को रागादिक अपनी कमेटी करके चाहे निर्दयता का प्रस्ताव करें। ज्ञानी जीव के निज स्वभावाश्रय के बल से इस तरह रागादिक भावों का विदारण होता, और उस विदारण के अर्थ यह जो कहा अन्तिम प्रयोग बहुत लाभदायक बना और इसे करना चाहिए। भीतर ऐसा निरखें कि ये जो रागभाव हुए हैं सो कर्मोदय का प्रतिफलन है, यह नैमित्तिक है, इससे मेरा क्या मतलब? मेरा स्वरूप नहीं, मेरे स्वभाव की चीज नहीं। मैं तो केवल विशुद्ध चैतन्यस्वभाव मात्र हूँ ऐसी उपेक्षा तो करें।

1468- उपेक्षास्त्र का प्रभाव-

अहाने में कहते हैं कि 'बड़ी मार कतार की, दिल से दिया उतार।' घर में कोई मुखिया है और उससे किसी की बात न बनी, किसी ने मुंहजोरी की, जवाब दे डाला, आज्ञा में न चला, उद्दण्डता में पेश आता तो वह मुखिया क्या करता? उससे बोलता नहीं, उसकी और टुक देखता ही नहीं, तो वह क्या कहता है कि स्त्री हो चाहे पुत्र हो, चाहे पिताजी हों, मेरे से कुछ बोलते ही नहीं, मेरी तरफ देखते ही नहीं, बड़ा कष्ट है। क्या कष्ट हो गया? बड़ी मार करतार की दिल से दिया उतार। तो यह रागादिक पर ऐसी मार चल रही है। अज्ञान अवस्था में यह जीव रागादिक भावों से प्रेम करके, एकमेक बनकर चल रहा था। अब भेदविज्ञान जगा, आत्मा के स्वभाव की सुध हुई, सब कुछ जाना कि इन रागादिक भावों की प्रीति में दु:ख है, भविष्य में दु:ख है फिर भी प्रीति क्यों? कोई परमार्थ बात हो तो चलो उसकी प्रीति करे, परमार्थ तो कुछ है नहीं और ऐसा हौवा बना है कि जो न तो कर्म की चीज है और न जीव की चीज है। जैसे हौवा न माँ की चीज है, न बच्चे की चीज है, न भींट की चीज है, न उजेले की चीज है, कुछ है ही नहीं, पर एक हौवा बना है, ऐसे ही देखो कि जो ज्ञान-विकल्प हुआ वह आत्मा की चीज तो यों नहीं कि आत्मा में स्वभाव से नहीं हुए। स्वयं आत्मा समर्थ हो, निमित्त स्वयं बने तो कुछ बात बतायें, पर यह आत्मा स्वयं निमित्त नहीं है। स्वभाव से नहीं आया तो आत्मा की चीज नहीं, कर्म हैं परद्रव्य उसकी तो चीज हो ही क्या? यों भी देखो। और यों भी देख लो- चूंकि कर्म के उदय में ही ये विकार बने, कर्मोदय के अभाव में नहीं बने इस कारण इनके मालिक कर्म रहे, जावें ये कर्म के पास, हम इन्हें निज घर में जगह न देंगे, क्योंकि हे विकारभावो ! तुम कर्मविपाक के होने पर ही तो होते हो और उस कर्मोदय के न होने पर नहीं होते तो तुम्हारा अपना नाता-रिश्ता कर्मोदय के साथ लग रहा हमारे यहाँ तुम्हें जगह नहीं, जावो, अनेक प्रकार के ऐसे ही प्रयोग करें, चिन्तन करें, यह जीव अपने शुद्ध स्वभाव में रुचि बढ़ाता है, उसका फल यह है कि ये रागादिक भाव, इनका विदारण होता है।

1469- रागविदारण से बन्ध का प्रणुदन-

रागादिविदारण से क्या बना कि उन कारणों का जो कार्य था मायने रागादिक विकारों का निमित्तपाकर जो कार्मणवर्गणायें हैं वे कर्मरूप बन जाया करती थी, सो अब कर्मत्व आना दूर हो गया। जैसे कोई घर पाप करके कभी फला-फूला चलता है, धन भी बढ़े, परिवार भी बढ़े, इज्जत बढ़े, प्रतिष्ठा बढ़े, बहुत पाप करके, मायाचार करके किसी तरह खूब बढ़ोत्तरी हुई, और जब पाप का उदय आया, पुण्य पूरा समाप्त हुआ तो किस-किस प्रकार से क्या-क्या बात बनती है, यह भी गया, वह भी गया, यह मरा, वह मरा, अमुक यों मरा। तो जैसे वहाँ एक विनाश की प्रगति चलती रहती है ऐसे ही यहाँ जब तक अज्ञान किया, अज्ञान से बड़े-बड़े पाप बाँधे उन पापों से यह लौकिक हिसाब से खूब फला-फूला और जिस समय में अज्ञान-पाप का घड़ा फूटा, सम्यक् ज्ञान का उदय हुआ तो ज्ञान का उदय होने पर फिर रागादिक का विनाश, यह गया, बन्ध भी गया, विकार का भविष्य भी बिगड़ा, ये सारी बातें ज्ञानज्योति के उदय होने पर होती हैं। दृष्टान्त में केवल

विनाश की बात लेना, तो इस तरह यह ज्ञानज्योति के कारण कर्मबन्ध भी खतम हुआ, करणानुयोग के हिसाब से चूंकि अभी ज्ञानज्योति पूर्ण नहीं है, जितने अंश में है शुद्धोपयोग वीतरागता उतना संवर और निर्जरण चलता है। चौथे गुणस्थान में 41 प्रकृतियों का संवर है याने मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी, इनके परिणाम के कारण जो बंध हो सकता था वह बंध अब यहाँ नहीं। अर्थात् जो प्रकृतियाँ शेष हैं चारित्र मोह की, उनका विपाक है अभी, तब ही कभी बुद्धिपूर्वक कषाय है, कभी अबुद्धिपूर्वक कषाय है, रागविकार हैं, तो तत्कृत यथायोग्य जैसे सम्भव है वैसे बन्ध चला, मगर वह सब बंध मिटने की ओर, जैसे पेड़ की जड़ कट जाय तो गिर गया पेड़ और हरा भी बना है, मगर वह हरापन मिटने की ओर है, जवानी की ओर नहीं है, ऐसे ही ज्ञानी जीव को जो कुछ राग रहा वह सब मिटने की ओर है, जवानी की ओर नहीं, यह रागविदारण हुआ, संसारपरम्परा मिटी, ये सब बातें किस आधार पर हुई? बस एक ही बात, अपने स्वरूप को विशुद्ध चैतन्यमात्र ऐसा भीतर निरखना।

1470- ज्ञान की लक्ष्य पर बेरोक पहुँच-

कोई कहे कि कैसे निरखें तत्त्व, पर्याय तो गुजर रही है, पर्याय में विकार है, यह तो गुजर रहा है, फिर तत्त्व निरखा कैसे जाय? तो देखो, ज्ञान में ऐसा अद्भुत बल है कि रागादिक गुजर भी रहे और उनमें उपयोग न टिकाये और उपयोग आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप में टिकाये, ऐसा उपयोग का सामर्थ्य है, ज्ञानी का ज्ञानबल है। मगर, इस बल का प्रयोग निरंतर अन्तर्मुहूर्त भर कर सके तो केवलज्ञान हो जाय, सो ज्ञानी असमाधिदशा में स्वभाव के प्रति ज्ञानोपयोग निरंतर नहीं कर पाता। वह कर्मवश, कर्मोदयविपाकवश इसके सान्निध्य में यह नहीं टिक पा रहा है, मगर मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी न रहने से इसमें इतना बल हुआ है कि वह अपने स्वभाव भाव को निरख सकता है और ऊपर कुछ रागविकार की लहरें चल रही हैं और भीतर में ज्ञानस्वभाव की सुध लेकर अपने में दृढ़ कड़ा बना हुआ है, ऐसी विचित्र स्थिति ज्ञानी की बन जाती है, क्योंकि ज्ञान जिस लक्ष्य को लेता है उसके बीच कोई भी चीज आड़े आये तो उनसे यह छिड़ता नहीं है। ज्ञान में ऐसी एक धारा और बल होता है। जैसे हड्डी का फोटो लेने वाला यंत्र, यह तो पौद्गलिक ही बात है, उस एक्सरे मशीन पर कोई खड़ा हो जाय जिससे हड्डी का फोटो लिया जाता तो वह न तो रोम को ग्रहण करता, न चमड़ी को ग्रहण करता, न खून, मांस-मज्जा को ग्रहण करता और वह केवल हड्डी का फोटो ले लेता। तो फिर भला यह जो ज्ञान है वह जिसका फोटो लेना चाहता है उसके बीच में चाहे कुछ भी आ पड़े, उन सबको छोड़ता है और अपने बेध्य वेद्य विषय को ही ग्रहण करता है, जैसे अचानक किसी को खबर आ जाय कि घर में कोई चीज रख आये, तिजोरी के अन्दर सन्दूक, उस सन्दूक के अन्दर डिब्बा, उस डिब्बे के अन्दर एक पोटली में बाँधकर अंगूठी रख आये, तब उसका ख्याल आ गया कि जो अंगूठी रख आये वह ठीक-ठीक रखी कि नहीं, तो अब देखो यहाँ बैठे-बैठे उसका ज्ञान करने में कहीं द्वार के किवाड़ आड़े नहीं आये, भींत भी आड़े नहीं आयी, लोहे की तिजोरी भी आड़े नहीं आयी, संदूक आड़े नहीं आयी, सीधे वह ज्ञान उसी अंगूठी

पर पहुँच गया, याने ज्ञान ने जिसका लक्ष्य किया, उसी को पकड़ लिया। यहाँ यह अद्भुत बल अज्ञानियों को नहीं मिला, उनको लौकिक ढंग का मिलता, व्यवहारिक बात का मिलता। मगर रागादिक विकारों से यह उपयोग नहीं छिड़ा यह तो ज्ञानी के हो जाता है। विकार तो हो रहे मगर यह ज्ञान उन विकारों को न निरखकर उस दृष्टि में केवल आत्मा के चैतन्यस्वरूप को निरखना चाहे तो कोई चीज छिड़ती नहीं है, यह खुद छिड़े तो छिड़ जाय।

1471- ज्ञानज्योति के उदय से ज्ञाता की क्षपित तिमिरता-

जिस जीव के एक ज्ञानज्योति प्रकट हुई है उसका सारा अन्धकार दूर हो गया, स्पष्ट झलकने लगा कि मैं यह हूँ। जैसे कभी दो दोस्तों के बीच किसी एक चुगलखोर ने आकर मनमुटाव कर दिया और मानो 6 महीने तक भी उसे न सुहाये, वह बड़ा दृढ़ मित्र था, मगर भ्रम की बात ऐसी बन गई। और, कोई समय वह भ्रम निकल गया तो वे दोनों मित्र मिलकर रोते हैं। अरे !मैंने भ्रम में आकर आधे साल का समय व्यर्थ खोया। इसका तो कोई अपराध था ही नहीं। भ्रम में ये सारी बातें बनी हुई थीं। जहाँ भ्रम मिटा वहाँ अन्धकार दूर हो गया कि यहाँ तो कोई दु:ख की बात ही नहीं। मैं अब तक दु:ख मानता रहा। यहाँ तो कोई ऐसी गड़बड़ बात ही नहीं। मैंने भ्रम करके भारी गड़बड़ियाँ की और देखो हमने केवल की तो भावों के द्वारा गड़बड़ियाँ और फल मिला इसका ऐसा कि भावों की विकृतियाँ भी हुई और द्रव्य की भी विकृतियाँ हुई। जिस भव में गया, जिस शरीर में गया उस तरह से यह फैलता फिरा, द्रव्यव्यञ्जनपर्याय बिगड़ी, गुणव्यञ्जनपर्याय (गुण पर्याय) बिगड़ी। तो जब एक चेत हुआ, कुछ समझ बनी तो अब उस सारे भ्रम पर इसको खेद हो रहा, खेद भी क्या है? वह मीठा खेद कि अनादिकाल से मैंने अब तक सब भ्रम में खो डाला। देखिये, एक क्षण को भी अगर अपनी इस स्वभावज्योति का अनुभव बने, प्रकाश मिले, उपयोग स्वीकार कर ले कि मैं सहज इस स्वरूप में हूँ, तो उसके अनन्तकाल के लिये सारे संकट दूर हो जायेंगे। और, एक क्षण के लिये अगर यह वैषयिक सुखों का लाभ बनाये, जैसे बहुत से लोग कहने लगते ना कि जिन आलू-भटा न खाये, वे काहे को जग में आये? कोई सोचे कि अरे !अभी मौज ले लो आगे की कौन देख आया? तो कहते हैं कि यह एक क्षण का वैषयिक सुख चिरकाल तक भव-भव में पटकेगा।

1472- निरुपाधि ज्ञानज्योति के प्रसार की अबाधता-

यह ज्ञानज्योति प्रकट हो, विकार-अंधकार दूर हो, तो इस ज्ञान के प्रसार को अब कोई रोक नहीं सकता, कोई आवरण नहीं कर सकता, यह ज्ञान जानता है। मेरा स्वभाव हैजानने का। जानने का स्वभाव कैसा है कि जो भी सत् है बस वह ज्ञेय हो ऐसा इसका स्वरूप है। तो स्वरूप तो कही मिटेगा नहीं। उस स्वरूप का कही विकास रुका था। आवरण था साक्षात् तो विभाव द्वारा और निमित्त-दृष्टि से उन कर्मों द्वारा बंधन था, इसका विकास रुका था। जब यह विकास आया, वह आवरण दूर हुआ, विभाव दूर हुये तो अब जो उसमें अपना स्वरूप है बस वही स्वरूप उमड़ गया। अब उसके प्रसार की सीमा कौन बनायेगा? अगर कृत्रिम प्रसार हो,

नैमित्तिक हो तो वहाँ कुछ सीमा बने, मगर जहाँ स्वरूप की ही बात है तो स्वरूप के अनुरूप पूर्णतया वह बात स्वयं आ ही जायगी, उसे कोई रोकने में समर्थ नहीं। कोई पदार्थ कहीं भी स्थित हों, पीठ पीछे हों, आगे हों, भूत में हो, जो सत् है वह सब ज्ञान में ज्ञेय हो जाता है। जब यहाँ हम आप लटोरे-घसीटे भी 10-25 साल पहले तक की बातों को भी ढंग से जानते हैं, युक्ति से भविष्य को भी जानते हैं और अवधिज्ञानी पुरुष आत्मीय शक्ति से स्पष्ट जानता है जितना वह अपनी सीमा में जानता तो उससे अंदाज लगा लो कि ज्ञान में ऐसा स्वभाव है, स्वरूप है कि यह सबको जाने। तो जब विकास होता तो इसका कितना असीम विकास होता। अब इसके इस प्रसार को कोई रोकने में समर्थ नहीं।

1473- आत्मा के विकाराकारकत्व के मनन के उपाय की महनीयता-

बंध के प्रकरण में उपाय बहुत बताये, मगर एक सरल उपाय जो रागादिक का अकर्तृत्व बताने में प्रयुक्त किया है इस उपाय के प्रयोग के बाद यह बंधाधिकार समाप्त किया जा रहा है, उसमें जैसे बहुत आसानी से अपने शुद्ध स्वभाव की निरख बने उस प्रकार बताया गया है। मैं स्वभावत: प्रतिभासमात्र हूँ, इसके साथ-साथ सब ज्ञान है इस ज्ञानी को। एक प्रतिभासमात्र ही मैं होऊँ, परमार्थभूत कुछ नहीं हूँ, ऐसा नहीं है। जो ऐसा मानते हैं उन्होंने स्याद्वाद को छोड़ा, और उनका एक प्रतिभासाद्वैत अलग हो बना सम्प्रदाय। मैं प्रतिभासमात्र हूँ, पर मैं प्रतिभासी से जुदा नहीं हूँ, कि कोई परमार्थवस्तु और उसका वह प्रतिभास उसमें चल रहा है। तो वह परमार्थवस्तु जो प्रतिभास का आधार है वह अपरिणमी ही होता ऐसी मान्यता बने तो वह स्याद्वाद शासन से दूर हो गया, क्योंकि वहाँ नित्य अपरिणामित्व आया, और नित्य अपरिणामी है तो प्रतिभास क्रिया कैसे बन सकेगी? किसी ने इस प्रतिभास को निरखा क्षण-क्षण में, बहुत सूक्ष्म दृष्टि से देखा कि नया-नया प्रतिभास एक-एक समय का परिणमन यही पूर्ण-पूर्ण वस्तु है, ये सब स्वतंत्र हैं, अपने आपमें वही-वही है। इसका अन्य से कुछ सम्बन्ध नहीं, ऐसा जिन्होंने देखा उनका सम्प्रदाय बना सौगत, क्षणिकवादी। ज्ञानी की सारी प्रतीति सही-सही है, पर समय-समय पर जिस-जिस प्रयोग को मुख्य करके वह कुछ स्वभाव के आश्रय की ओर चलता है तो शेष को तो गौण करता है और विवक्षित को यह प्रधान करके चलता है। जिस किसी भी प्रकार हो, अपने आपमें स्वभाव-दृष्टि जगे, अनुभव बने कि यह मैं केवल ज्ञानस्वभावमात्र हूँ।

1474- विशुद्ध परिणति की भावना तथा बंधवेष का निरसन-

कब ऐसी परिणति हो कि कोई नाम लेकर खूब चिल्लायें, पर भीतर यह बात ही न घुसे कि मुझे बुलाया जा रहा है। कब ऐसी भीतर में स्वभावाश्रय की दृढ़ता हो कि जगत में कुछ भी होता रहे, ज्ञान में न आये तो ज्ञाताद्रष्टा रहे। हो रहा है, ऐसा यह सब स्वभावभावना के अभ्यास से साध्य है और स्वभावभाव की भावना तब काम करेगी जब इसका हृदय विशुद्ध हो। किसी कषाय में, किसी आग्रह में, किसी पक्ष में उलझा हुआ न हो। एक आत्मा का ही नाता चित्त में रहे तो वहाँ इस स्वभावभावना की पात्रता बनती है, स्वभावभावना अभ्यास जैसे-जैसे बढ़ता जाता वैसे ही वैसे मोक्षमार्ग में प्रगति होती चली जाती है। तो स्वभावभावना न रही

और बाह्य पदार्थों को आश्रय बनाकर नाना तरह के अध्यवसाय किए थे, जिसका फल कर्मबन्धन रहा। अब स्वभाव को जाना, वह अध्यवसाय दूर हुआ जो कि एक चला करके संसार को बना रहा था, उस अध्यवसाय के दूर होने से अब इसके सही अवसाय आया अधिक अवसाय खतम हो गया, और जो स्वरूप में है, बस उसी का ही अब इसके निर्णय है, निश्चय रहा, उसका परिणाम यह है कि यह बंध निकल भागेगा। इस प्रकरण में जो बंधभेष में आया हुआ था उसको जाना ज्ञानज्योति ने। ये विभाव, ये कर्म, ये सब बंधरूपी चीजें हैं, इनका भेष हैं। ये बंध वस्तुत: क्या हैं? द्रव्यबंध में तो वे साधारण विस्रसोपचय कार्मणवर्गणायें हैं और उनमें एक-एक पुद्गल अणु है, भेष बना डाला उसने यह। और यहाँ पर विशुद्ध चैतन्यस्वभावमात्र परमार्थ वस्तु हैं और भेष बना डाला उसने इस विकाररूप। जब यह पता पड़ जाता कि यह पार्ट अमुक लड़का खेल रहा है तो उस पार्ट करने वाले का प्रभाव नहीं रहता दर्शकों पर, ऐसे ही यहाँ यह जान लें कि परमार्थ तत्त्व यह है और यह भेष है ऐसा जाना, तो अब इस भेष का असर नहीं रहता, तो यह भेष छोड़कर निकल जाता, इस तरह यहाँ से यह बंध निकल जाता है।

इति बन्धाधिकार समाप्त

अथ मोक्षाधिकार:

कलश 180

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम् ।
इदानी-मुन्मज्जत्सहज-परमानन्द-सरसं
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥180॥

1475- प्रज्ञा क्रकच के द्वारा बन्ध और पुरुष का द्विधाकरण-

अब यह ज्ञान, परमपूर्ण ज्ञान जिसने कि समस्त कृत्यों को कर लिया है याने आत्महित के लिए, अपने आपकी शुद्धता के लिए जो भी करने योग्य काम था वह सब जिसके द्वारा किया जा चुका है ऐसा वह

परिपूर्ण ज्ञान अब विजय प्राप्त कर रहा है। कहाँ है विजय इसकी? आखिरी विजय है मुक्त होने में, सो क्या किया उपाय? पहले प्रज्ञारूपी करोति से विदारण करके बंध और पुरुष को दो कर दिया। यह बंध है, यह पुरुष है। अज्ञान अवस्था में बंध और आत्मस्वभाव; स्वभाव और विभाव ये सब एकमेक मान्यता में थे। अज्ञानी को इन विकारों से विविक्त आत्मा के सहज स्वरूप की सुध न थी, तो सबसे पहले मोक्षमार्ग का प्रारम्भ यहाँ से हुआ कि वह अपने में जाने कि ये विभाव, ये बंध और यह अंतस्तत्त्व इसमें स्वरूपभेद है, सबसे पहले प्रज्ञाकरोती से विदारण कर बंध और पुरुष को भिन्न-भिन्न किया और ऐसा करके इस पुरुष (आत्मा) को मोक्ष में पहुँचाया, मोक्ष को प्राप्त कराया इस ज्ञान ने, कैसा है वह मोक्ष? पुरुष याने आत्मतत्त्व की उपलब्धि द्वारा ही जो नियत है, मोक्ष के कारण सिवाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के अन्य नहीं है, लेकिन जब तक इनकी पूर्णता नहीं है तब तक जो और और विभाव उत्पन्न हुआ करते हैं उनका बचाव कैसे बने, साधक का पात्रताप्रयोजक गुजारा कैसे चले? सो वही स्थिति है बाह्य प्रवृत्ति की, उससे अपात्र नहीं बनता, पात्र रहता है। शुभोपयोग, व्यवहारचारित्र आदिक प्रवृत्तियों में जो व्रत, समिति, गुप्ति आदिक कहे हैं उन प्रवृत्तियों में रहने वाला जीव पात्र तो है, अपात्र नहीं बना, पर मुक्ति मिलती है तो अंतस्तत्त्व के रमण से मिलती है, सो ऐसे उपाय से पुरुष की ही एक अनुभूति द्वारा जो नियत है ऐसे मोक्ष को प्राप्त कराया जाता है।

1476- बन्ध के स्वरूप के ज्ञानमात्र की मोक्षहेतुता का अभाव-

मोक्ष के कारण क्या हैं? इस बात पर भी इन शब्दों में संकेत मिलता हैं। सबसे पहली बात बतायी गई- आत्मा और बंध का दो टूक कर देना, यह है बंधच्छेदन। वहाँ दो टूक कहीं उपयोग से होता है कहीं साक्षात् याने अब कुछ सम्बन्ध नहीं रहा, अन्य कुछ हैही नहीं वहाँ, केवल एक आत्मस्वरूप है उसका नाम है मोक्ष। तो वह मोक्ष एक गप्प से न मिलेगा। बंध के स्वरूप के ज्ञानमात्र से भी न मिलेगा उसके लिए विभावों से उपेक्षा, स्वभाव की धुन, स्वभाव में रमण, यह अन्त: क्रिया बने, निरन्तर रहे तो उसे मोक्ष की प्राप्ति हो। बंधस्वरूप के ज्ञानमात्र से मुक्ति नहीं मिलती। कैसे जाना? कुछ उदाहरण है इस बात का? उसका ठीक उदाहरण तो क्या दिया जा सकता, वह तो वही है, पर यहाँ देख लो कि किसी कैदी को बेड़ी पहना दी, तो बेड़ी उस स्वरूप के ज्ञानमात्र से नहीं कटती, किन्तु बेड़ी को काटे, दो टूक करे तो कट जायगी। ऐसे ही बंध हुआ है तो मात्र उसका स्वरूप जान लिया कि यह है बंध। तो इतने मात्र से बेड़ी नहीं कटेगी, किन्तु प्रज्ञाकरोती से उसको ऐसा दो टूक करें, स्वभाव को जानें, स्वभाव, विभाव का अन्तर समझें और अन्तर जानकर विभाव से उपेक्षा, और स्वभाव में रमण बने यह बात जिसके सही बनेगी उसको मुक्ति प्राप्त होगी। तो केवल बंध की चर्चा कर ली इतने मात्र से सन्तोष न होना चाहिए। इससे सिद्धि नहीं है, हाँ, वह भी एक साधन है, जानें तो सही जिससे कि हमें अलग होना है। मगर स्वरूप चर्चा, बंध चर्चा करने मात्र से सिद्धि न बनेगी। कुछ भीतर आना होगा। स्वरूप की रुचि करना, स्वरूप में समाना, ऐसा, जो करेगा उसके लिए सारा

जगत, समस्त जीव एक समान रहते है। धर्म के प्रसंग में, स्वानुभव के पौरुष में, यह बहुत बड़ा भारी विघ्न है कि धर्म के नाम पर कुछ थोड़ा आग्रह बने, यह एक इतना बड़ा सत्य है कि इसके रहते हुए सम्यक्त्व नहीं, अनुभूति नहीं। एक बार जब तक यह दृष्टि में न आये कि सब जीव एक समान हैं, उनमें मेरे तेरे की बात नहीं, ऐसा जिसके उदात्तपना न आया उसके यह पात्रता नहीं होती कि वह स्वानुभूति बना सके। केवल स्वरूपज्ञानमात्र से सन्तुष्ट नहीं होना है, किन्तु प्रज्ञाकरोती से विभावों का विदारण करना, आत्मा और बंध को पृथक् बनाना है।

1477- स्वभावाश्रय बिना मात्र बन्धचिन्ताप्रबन्ध की मोक्षहेतुता का अभाव-

कितने ही लोग तो इससे थोड़ा और आगे बढने को कहते कि बंध के स्वरूप का ज्ञान करें और बंध कैसे मिटें इसकी चिन्ता बनावें तो मोक्ष हो जायगा, उसका चिन्तन बनावें। तो कहते हैं कि यह भी बात नहीं, अरे !जान भी लिया कि यह बेड़ी है, यह बंध है और उसकी भावना भर रहे कि यह बेड़ी कट जाय, कट जाय; कैसे कटे। इतना सोचने मात्र से बेड़ी दूर नहीं होती, किन्तु उसके दो टूक करें तब ही दूर होती है। ऐसे ही अन्त: जो अपनी समाधि का पौरुष करे उसके ही यह बंध-बेड़ी टल सकेगी, केवल एक ऊपरी चित्त को आराम मिले, बड़ी चर्चायें करके, इतने मात्र से प्रगति नहीं होती। प्रज्ञा-क्रकच चलाकर बंध और पुरुष को दो टूक करना है। क्या होता है वहाँ? यह परिचय बनता है कि यह मैं निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र हूँ। स्वरूपत: देखो- स्वरूप की बात कही जा रही, जैसे गरम पानी को कोई कहे कि इसका स्वभाव ठंडा है तो वहाँ कोई लड़ भी सकता कि तुम बहुत झूठ बोलते, पानी तो गरम है और तुम स्वभाव ठंडा कहते हो तो हम तो तुम्हारे ऊपर यह तेज गरम पानी डाले देते हैं, तब तो शायद आप चिल्लाकर यही कहेंगे कि नहीं, नहीं, पानी का स्वभाव ठंडा नहीं, यह तो बड़ा गरम है। अरे ! भाई गरम पर्याय में तो है पर स्वभाव ठंडा है इसमें शंका नहीं। यह भैया ! स्वभाव का उदाहरणमात्र है छोटा-सा, वस्तुत: पानी का स्वभाव न ठंडा है न गरम। पानी का स्वभाव तो है द्रव्यत्व (बहना) उसमें जो-जो भी बात पायी जा रही है वह उसका स्वभाव है, मगर एक प्रसिद्धि है, ऐसा दृष्टान्त देने की तो जैसे गर्म होते हुए भी उसका स्वभाव ठंडा कहा जाता तब ही तो लोग पंखा करके या आग हटाकर उसे ठंडा करने का यत्न करते हैं। यदि वह विधि न होती, इसका स्वभाव न होता ठंडा तो ऐसा कौन यत्न करता? तो ऐसे ही आत्मा में इस समय विकार है, विकार होते हुए भी स्वभाव में विकार न बताया जायगा। स्वभाव है अविकार। विकार तो नैमित्तिक है, औपाधिक है, स्वभाव से उठा हुआ नहीं है। तो अविकार चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को जानो, यह है आत्मा का स्वभाव। और, बन्धों का स्वभाव क्या है कि ऐसा निरपराध सीधे सरल सारभूत इस जीव में विकार को करे यह है बंध का स्वभाव तो इन दोनों का स्वभाव जान कर बंध तो विराम ले, विरक्त हो, उपेक्षा करे। बंध से उपेक्षा हुई तो स्वभाव में रमण बनेगा।

1478- स्वभावरमण में सहजपरमानन्दसरसता-

बन्ध से उपेक्षा व स्वभाव में रमण हेतु जो अन्त: प्रयोग है, यह ही समस्त कर्मों से मोक्ष को करेगा, इससे मोक्ष का हेतु क्या मानना कि आत्मा और बंध का द्विधाकरण कर देना, यही सर्वप्रथम विशेषण में बताया कि प्रज्ञारूपी करोती से बंध और पुरुष इन दो को इस भव्यात्मा ने दो कर दिया, अलग कर दिया, ऐसा करके जब यह जीव निज स्वभाव में ही लगता है तो इसी को कहते हैं समाधि, इस समाधि-बल से सहज परम आनन्द उसके उछल रहा है, चिन्ता तो कुछ है नहीं, चिन्ता, दु:ख, क्लेश ये बाह्य पदार्थों के विषय में विचार विकल्प बनाकर हुआ करते हैं, जहाँ केवल सहज स्वभाव का आश्रय है, उस ही रूप अपने आपका अनुभव है, तो वहाँ सहज परम आनन्द उत्पन्न हुआ उससे यह सिद्ध पद प्राप्त हुआ, वहाँ उपयोग आत्मा में आया, उस ही में सिद्ध प्रभु अनन्त काल तक रम रहे हैं, वे सिद्ध प्रभु अब अपने उपयोग को आत्मा में टिकाने की प्रवृत्ति नहीं करते, किन्तु उनकी सहज वृत्ति ऐसी है केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द रूप। यहाँ तो यदि थोड़ा जाप देने बैठते हैं तो झट उपयोग इधर से उधर पहुँच जाता है, जरा सी गर्मी भी बरदास्त नहीं कर सकते, उपयोग बाहर ही बाहर डोलता फिरता, मगर उन सिद्ध प्रभु का उपयोग बाहर कहीं नहीं डोलता, आत्मा में कोई आग नहीं है जो वहाँ कुछ भय खाकर उपयोग बाहर में लगे, किन्तु विकल्पों की आग से झुलसा है यह उपयोग तो किसी तरह थोड़ा आत्मा की ओर लग जाता है मगर वहाँ इसका मन नहीं लगता। वहाँ बड़ी कठिनाई मालूम करता है और यह बाहर-बाहर डोलता है। उस राग संताप को यह पुरुष मिटा दे और अपने आपमें आनन्द का अनुभव जगे तो आनन्द मिल गया, फिर क्यों वह बाहर जायगा? अपने आपमें जब तक आनन्द नहीं मिला तब तक यह बाहर-बाहर डोलता है। अपने में आनन्द प्राप्त हो तो यह बाहर न डोले।

1479- निकटभव्यों को ही मोक्षलाभ के उमंग की संभावना-

भैया, एक बात और सोचना कि बोलो अनन्त काल तक तुम्हें मोक्ष जैसी बात चाहिए या संसार का जन्म-मरण करके रुलते रहने की बात चाहिए, दो बातें सामने हैं। तो जल्दी-जल्दी में तो हर एक कोई यह कहेगा कि हमें मोक्ष की बात चाहिए, पर जिम्मेदारी से भीतर सब कुछ निर्णय करके बात देखना कि क्या चाहिए? जब उस पर तुल जाते हैं कि हमें तो एक टूक होकर फैसला करना है कि संसार में जन्म-मरण करते रहने की प्रक्रिया बनाना है या सदा के लिए जन्म-मरण के संकटों से छूटकर मोक्ष पाने का, केवल में रमने का हमें प्रोग्राम बनाना है, जब निर्णय करने चलेंगे तो समझना तो पड़ेगा कि मोक्ष में क्या स्थिति रहती है, कैसे मोक्ष में पहुँचते, कैसे रहते? तो यह सब बात आगे दिखाई देगी कि बाह्य परिग्रह को त्यागें, अंतरङ्.ग परिग्रह को त्यागें, विकल्पों को छोड़े, अपने स्वरूप में रमें और अकेला रह जावे सदा के लिए, बस यह ही है मोक्ष की बात। बताओ ऐसा मंजूर है कि नहीं? मंजूर होगा ज्ञानी पुरुष को, जिसको अब संसार से कोई प्रयोजन नहीं रहा, अन्यथा मन्दिर में तो बहुत-बहुत विनती करते भगवान के सामने कि हे भगवान !मुझे मोक्ष चाहिए, मोक्ष दीजिए, मानो कोई एक पुरुष ऐसा था कि रोज-रोज विनती करे कि प्रभो मुझे मोक्ष दीजिए, एक दिन

मानो कोई देव आया और उसने कहा कि तुम एक महीने से प्रभु से रोज-रोज कह रहे हो कि मुझे मोक्ष दीजिए। आज मैं इसी लिए आया हूँ कि तुम्हें मोक्ष ले जाना है। तो वह पुरुष बोला- अच्छा, उस मोक्ष में, क्या क्या है? वह देव बोला- अरे ! वहाँ कुछ नहीं है, सब सूना है, केवल आत्मा ही आत्मा है। तो वह पुरुष बोला- क्या वहाँ चाय पीने को नहीं मिलती? स्त्री, पुत्रादिक नहीं मिलते? धन-दौलत वगैरह वहाँ ये कुछ नहीं मिलते क्या? अरे वहाँ ये कुछ नहीं मिलते। मात्र एक अकेला आत्मा रहता है। तो वह पुरुष बोला- अच्छा ठहरो, हम अभी नहीं जायेंगे मोक्ष, फिर कभी मोक्ष का प्रोग्राम बनायेंगे। तो मोक्ष के लिए जब प्रोग्राम बनाने चले कोई तो उसे कुछ पता पड़ता है, यों कहना तो आसान है।

1480- मोक्षमार्ग में कदम रखने पर भावयात्रा की असुविधाओं के प्रसंग का अनुभव-

ऐसे ही भैया ! जोमोक्षमार्ग में कुछ थोड़ा-बहुत चलता है, अपनी साधना करता है, ध्यान करता है और जब शरीर साथ लगा है तो कुछ बाह्य प्रवृत्तियाँ भी करनी होती हैं। वे प्रवृत्तियाँ हैं बाह्य तप त्याग की, तो उसके प्रति भी चित्त में बड़ी आलोचना प्राय: रहती है गैर जिम्मेदारों में, क्योंकि यदि खुद का ऐसा कोई प्रोग्राम नहीं व्रत का, नियम का, त्याग का, तो बाहर में सर्वत्र वे आलोचना करते हैं, दोष देखते हैं कि यह ऐसा, यह ऐसा।जब उस तरफ चले, थोड़ा बढ़े, थोड़ा कदम रखे तो वहाँ पता होता है। जब उसमें ध्यान रखते हैं तो किस तरह से क्या-क्या बाधाएँ आती हैं और किस तरह क्या होता है इसका पता पड़ता ह। एक दिन हम ऐसा सोच रहे थे गर्मी के दिन थे, कहीं जा रहे थे, तो रास्ते में एक दृश्य देखकर विचार आया कि लोग खूब मनमाना ठंडा जल पी रहे हैं, जब चाहे तब पीते, खाते, आराम से रहते हैं तो इनको तो कोई कष्ट नहीं, व्रती लोगों को तो इनसे अधिक कष्ट है क्योंकि उनके सब काम नियम से चलते हैं। बाहर से देखने में तो यही लगता कि संयमी लोगों को असंयमीजनों की अपेक्षा अधिक कष्ट है, पर फिर विचार बना कि ऐसा सोचना यों ठीक नहीं कि संयमीजन, व्रतीजन अपने जीवन में हर बात का नियमलेकर चलते हैं जिससे उन्हें बाहरी कष्ट कोई कष्ट नहीं महसूस होते। वे अन्त:प्रसन्न रहा करते हैं। ऐसे ही एक दिन शौचनिवृत्त्यर्थ घूमने जाते हुए में रास्ते में ऐसा विचार बना कि देखो बरसात में इस पृथ्वी पर न जाने कितनी जीवराशि मरण को प्राप्त होती है और उस जीवराशि का मृतक शरीर सड़-गलकर इस मिट्टी में मिल जाता है। तो यह मिट्टी तो अपवित्र कहलायी, फिर हम जो शौचादिक की क्रियाओं में मिट्टी से हाथ धोकर हाथों को शुद्ध करना विचारते यह तो योग्य नहीं, उसमें तो बहुत बड़ा दोष है....यों विचार चला, आखिर शौच भी गए, हाथ भी उसी मिट्टी से धोया, रोज-रोज धोते रहे, धोये बिना काम तो न चले। एक दिन अचानक ऐसा समाधान स्वत: ही मिल गया कि अरे !यह पृथ्वी तो ऐसी ही है कि जहाँ माँस बहुत दिनों तक पड़ा रहे तो वह परिवर्तित होकर उस मिट्टी रूप परिणत हो जाता है, वहाँ फिर माँस का दोष नहीं रहता। तो जब कोई किसी मार्ग में चले तो उसके अनुरूप बात चित्त में आया करती है। तो केवल गप्प से, बात से ही कोई सिद्धि नहीं है, उसमें प्रवेश करना, लगना आवश्यक है।

1481- स्वभावभावनामूलक कृतकृत्यपने के आशय का आनन्दानुभव में सहयोग-

भैया, स्वभावरमण के प्रयोग के अर्थ अभ्यास बनावें स्वभावभावना का। स्वभावभावना के अभ्यास में बाधायें आयेंगी। जो घर में रहते हैं उनको दसों बातें आती हैं, विकल्प चलते हैं, शल्य बनती हैं, बाधायें आती हैं और कुछ धुन होती है आत्मा कीओर। आत्मा की धुनवाला पुरुष घर में नहीं रह सकता। उसकी धुन में जब तक कमी है तब तक घर में हैं। अगर अंतस्तत्त्व की धुन बनी है तो विकल्प-जाल में रहना पसंद नहीं करता, विकल्प-जाल में वह रहेगा नहीं। तो अंतस्तत्त्व की धुन बनाने का अपना पौरुष करना चाहिए, जब ऐसे स्वभावभाव की भावना बढ़े तो उससे सारी बातें बनती हैं? जो सब करना योग्य है, कृतकृत्य किये कहते हैं? 'कृतं कृत्यं येन स: कृतकृत्य:' जिसने करने योग्य सब कुछ कर लिया, कुछ करने को नहीं रहा। आनन्द जगता है तब, जब कि कृतकृत्यता की बात चित्त में आती है और जब करने की बात चित्त में रहती है तो वहाँ आनन्द नहीं जगता। इस समय भी जितना जिसको आनन्द आता है जब-जब भी, वह कार्य करने को पड़ा है यह विकल्प न रहने का आनन्द है, कार्य करने का आनन्द नहीं, खूब बड़ी गम्भीरता से विचार कर लो, हर स्थिति में जब भी आनन्द मिलता है तो करने का आनन्द नहीं किन्तु करना अब नहीं रहा, इस भाव का आनन्द मिलता है। आपने कुछ काम किया मकान बनाने का, अभी जब तक नहीं बन पाया तब तक आप उसके प्रति कितने ही विकल्प करते हो और जब बन चुकता है तो कैसा आराम से बैठकर बड़े विश्राम की सांस लेते हो। तो बताओ वह आनन्द किस बात का आया? अरे ! वह आनन्द इस बात का है कि अब हमें मकान बनाने का काम नहीं रहा यह बात मन में घर कर गई, और जब तक उसके प्रति करने का विकल्प था तब तक चित्त में अशान्ति थी, बेचैनी थी। तो ऐसे ही समझो कि ज्ञानी जीव, निर्ग्रन्थ पुरुष जिनका निर्णय है कि जगत में मेरे करने योग्य कुछ भी नहीं, उनको आनन्द अपने आप पड़ा हुआ है, और उस लोक में काम करने के बाद थोड़ा उस आनन्द की झलक मिलती है। सो भैया ! आनन्द मिलता है तो मेरे करने को काम नहीं रहा इस भाव का आनन्द मिलता है।

1482- करणचिन्ता में विडम्बनाओं का आक्रमण-

मेरे को यह काम करने को है ऐसी चिन्ता के समय खुद सोच लो कि चैन है क्या? आनन्द है क्या? चाहे वह किसी तरह से करने की बात मिटे, किन्तु भावों में जब तक कृतकृत्यता की बात नहीं आती तब तक आनन्द नहीं जगता। एक धुनिया इसी बात से ही तो बीमार हो गया था। वह विलायत से पानी के जहाज से आ रहा था। उसमें कोई दो चार ही आदमी थे बाकी हजारों मन रूई लदी थी। उस रूई के इतने बड़े स्टाक कोदेखकर उसके चित्त में यह बात समा गई कि अरे ! यह सब रूई मुझे ही तो धुननी पड़ेगी, मैं इसे कब धुन पाऊँगा? एक उसके चित्त में ऐसी हाय समा गई, जिससे उसको सिरदर्द हो गया। अब उसके ठीक करने के लिए बहुत से डाक्टर, वैद्य, हकीम आये, पर उसे कोई ठीक कर सकने में समर्थ नहीं हुए। भला बताओ, उसके चित्त की बीमारी कोई कैसे ठीक कर सके। एक बार कोई बुद्धिमान पुरुष आया, उसने कहा हम इसे

ठीक कर देंगे।....ठीक है, करो ठीक। सबको वहाँ से हटा दिया और उस बीमार पुरुष से पूछा कहो भाई तुम कब से बीमार हुए?...अमुक दिन से।...कहाँ से आ रहे थे?...विलायत से।...किससे आ रहे थे?...पानी के जहाज से।...उसमें कितने लोग बैठे थे?...अरे ! आदमी तो कोई दो चार ही थे, पर उसमें हजारों मन रूई लदी थी। यों उसकी एक दर्दभरी आवाज सुनकर वह पुरुष बीमारी का कारण भली-भाँति समझ गया। सो बोला- अरे ! तुम उस जहाज से आये। वह तो आगे के बंदरगाह पर पहुँचते ही अग्नि लग जाने से रूई सहित जलकर भस्म हो गया।...अरे ! भस्म हो गया। लो चंगा हो गया। तो देखो- उसके बीमार होने में कारण था उसके करने का विकल्प। जहाँ करने का विकल्प हटा कि चंगा हो गया। जहाँ किसी प्रकार से करने का विकल्प नहीं, केवल अपने-अपने आत्मस्वभाव की धुन है उसको परम आनन्द की प्राप्ति होती है।

1483- भावदृष्टि की मुख्यता से आत्मस्वरूप का परिचय करके स्वभावभावना के बल से कृतकृत्यता पाकर ज्ञान को विजयी करने का संदेश-

भला बताओ, इस कर्तृत्वबुद्धि से अपने को कुछ लाभ है क्या? मेरा लाभ तो अपने आपके स्वभाव में रमने से है, अन्य बात से नहीं, और फिर अन्य बात मैं कर ही क्या सकता हूँ? मैं तो अपने भावमात्र पदार्थ हूँ। देखो, एक दृष्टि से मानो, जानकारी के उपाय 6 हैं- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, नाम और स्थापना। हरएक का परिचय इन 6 बातों से चला करता है। जीवद्रव्य का परिचय इस दृष्टि से बनायें तो सही कि किस दृष्टि से, किस द्रव्य का अधिक ज्ञानसम्बन्ध मिलता है। द्रव्य मायने पिण्ड ढेला, इससे तो पुद्गल अच्छी तरह जाने जाते हैं। आकाश का परिचय क्षेत्र की मुख्यता से है, काल की मुख्यता सेकाल जाना जाता है। अच्छा, और नाम स्थापना की मुख्यता से किसका अच्छा परिचय बनता? नाम क्यों धरते। नाम चलाने के लिये धरा जाता, नाम हो तो व्यवहार चले। तो नाम की याने गति की दृष्टि से जो हेतु बनता है उसका ज्ञान होता, धर्मद्रव्य का ज्ञान होता। और स्थापना याने धर दें, ठहरा दे उससे हुआ अधर्मद्रव्य का विशेष परिचय। अब रह गया भाव। तो इसकी नाप-तौल, गुण-पर्याय सारे गिन डालो, इससे आत्मा के सहज स्वभाव का अनुभव न बनेगा। अनुभव के लिए अखण्ड स्वभाव लक्ष्य में चाहिए, वही कहलाया भाव। तो भाव की मुख्यता से जीव का परिचय होता है। तो ऐसे सहज ज्ञानभाव की, स्वभाव की भावना बढ़ा-बढ़ाकर, इसमें रमकर जहाँ कृतकृत्यता प्रकट होती है, परिपूर्णता होती है ज्ञान की, वह परिपूर्ण ज्ञान मोक्ष को ले जाता हुआ विजयशील रहता है।

कलश 181

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणै: पातिता सावधानै:
सूक्ष्मेऽन्त:सन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ।

आत्मानं मग्नमन्त:स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभित: कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥181॥

1484- जीव की विडम्बना का विधान-

इस जीव को जो भी कष्ट हो रहा है उसका मूल कारण है कि इस जीव ने अपने सही स्वरूप में और औपाधिक-भाव विकार में अन्तर नहीं समझा और दोनों को संधि में एक मेलपने की मान्यता की। तो जहाँ विकार में मान्यता की कि यह मैं हूँ, तो विकार का जो हुक्म है, विकार की जो प्रकृति है उसका यह कर्ता बनेगा, भोक्ता बनेगा और कष्ट पायेगा। स्वरूपदृष्टि से देखो तो स्वयं में क्या कष्ट है? यह एक पदार्थ है और सब पदार्थों में सारभूत पदार्थ है जो अपनी व्यवस्था बनाये, अपना ज्ञान करे, सर्व का ज्ञान करें, ऐसा एक परमार्थभूत पदार्थ है। इसमें परम स्वच्छता है, सो इसमें यह स्वच्छपना गुण के लिए था मगर एक अन्य ढंग से देखें, जिसे कहते हैं व्याजस्तुति कथन। हे आत्मन् ! तुममें स्वच्छता है, यह ही तो अवगुण है, नहीं तो विकार काहे को आते? जिसमें स्वच्छता नहीं है उसमें कहीं विकार आते हैं? यह सीधा खड़ा है खम्भा, इसमें किसी प्रकार का विकार आता है क्या? तो हे आत्मन् ! यह ऐब है तुझमें कि तेरे में स्वच्छता है। अरे ! यह ऐब नहीं है, इसे कहते हैं व्याजस्तुति उपन्यसन (कथन)। अच्छा, एक तथ्य और समझो अन्दर में कि यह आत्मा एक है, है रहा आये सब पदार्थ रह रहे, यह भी रहा आये, जैसे सब बस रहे है वैसे ही आत्मा भी बस रहा है, उसमें कोई नुकसान नहीं पड़ रहा। वे सब अपने स्वरूप में बस रहे हैं। अब फर्क इतना है कि वे सब अकेले में द्वैत पैदा नहीं करते। कोई भी पदार्थ दुविधा पैदा नहीं कर रहा। पुद्गल द्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश, काल ये कोई भी दुविधा नहीं पैदा कर रहे। इस जीव ने एक दुविधा पैदा कर दी। क्या? इसने पहले ही यह द्वैत पैदा कर दिया- मैं हूँ और यह है। ऐसी बात अन्य कोई पदार्थ नहीं लाते चित्त में। उनके चित्त ही कहाँ? इस आत्मा ने यह द्वैत पैदा किया पहले कि यह मैं हूँ, यह ज्ञेय है। इसकी एक ज्ञानकला के कारण ये जो दो बातें पैदा हुई सो ये ही दो बातें मूल में एक बड़ी विडम्बना की जड़ बन गई। बनना तो नचाहिए था। यह तो ज्ञान का स्वरूप है कि जो प्रतिभास होता है कि यह मैं हूँ और यह ज्ञेय है, मगर कोई विरुद्ध सम्पर्क है ऐसा कि जिससे इसमें विडम्बना बनी। तो पहले ये दो बातें हुई कि मैं हूँ और यह ज्ञेय है। अच्छा फिर इस ही से स्वपर का एक अन्तर बन गया कि यह मैं हूँ, यह पर है, इसके पश्चात् उस पर में भी स्वपर का द्वैत बन गया। यह इष्ट है, यह अनिष्ट है, इष्ट-अनिष्ट का भाव होने से विविध क्रिया बन गई, इसको पकड़ना चाहिए, इसको हटाना चाहिए, ऐसे ही होते-होते यह सब विडम्बनाओं का जाल बन गया। तो जो चीज गुण थी वही चीज दोष बन गई, किसके लिए? अज्ञानी के लिए, मोही के लिए। प्रभु है, वहाँ भी तो ज्ञान और ज्ञेय है, यहाँ कौनसी आफत आ गई? जो-जो प्रवर्तन मूल में प्रभु कर रहे वही

तो हम कर रहे, संसारी जीव कर रहे मूल में, मायने जानना बन रहा, पर प्रभु निरुपाधि और यहाँ सोपाधि जीव, इसके कारण बस जहाँ जाना वहाँ स्वपर की बात आयी, पर आते ही उसमें इष्ट-अनिष्ट का द्वैत हुआ, फिर वहाँ क्रिया कारक बनने लगे, और यों फिर तो जरा झगड़ा उठना चाहिए मूल में, फिर तो वह बढ़ता ही जाता है।

1485- महाकलह का मूल हास्यास्पदसी घटना-

भैया, कितना भी बड़ा झगड़ा हो, किसी के दिखता हो बहुत बड़ा झगड़ा, मगर जानकारी कीजिए कि यह झगड़ा शुरू कहाँ से हुआ? मूल में क्या बात थी कि इतना बड़ा झगड़ा बन गया? तो आपको मूल में इतनी छोटी-सी बात मिलेगी जो एक हास्यास्पद जैसी होगी, कुछ मायने नहीं रखती; ऐसी छोटी बात मिलेगी झगड़े के मूल में। किन्हीं भाइयों का झगड़ा चल जाय, बड़ा झगड़ा हो जाय बँटवारे में, तो बड़ी चीज के बँटवारे में झगड़ा कभी नहीं होता। सामने दिख रहे कि चार मकान हैं, इतनी कीमत के हैं, एक ने कह दिया, एक ने छाँट लिया। बड़ी बात में कभी झगड़ा नहीं होता। घर, जेवर, धन, बर्तन वगैरह बँटने के बाद कोई एक-आध फुट जमीन के पीछे उनमें आपस में झगड़ा बन जाता है, और वह झगड़ा इतना बड़ा रूपक रख लेता है कि उसके पीछे फिर सारी जायदाद दोनों पक्षों की लुट जाती है। सुना है कि कलकत्ता में किसी जगह दो चित्र ऐसे बने हैं कि जिनमें यह दिखाया गया है कि दो भाइयों का कोर्ट में झगड़ा चला किसी जरा-सी बात के पीछे तो उस झगड़े का अन्तिम परिणाम यह हुआ कि एक भाई के हाथ में झोली रह गई और दूसरे हाथ में फैसले का कागज। बाकी दोनों की सारी जायदाद उस मुकदमें के पीछे बरबाद हो गई। तो देखो, झगड़ा तो था एक मामूली बात पर, कोई एक-आध फुट भूमि पर, पर हालत क्या से क्या हो गई?

1486- जीव की स्वापराधकृत संसृतिविडम्बना-

भैया, लगता है यहाँ भी बहुत बड़ा झगड़ा है, एकेन्द्रिय हुए, दो इन्द्रिय हुए, ऐसे- ऐसे विचित्र देह मिले तो इस सब झगड़े का मूल कारण क्या है? इस पर भी तो कुछ विचार करना चाहिए। कहाँ तो यह चैतन्यतत्त्व महाप्रभु भगवान आत्मा जिसका केवल प्रतिभास-स्वरूप, ज्ञाता-द्रष्टा रहे और कहाँ इतनी बड़ी विडम्बना, तो इतने बड़े झगड़े की जड़ क्या है? अरे ! जड़ क्या? कोई तेज कषाय करते ऐसा बंध होता है, ऐसी योनियाँ मिलती हैं। तो ऐसी तेज कषाय बनी क्यों? अरे ! इसने मान लिया किसी परपदार्थ को कि यह मेरा है, मकान मेरा है, फलाना मेरा है। तो ऐसा मान क्यों लिया इसने कि मकान मेरा है, अमुक चीज मेरी है? कहते हैं कि कैसे न मानें? भीतर में तो ऐसा ही एक अँधेरा-उजला मिला हुआ मिश्रण-सा तो चल रहा है मोह का अँधेरा, ज्ञान का प्रकाश, तो ऐसा हुआ क्यों? क्यों यह अन्दर में वृत्ति चल रही? अन्दर में वृत्ति यों चल रही कि कर्मविपाक का प्रतिफलन है, उससे मतलब क्या? अगर प्रतिफलन उपयोग- स्वरूप होने को हुआ इतना ही हो जाने देते, गम खाते तब तो ठीक था, पर यह जीव उसमें झुक गया, इतनी जरा-सी गलती कर गया। अब कहने को तो जरा-सी गलती पर उसकी इतनी बड़ी विडम्बना बन गई कि संसार में

यह विचित्र योनियों में उत्पन्न होता है। तो क्या इतने छोटे से अपराध का इतना बड़ा दण्ड मिलना चाहिए?...क्यों न मिलना चाहिए? कोई अगर अदालत में न्यायाधीश के प्रति कुछ बात कर दे तो कहते हैं ना कि अदालत का अपमान किया, उसका तो बड़ा केस होता है, फिर यह जो अपनी अदालत है भगवान आत्मा उसका बड़ा केस क्या हुआ? अपने स्वरूप को ढक दिया, उसकी सुध न ली और उससे मुख मोड़ लिया, तो यह कम अपमान है क्या? इस उपयोग ने इस भगवान आत्मा से पीठ फेर लिया, और भगवान आत्मा का जो दुश्मन है, विभाव है उससे जाकर संधि कर ली, इसे क्या छोटा अपराध कहेंगे? इसलिए ये सारी विडम्बनाएँ हैं।

1487- संसृतिविडम्बना से निकलने के उपाय की चर्चा-

अच्छा जान तो लिया कि ये सब विडम्बनायें बन गई। जैसे जब बहुत बुरे फँस जाते हैं तो कहते हैं कि भाई ! बहुत बुरे फँसे, पर यह उपाय तो बताओ कि कैसे निपटें इस झगड़े से? तो अब वहाँ उस निपटारे के उपाय की चर्चा चलेगी कि झगड़े में फँस तो गए, मगर निपटारा कैसे बने? अब कोई उपाय निकालें जिससे कि इन सब संकटों से छुटकारा बन सकें। सो बस उपाय यह ही है, कि कर्मविपाकरस में जो उसके प्रतिफलनरूप से उपयोग में आया उस कर्मविपाकरस में और अपने आपके स्वरूप में एकदम भेद ज्ञात कर लें, पृथक् कर लें कि यह यह है, मैं यह हूँ; केवल दो टूक ज्ञान करें कि भीतर फिर उसके प्रति प्रीति रंच भी न रहे। कोई दो मित्र हों, दो मित्रों में खूब दोस्ती है, कैसी दोस्ती कि कहते 'दाँतों काटी रोटी', बहुत परम मित्रता है और किसी बात में जब उनमें अनबन बनती है तो वे एक दूसरे का मुख नहीं देखना चाहते, इतनी तेज अनबन बन जाती कि एक दूसरे को देखना भी नहीं पसंद करते। और दिख जाय तो आँखें मींच लें, ऐसा भी कुछ हो सकता है, तो कितनी ही तेज दोस्ती हुई हो, अगर उस दोस्ती में कपट चल रहा है पहले से और उस कपट का भेद खुल जाय तो फिर बस एकदम से अलग हो जाते हैं, फिर चित्त में ही नहीं रहता कि यह कुछ था। तो ऐसे ही स्वभाव और विभाव की 'दाँतों कटी रोटी' जैसी दोस्ती थी और यह अनादिकाल से चली आयी। जिस काल में इस ज्ञानी ने, इस आत्मा ने विभाव का कपट जाना, पोल जानी, असारता जानी, उसी बात में बन रही माया तो जहाँ इतना छल समझा, असारता समझी बस तब से यह आत्मा उससे ऐसा हटा कि अब उसका नाम भी नहीं चाहता, उसकी वासना भी नहीं रखता, उसके प्रति कोई प्रीति की भी गुंजाइश नहीं है। अच्छा, ऐसा करने से फायदा क्या मिलेगा? फायदा यह मिलेगा कि अपने ही स्वभाव में अपने उपयोग का समाना हो जायगा। इससे तत्काल तो अशान्ति दूर होती और कुछ ही काल में वे सब बातें जैसी होनी हैं विधि-विधान से विकार के दूर होने की, और और बातें, ये सब भी दूर होंगी और कर्म की निर्जरा होगी।

1488- भगवती प्रज्ञा के प्रसाद से विजय का लाभ-

भैया, आत्महित का उपाय यह है कि पहले आत्मा और बंध को दो कर दें, अलग-अलग कर दें, समझ लें। अच्छा, तो कैसे करें? उपाय बताओ। उपाय क्या करना? बताओ, अच्छा स्वभाव और विभाव इन दोनों में जो एक सम्बंध बनाया था सो किसके द्वारा बनाया था? ज्ञान के द्वारा, दूषित ज्ञान के द्वारा। तो अब वहाँ अलग क्या किसी और बात से हो सकेगा? नहीं; वह भी ज्ञान के द्वारा अलग होगा। तो यही आत्मा द्वैधीकरण का कर्ता है और यह ही आत्मा साधन है, ज्ञान द्वारा ही वहाँ द्वैधीकरण करना है, बस इसी प्रज्ञा को बोलते हैं भगवती प्रज्ञा। भगवान आत्मा की जो परिणति है उसे बोलते हैं भगवती। भगवान और भगवती। और लोग तो पास-पास बैठाल देते फोटो में कि ये तो हैं भगवान और यह हैं उनकी भगवती। अच्छा फिर लोगों को यह पसंद न आया कि भगवान और भगवती इतनी दूर बैठें सो एक ही फोटो में आधा अंग पुरुष का और आधा अंग स्त्री का बना दिया, तो ये हो गए भगवान और भगवती। जैन शासन को यह अन्तर न पसंद आया सो कह दिया कि सर्वांग में भगवती आनी चाहिए, आगे अंग में भगवती के विराजने से क्या लाभ? तो भगवती है प्रज्ञा भगवती, यह ज्ञानलक्ष्मी, यह तो आत्मा के सर्व प्रदेशों में है। कोई स्त्री पुरुष नहीं हैं वे। 'भगवत: इयं इति भगवती' जो भगवान की परिणति है सो भगवती। लोग कहते हैं कि भगवती फतेह करे। तो उनकी यह बात सच है। भगवती ही फतेह कर सकती है, किसी दूसरे में ऐसी ताकत नहीं, याने आत्मा की जो स्वानुभूति है प्रज्ञा, बस यह ही विजय कर सकती है और किसी प्रकार से अपनी विजय नहीं बनती। तो इस प्रज्ञा के द्वारा इसको छिन्न कर दिया। बंध और यह आत्मा, ये दो हो गए।

1489- प्रज्ञा-छेनी का स्वलक्षण सूक्ष्मान्त: सन्धि पर निपातन-

बंध और आत्मा का द्वैधीकरण कैसे कर दिया गया? इस ज्ञान ने जाना सबका लक्षण। बंध का यह लच्छन है और आत्मा का यह लक्षण है। लच्छन शब्द कहते हैं कोई बुरी बात हो तो। यह है तुम्हारा लच्छन, वहाँ लक्षण शब्द पूरा सही नहीं बोलते। तो बंध के ये हैं लच्छन। खुद मरे, दूसरे को मारे, बरबाद हो, बरबाद करे। अच्छा और आत्मस्वभाव का लक्षण क्या है? यह ध्रुव चैतन्यभाव जो गम्भीर है, उदार है। जहाँ दोनों के स्वलक्षण को जाना और देखा कि यह सन्धि कहाँ से बनी, वह सन्धि क्या है? यह ही सन्धि, यह प्रतिफलन, और यह उपयोग, इनका भावात्मक सम्पर्क, बस इस सन्धि पर इस भव्यात्मा ने ऐसा लक्षण-भेद प्रज्ञामयी पैनी छेनी का निपात किया कि ये दोनों जुदे हो गए ज्ञान में। समझ लिया गया कि आत्मा का लक्षण तो वह है जो सर्वदा आत्मा में ही पाया जाय, और जिसको व्यापकर यह आत्मा निरन्तर रहा करे। यह ज्ञानस्वरूप ज्ञान में ज्ञानपने को लिये हुये निरन्तर रहता है। अगर अलग कर दिया जाय ज्ञान को तो आत्मा का अस्तित्व नहीं। और विकार को अलग कर दिया जाय तो आत्मा का अस्तित्व नहीं है क्या? है ही। अज्ञानी विकार बिना अपना अस्तित्व नहीं मानता अगर विकार को अलग कर दिया तो मेरा अस्तित्व नहीं रहने का, अज्ञानी के तो यह बुद्धि रहती है। क्रोध कर रहा है अज्ञानी और किसी के समझाने से क्रोध जरा ठंडा-सा बने तो भीतर में यह कोशिश करता कि हमारा क्रोध ठंडा न होने पाये बल्कि और तेज होना चाहिए, नहीं तो हम

बदला ही नहीं ले सकते। आत्मा का स्वरूप है ज्ञान, प्रतिभास और बंध का स्वरूप है बंधन, विकार परभाव, औपाधिक। तो इस प्रकार भेद करके इस जीव ने जाना कि ये रागादिक तो आत्मा में निमित्तसान्निध्य में ही होते, ये आत्मा में साधारण नहीं हैं मायने त्रिकाल ये पाये नहीं जाते, किन्तु ज्ञान एक त्रिकालस्वरूप है, परम सहज आनन्दस्वभाव को लिये हुये है।

1490- चेतकचैतन्यमात्र संबंध से बढ़कर साम्यसीमा का उल्लंघन करने वाले बंधभाव को आत्मा से पृथक् कर आत्मत्व का चैतन्यधाम में स्थापन व बंध का अज्ञानभाव में स्थापन-

रागादिक जो मुझमें आये हैं, झलके हैं, सो यह मैं चेतक हूँ, विकार चैत्य बन गया, बस इतना ही नाता था, सम्बंध था, तो यह ही क्या, और पदार्थ भी ज्ञान में आते। तो भीतर में विकार अबुद्धिपूर्वक कैसे चैत्य बने, इतना ही तो उनमें प्रत्यासत्ति निकट सम्बंध है, उनमें अन्य कोई सम्बंध नहीं, वे एक द्रव्य नहीं, दोनों मिलकर एक नहीं। जैसे दर्पण के आगे कोई वस्तु रखी है हरी, पीली, दर्पण में प्रतिबिम्ब हो गया, तो बस यह स्वच्छ है। दर्पण झलकाने वाला है, वस्तु झलक में आने योग्य है, इतना ही तो सम्बंध है, पर एकपना नहीं, एक द्रव्यपना नहीं, तो ऐसे ही रागादिक में और मुझमें बस वह चेतक-चैत्य की बात तो आयी थी, मगर यह उससे बढ़ गया, समता सीमा का उल्लंघन कर गया। साम्यभाव की सीमा तक निरखता तो जीव सही रहता। मगर उससे आगे बढ़ गए तो यह बंध है, किन्तु यह मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ ऐसा जानने वाले कुशल पुरुषों ने बड़े वेग से भीतर में विभाव-स्वभाव की संधि में जैसे ही इस प्रज्ञा-छेनी को पटका कि यहाँ दो टूक हुआ, अच्छा दो टूक हो गया। जैसे काठ को कुल्हाड़ी से काटा, दो टूक हो गए तो एक टूक इधर गिरा एक उस तरफ, कहीं तो गिरा, कहीं तो पहुँचा। तो जब आत्मा के और बंध के दो टूक हो गए तो यह आत्मा कहाँ जावे और यह बंध कहाँ जावे? आत्मा तो इस निर्मल चैतन्यपूर में मग्न हुआ और यह बंध अज्ञानभाव में डुबोया गया या इस विकार को, बंध को वहीं पहुँचा दो जिसके बल पर ही यह उद्दंड हो रहा था, जिसके अभाव में यह नहीं होता, अच्छा जोत दो कर्म के पास। यह स्वभाव यह निर्मल ज्ञान प्रतिभास-स्वरूप है। यह आत्मा का सहज निरपेक्ष परमपारिणामिक भाव है इसे चैतन्यपूर में समा दो। बस टुकड़े भी कर दिये और उन्हें ठिकाने भी रख दिया। टुकड़ा होकर ये कहीं अनिश्चित-से न रहें इससे उन्हें ठिकाने भी पहुँचा दिया, बंध तो अज्ञानभाव में चिपका दिया गया और यह अन्त:स्वभाव, इस चैतन्यपूर में मग्न हुआ। अब अपना स्वरूप एक चैतन्य अंतस्तत्त्व है, बस उसका ही आश्रय है वही उपयोग में है और यही एक उपाय है जिससे कर्म छूटते हैं, मार्ग बढ़ता है, हम प्रगति की ओर जाते हैं।

1491- आत्महित का एकमात्र मौलिक अमोघ उपाय-

भैया, आत्महित का एक यही उपाय है, क्योंकि अपने जो सहज निरपेक्ष सत्त्व के ही कारण अपने आप जो भाव है पारिणामिकभाव, चैतन्यस्वरूप, बस उसमें अनुभवन बने, मैं यह हूँ। यह एक ऐसा अमोघ उपाय है कि जिसके फल में याने कैवल्य की ओर बढ़ना, इसमें अंतराय न आ सकेगा। और, एक मूलस्वरूप धाम

का ही पता न हो और यह उपयोग बाहर-बाहर बहुत सी बातें बनायें कि यह करना, वह करना, धर्म फैलाना, बाहर ही बाहर यह उपयोग डोले तो उसने तो धर्म की जड़ ही नहीं पायी, वह मुक्ति में कदम क्या रखे? इसे यों कहो कि देखने में जो बड़े-बड़े परिश्रम लग रहे, अभी पूजा करना, नहाना, जाड़े में नहायें, जाप कर रहे, सामायिक कर रहे, स्वाध्याय कर रहे, सत्संग कर रहे, सेवायें कर रहे, बहुत बहुत कार्य किया। देखो, इसके साथ एक छोटी-सी बात और ले लो, छोटी यों कह रहे हैं कि उनमें चाहे कष्ट मालूम हो पर जो बात बताते हैं इसमें कष्ट की कुछ बात ही नहीं है, क्या बात? जरा भीतर निहारकर अपने ज्ञान में, अपने में, अपने को ऐसा निरख लें कि यह मैं एक चैतन्यप्रकाशमात्र हूँ, इतना जरा अमृतपान और कर लें, फिर तो कहीं कोई उलझन नहीं, जो भी करेगा उसी से ही गुण बनेगा। और, एक इस अंतस्तत्त्व को न पाया तो कर्मबंध मिटे, निर्जरा हो ऐसी उसने कुञ्जी नहीं प्राप्त कर पायी। तो भीतर में इस स्वभाव-विभाव की संधि को मेटिये, और अपने में यह अनुभवें कि मैं चैतन्य प्रकाशमात्र हूँ, इसका अभ्यास बने, भावना बने, बार-बार यही ज्ञान में रहे, उपयोग में इसी को ही रगड़ें। इसी के बीच कोई क्षण आयेंगे कि सारे विकल्प दूर भागेंगे और यह उपयोग उस सहज ज्ञानस्वभाव में उतरेगा कुछ क्षण को, मानो जैसे कि वह छुवा ही है, उस समय उसको सहज आनन्द की अनुभूति होगी, उसके बाद उसको स्मरण रहेगा यही कि यह अंतस्तत्त्व इस तरह अपने आपके स्वरूप में है।

कलश 182

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥182॥

1492- आत्मा और बंध का भेदन और उस भेदन का प्रयोजन-

इस आत्मा में जो कुछ भी भिन्नता की जा सकती है उसको अपने-अपने स्वलक्षण से भिन्न कर देना चाहिए। क्या-क्या भिन्नता की जा सकती है? जो-जो आगंतुक हैं, औपाधिक हैं, स्वभाव से ही नहीं हुये हैं, जिनकी निष्पत्ति में पर निमित्त हैं, जो पर उपाधि के अभाव में हो ही नहीं सकते हैं वे-वे सब भाव भिन्न किए जा सकते हैं। उनको भिन्न किया किसके द्वारा? प्रज्ञा के द्वारा। प्रज्ञा से उसने अपने-अपने लक्षणों को समझा।

आत्मा का लक्षण, जिस-जिसमें व्यापकर आत्मा रहे और जिस- जिसको लेकर आत्मा हटे वह सब आत्मा। और, यह बंध क्या है? जो आत्मा में साधारण रूप से न रहे, अर्थात् किसी विशिष्ट सान्निध्य में, परिस्थिति में ही जो रह सकता है वह सब बंध है। और, इस तरह उन लक्षणों की पहिचान करके भेदन किया, भेदन करके क्या करना चाहिए? सो खुद समझ लो। यदि चावल शोधना है, एक थाली में चावल का शोधन किया जा रहा है तो यह समझा गया कि यह तो है चावल और यह है अचावल, चावल से भिन्न पदार्थ। यह जान लिया ना ज्ञान से, अब उसके बाद क्या-क्या जाना? क्यों जाना? ऐसे उस जानने का फल क्या? कि जो अचावल है कूड़ा है और कुछ धान का छिलका, उस सबको अलग कर दिया जाय और जो चावल है उसको ग्रहण कर लिया जाय। क्यों ग्रहण करते हैं क्योंकि वे चावल खाये जायेंगे, सुख-शान्ति मिलेगी, इसलिए ग्रहण करते है। तो ऐसे ही इस आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व का भेद पहिचानें अपने-अपने लक्षण से। अब भेद करके क्या करना? अनात्मतत्त्व की तो उपेक्षा करें, बाहर फैंके और आत्मतत्त्व को ग्रहण करें। किसलिए ग्रहण करें कि उस ग्रहण में शान्ति मिलेगी, कल्याण होगा, शान्ति, शुद्धि की शाश्वता रहेगी, इस कारण से उस आत्मतत्त्व को ग्रहण करें, यही है आत्मा और बंध का भेद करने का फल। याने बंध को छोड़े रागादिक विकारों को छोड़े और अविकार चित्स्वरूप ही जिसका लक्षण है ऐसे शुद्ध आत्मा को ग्रहण करें। बंध के और आत्मा के दो टूक कर देने का प्रयोजन इतना ही है कि शुद्ध आत्मा का उपादान करना, मायने अपने आप आत्मा का जो सहज स्वरूप है उस रूप में आत्मा को ग्रहण करना।

1493- शुद्ध तत्त्व के आश्रय का बल-

शुद्ध का अर्थ यद्यपि यह प्रसिद्ध है कि जो निर्मल है, जिसकी पर्याय विशुद्ध है उसे कहते हैं शुद्ध। किन्तु यहाँ शुद्ध का अर्थ यह नहीं, निर्मल पर्याय नहीं किन्तु वह स्वयं वस्तु अपने आप जो पर से भिन्न है और अपने आपके स्वभाव से तन्मय है, ऐसा पर से असम्पृक्त, अविकार, निजवस्तु को देखना- इसका नाम है शुद्ध को ग्रहण करना, याने जोड़ और तोड़ से रहित वस्तु को निरखना सो शुद्ध का ग्रहण करना है। जोड़ तो यह किया था अब तक इस जीव ने कि इन रागादिक विभावों को आप मान लिया, ऐसा जोड़ किया। जोड़ में बात बढ़ती है, घटती नहीं, मगर यहाँ जोड़ में बात घटी, प्रगति नहीं हुई, अथवा इस जोड़ से बात बढ़ती ही गई, बिगड़ती ही गई। 84 लाख योनियों में कैसे-कैसे भ्रमण किया, जन्म लिया, विविधतायें बढ़ीं तो वहाँ बढ़ती ही गई, बिगड़ती ही गई बात। एक भजन है- ''बात थी कितनी-सी जड़ में, हो गया कितना बतंगड़, बात भी कितनी- सी करनी, दूर होगा सब भदंगड़।'' तो बात मूल में कितनी थी? यहाँ यह उपयोग न मुड़ा। अधिक गलती नहीं हुई, जड़ में (मूल में) बात इतनी-सी थी कि यह अपना उपयोग स्वयं के अभिमुख नहीं मुड़ा और बाह्य की ओर, विपाक की ओर मुड़ गया, सो उस मुड़ने में भी कोई क्षेत्रभेद नहीं हुआ। जैसे कि कोई आदमी बैठे ही बैठे मुख को आगे किए हो और पीछे करना हो तो थोड़ा फर्क पड़ जाता है क्षेत्र का। क्षेत्र का फर्क भी नहीं पड़ा और ऐसी कला से मुड़ा यह उपयोग कि बात कुछ समझ में नहीं आयी, कहाँ

मुड़ा, कहाँ गया और अपनी ओर से मुड़ गया, तब विपाक में उस कर्मरस में, उस प्रतिफलन में यह अबुद्धिपूर्वक जुट गया, ऐसा ही जुटान हो जाता अशुद्ध का, बस बात थी कितनी-सी जड़ में, हो गया कितना बतंगड़। कैसा शरीर, कैसी इन्द्रिय, कैसा योग, क्या-क्या विकास, ये विभिन्नतायें बन गई। और, बात भी कितनी-सी करनी? बस तो मुड़ गया ना, उसको अब मोड़दो अपनी ओर, स्वतत्त्व के अभिमुख कर लो उस उपयोग को। यही प्रयोजन यहाँ बताया जा रहा है कि उस बन्ध को भिन्न जानकर क्या करना? अपनी ओरमुड़ना, बस बात भी करनी है इतनी, दूर होगा सब भदंगड़। उपयोग के स्वाभिमुख होते ही जो-जो कुछ नटखट हुये थे वे सब दूर होते जायेंगे। तो आत्मा और बंध में भेद समझने का प्रयोजन क्या? परतत्त्व से हटकर स्वतत्त्व को ग्रहण करना है।

1494- शुद्धतत्त्वाश्रयी की सुभवितव्यता-

भाग्यवान तो उस पुरुष को समझिये भैया, सुभवितव्य वाला तो वह पुरुष है जिसके चित्त में यह बात बैठ गई कि इस जीवन में करने के लिए काम बस स्वसहज स्वरूप को जानना और जानते रहना ही है, बाकी सब बेकार। किसी तरह समस्त अनात्मतत्त्वों से हटकर इस स्वभावमय आत्मतत्त्व में लगना, इसके अतिरिक्त और कुछ न चाहिये, सब बिदा हों। यह तो बने ध्यान, और ऐसा ध्यान बने कि जिसके कारण यह निष्पक्ष बने, आग्रह हीन रहे। परसंग में, परतत्त्व में, परघटना में आग्रह हीन रहे। जहाँ जो कुछ करने में आये सो आये, मेरे को तो यह करने को है, और दूसरी बात, ऐसे दो चार प्राय: सभी गाँवों में मिलते हैं मगर वे कभी मिले-जूले नहीं रहते, फैलफुट रहते। तो जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हों, अपने आपके स्वभाव में, लक्ष्य में आये हों, ऐसे पुरुषों का सत्संग करें। अपना लक्ष्य सही बनाना और सत्संग करना ये दो बातें जिसमें पायी जाती हैं उसका जीवन सफल है। यहाँ बतलाया जा रहा है कि प्रज्ञा के द्वारा इस जीव ने अनात्मतत्त्व और आत्मतत्त्व में भेद किया। उस भेद करने का फल यह है कि शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना।

1495- शुद्ध अन्तस्तत्त्व के आश्रय से ही संकटों से मुक्ति-

देखो, एक बात इस प्रसंग में यह समझो कि जो पर्यायत: शुद्ध आत्मा हैं, उनके बहिरंग आश्रय से तो भक्त में शुद्धता होगी नहीं। यह बात सुनने में कुछ अटपटी-सी लगती होगी। शुद्ध आत्मा है अरहंत और सिद्ध, वे हमारा कल्याण करने यहाँ न आयेंगे। हाँ, जब हम उनके स्वरूप का विचार करते हैं तो चूँकि उनका स्वरूप स्वभाव के समान है व्यक्त, सो यह तारीफ है कि उनके स्वरूप का विचार करने में अपना स्वभाव विचार में आ गया, और यही इस प्रकरण में तारीफ है कि वहाँ अपना कल्याण बनता है, मगर परतत्त्व को समझते हुए बाहर में उसका आश्रय करके तो बात न बनेगी। अच्छा और यह खुद शुद्ध है नहीं, कषाय है, विपाक लिए है, संसार में है, खुद यह निर्मल है नहीं तो अब यह बतलाओ कि कौनसा ऐसा सहारा है कि जिससे यह आत्मा शुद्ध परिणति में आये? बस वह सहारा है यह शुद्ध अंतस्तत्त्व। जैसे कोई बलवान और जवान बड़ी भीड़भाड़ को चीरकर अपने ठिकाने पहले पहुँच जाता है जहाँ सभा का मुख्य स्थान है या खेल

की मुख्य जगह है, ऐसे ही यह बलवान वेगवान, यह ज्ञान इस पर्याय की भीड़ को चीरकर अपने सही मंच पर पहुँच जाता है, वह उपयोग भूमि, वह है आत्मा का शुद्ध सहज अंतस्तत्त्व; उसको ग्रहण करता है।

1496- प्रज्ञा से आत्मा का चैतन्यस्वरूप में ग्रहण-

आत्मा को कैसे ग्रहण किया जाना चाहिए? बस काम एक ही है- प्रज्ञा से भेद किया, प्रज्ञा से ही ग्रहण करें, क्योंकि यह आत्मा अपने आपमें पर से विभक्त और निज में तन्मय स्वयं ही तो है। और, वह प्रज्ञा स्वयं ही तो है, सो प्रज्ञा के द्वारा स्वयं अपने आत्मा को जैसा विभक्त किया वैसा ही ग्रहण करना। कैसे ग्रहण करना? आत्मा को ग्रहण करने के लिए क्या हाथ चाहिए? ज्ञान से ज्ञान को ज्ञान में पाना, समझना, यह ही उसका ग्रहण करना है। जो पहले से ही है उसका ग्रहण करना क्या है? सुध आ गई ग्रहण हो गया, जैसे मुट्ठी में कोई मुदरी बँधी है और भूल गये, तो उसका ग्रहण करना क्या? जहाँ खबर आ गई कि यह है, बस यह ही ग्रहण करना है, तो प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करना। पहले भेद किया था, भेदकर उनमें से विभक्त यह चैतन्यमात्र तो मैं हूँ और ये सब जो कुछ बचे हुए भाव हैं वे मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। बचे हुए के मायने जो हमें मंजूर है, जो हमें स्वीकृत हैं, जो मेरे हैं उनको ग्रहण किया तब बाकी के वे सब भाव बचे हुए ही तो कहलाये। कई मिली हुई बातें है उनमें से छाँट कर ली तो अब बाकी बातें बची हुई हैं। इस बची हुई को कोई ले जाय, हमें न चाहिए। तो ऐसा जो यह अविशिष्ट भाव है, अनात्मभाव, औपाधिकभाव यह सब तो इस चेतन में व्यापने वाला नहीं, उपयोग स्वरूप वाला नहीं, इसका यहाँ स्थान नहीं; यह तो बाहर लौट रहा, औपाधिक है, यह मेरे से अत्यन्त भिन्न है। देखो, भेद की बात तब होती है, मूड होता है तब तैसी बात आया करती है। जब अशुद्ध निश्चय नय से विचारा तब तो यह लगा कि ये राग जीव के हैं, जीव की परिणति हैं, इनका कर्ता जीव है, जीव में यह सब दिखा और जब व्यवहार से विचारा जिसे कहते हैं विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चयनय याने स्वभाव की रक्षा करना और विभावों को अलग करना, ऐसे मूड़ में जब देखा तो यह जाना ना कि यह नैमित्तिक भाव है, उपाधि के अभाव में नहीं हो पाता इसलिए यह सब आत्मा के बल पर जिन्दा कहाँ है? जिसके होने पर ही हो, जिसके न होने पर न हो, यह तो उसका सेवक बना, मेरे आधार से इसका कुछ नहीं, अत: उनको कहा कि ये मुझसे अत्यन्त भिन्न है।

1497- अशुद्धनिश्चयनय से परमशुद्धनिश्चय में आकर शुद्धनय के लाभ की संभावना-

कल्याणमार्ग में साक्षात् कृपा शुद्धनय की होती है। निश्चयनय और व्यवहारनय, ये दोनों वस्तु की परीक्षा के लिए हैं, जानने के लिए हैं। निश्चयनय एक ही दृष्टि कराकर एक द्रव्य में, पदार्थ में ही दृष्टि रखकर निर्णय करता है तो व्यवहारनय अगल-बगल की घटना, सम्पर्क, निमित्तनैमित्तिक इन सब बातों का पूर्ण चिन्तन करता हुआ निर्णय बनाता है, इसका फायदा किससे मिला? इसका फायदा देखो अशुद्धनिश्चयनय से मिला, वह जरा देर में मिला, क्योंकि जीव का यह राग है, जीव की यह परिणति है, जीव के परिणमन से हुआ, और कुछ नहीं देखा जा रहा ना। अभी तो जरा तकलीफ है, जीव ने राग से सम्बंध जोड़ा, राग इस जीव

की परिणति से हुआ। अच्छा जोड़ा तो सही, अभी तो कोई बढ़िया बात नहीं आयी इस निश्चय में, मगर एक तपश्चरण इसमें जरूर हो रहा कि उस एक को एक में ही निहार रहे और मन को ऐसा नियंत्रित कर रहे, ऐसा नियंत्रण कि उस निमित्त को तो भूल ही गया, आश्रय को तो भूल ही चुका, उसका तो यह ख्याल कर ही नहीं रहा, तो जब बाह्य पदार्थ का यह ख्याल नहीं करता है और ऐसी उस वीतरागता से उस एक में एक को ही निरख रहा तो एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि जो सोच रहे है वह भी सोचना बंद हो जायगा। जैसे कभी-कभी अच्छी तरह से सुन रहे हैं, एक मन से सुन रहे है और कभी-कभी एक अच्छी मीठी नींद भी आ जाती और सुनते-सुनते जो-जो सोच रहे थे वह भी छूट जाता है या हाथ में माला लिए हों तो वह भी गिर जाती है। यों सोच तो रहे थे यह कि इस जीव में हुआ, जीव की परिणति से हुआ, पर इस एकाग्रता के कारण याने जहाँ अन्य वस्तु का सम्बंध नहीं बनाया ऐसी दृष्टि में जब राग के जिन्दा रखने का साधन नहीं बन रहा यहाँ, तो स्वत: अवसर ऐसा आयगा कि पर्याय की दृष्टि न हो व स्वभाव को देखे। राग जिन्दा रहता है बाह्य पदार्थों में आश्रयों में उपयोग लगाने से, बाह्य पदार्थ का आश्रय करने से, तो जिस राग की चर्चा कर रहे हैं उस राग की जिन्दगी का कोई साधन नहीं जुड़ा रहा है इस अशुद्ध निश्चय में तो एक निसर्गत: अवसर आता है कि वह भी बात छूटती है और एक स्वभावदृष्टि में आ जाता जो कि परमशुद्ध निश्चयनय का विषय है।

1498- निमित्तनैमित्तिकयोग के यथार्थ परिचय से शुद्ध तत्त्व को सुगमता से ग्रहण करने की संभावना-

अच्छा, जब निमित्तनैमित्तिक योग के विचार में चल रहे तब की तारीफ देखिये। वहाँ ज्ञान हो रहा है कि ये विभाव हैं, ये नैमित्तिक हैं, ये स्वभाव में नहीं हैं, ये तो आये हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं, मुझसे ये अत्यन्त भिन्न हैं। देखो, इस निमित्तनैमित्तिक योग के परिचय से शुरू से ही रागादिक की भिन्नता, उपेक्षा, अनादर, तिरस्कार सब कुछ चित्त में आया, और ऐसे प्रयास में तो बहुत ही जल्दी स्वभावदृष्टि में आ गया, अपना स्वभाव ग्रहण किया, चेता, जाना, देखा। वह हुआ परमशुद्ध निश्चयनय। अब यहाँ एक से एक को अखण्ड देखा, आत्मा में यह स्वभाव, इतना भी भेद मिटा और अखंड अंतस्तत्त्व आया, यह हुआ शुद्धनय। यहाँ अभेद स्व का उपयोग, स्वानुभूति, यह सब शुद्धनय के प्रसाद से हुआ। जैसे बने वैसे अन्तस्तत्त्व का उपयोग बनावें। भैया, उपदेश में जो कुछ लिखा है सबका सदुपयोग करना, बजाय इसके कि यह गलत है ऐसी कोशिश करें, उसका ऐसा सदुपयोग बनायें कि हम निज स्वभाव का आश्रय कर सकें।

1499- चैतन्य और बन्ध में भेद करने का फल चेतना में चेतना-

यहाँ इस साधक ने स्वलक्षण-ज्ञानबल से उन सबका भेदन किया जो-जो कुछ भिन्न किया जा सकता था, भेद करके फिर अपने आप उस शुद्ध अंतस्तत्त्व को प्रज्ञा से ग्रहण किया। किसने ग्रहण किया? मैंने ग्रहण किया। बाहर में सोचना हो तो अन्य पुरुषों की बात सोचना। मैंने ग्रहण किया, किसको ग्रहण किया? मुझको ही मैंने ग्रहण किया। यह काहे के द्वारा किया? सब कुछ निरखते जाइये याने इस ज्ञान ने अपने स्रोतभूत

ज्ञान- स्वभाव को अपने ज्ञान में लिया, तो उसमें क्या बना? ज्ञान का ही ग्रहण किया, ज्ञान में ही ग्रहण किया, ज्ञान के द्वारा ही ग्रहण किया, ज्ञान से ही ग्रहण किया, कोई अलग स्वभाव नहीं है जिससे कि कोई विषमता, व्यग्रता या चिन्ता होवे कि यह काम बने कैसे? हाँ, ग्रहण किया, इस ग्रहण का अर्थ क्या? मायने चेतना ने चेता, चेतना है ना, यह प्रतिभासमात्र है ना? तो इसने अपने में अपने काम को प्रतिभासा, चेता, तो अब उसकी चर्चा करें। कहाँ से चेता? खुद से। किसमें चेता? खुद में। काहे के द्वारा चेता? खुद के द्वारा। अथवा यहाँ दूसरी कुछ बात ही नहीं है। है मात्र चकचकायमान, बस इतनी-सी बात और इस तरह अपने को ग्रहण करना है। चेतना है, यह ही ग्रहण करना है।

1500- व्यवहार से काम लेकर व्यवहार छोड़कर शुद्धनय में प्रवेश करके तत्त्वानुभव का योग-

हाँ, थोड़ा समझने के लिए तो बात की गई थी ऐसी कि मैं चेतता हूँ, अपने में चेतता हूँ आदिक, मगर वहाँ है क्या? वह चेतना कैसी है, किसके द्वारा चेता गया? अरे ! वह तो एक चेतना है और परिणति हो रही है, मैं शुद्ध चैतन्यभाव मात्र हूँ। अच्छा फिर ये भेद तो किये गये हैं अभी कारक के। हाँ, तो इसमें देखा विशुद्ध चैतन्यमात्र और उसका परिचय कराया गया कारकों द्वारा। अच्छा, और ये कारक भी तब प्रयुक्त होते जब इसके गुण समझे गये और इसके साथ धर्म जाने गये, अपने में है पर में नहीं, पर का प्रवेश नहीं, ये सारी बातें ये परिचय के लिए बतायी गई। भेद किया गया, तो करें, वे भी कुछ काम के थे, उनके बिना भी गाड़ी चलती न थी, मगर तत्त्व तो दिखा उस विशुद्ध चैतन्य में, इस अपने व्यापक तत्त्व में, तो ये कोई भेद पड़े हुये नहीं, भेद करके समझाया गया। भेद का ही नाम व्यवहार है, सो यह भेद करके समझाया गया तो समझने दो, होने दो भेद, चलने दो तीर्थ प्रवृत्ति, वह भी काम की है, लोग आयेंगे रास्ते में, समझेंगे मगर तत्त्व तो देखें, जो व्यवहार से काम ले चुका वह समझ रहा है कि यह जो अखण्ड विशुद्ध चैतन्य तत्त्व है इस चैतन्यतत्त्व में कोई भेद नहीं। देखो, व्यवहार से काम लेकर व्यवहार को छोड़ा है, व्यवहार से काम लिया ही नहीं और पहले से ही इसको हेय कहा तो वह आगे नहीं बढ़ सकता। व्यवहार से जब परिचय किया, सब जानने के बाद अभेद तत्त्व को निरखें ऐसा निर्व्यवहार अभेद चैतन्य तत्त्वमात्र मैं हूँ, सो यहाँ अपने में अपने को अनुभवते हुए अपने स्वरूप को ग्रहण किया गया है।

कलश 183

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-

दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ॥183॥

1501- चेतन की मोक्षविधि का संकेत-

यह मोक्ष अधिकार है। यहाँ बताया गया है अपना मोक्ष। अपना मोक्ष मायने मोक्ष में होता क्या है?दो चीजें थी साथ तो उनका अलगाव हो गया, तो अकेला ही मात्र आत्मा रह गया। देखिये, कर्म का भी मोक्ष हो गया और जीव का भी मोक्ष हो गया, मगर कर्म की आदत बुरी है। मोक्ष होने के बाद फिर वह दूसरे से मिल जायगा, कर्म बन जायगा, पर जीव की ईमानदारी बढ़िया है कि एक बार मोक्ष हुए बाद विकार नहीं आता। तो दो का हटाव करना है। वे दो क्या? आत्मा और बंध, आत्मा और विभाव। इनका लक्षण जाना था ये बिल्कुल जुदे-जुदे तत्त्व हैं। उनमें जो दु:खदायी है, अपवित्र है, औपाधिक है, उससे तो मुख मोड़े और जो अपना स्वरूप है, शाश्वत है, जहाँ धोखा रंच नहीं उसे ग्रहण किया जाय। क्या ग्रहण किया जाता है? बस वह है चेतना। चैतन्यस्वरूप, चेतना, आत्माचेतन, किन्हीं शब्दों में कहो, बंध से मुख मोड़कर यह अन्तस्तत्त्व वहाँ ग्रहण किया गया। उस चेतना की बात कही जा रही कि जो ग्रहण किया गया। वह है कैसी? तो यह चेतना अद्वैत है। यह आत्मा अद्वैत है। देखो, धर्म और धर्मी जुदे-जुदे मूड में जब दृष्टि में लिए जाते हैं तो यद्यपि वस्तु वही है, फिर भी उसका एक जुदा-जुदा स्वरस प्राप्त होता है। चेतना अद्वैत है।

1502- सर्वाद्वैत की अविचारित रमणीयता-

अद्वैत होते हैं दो प्रकार के- (1) सर्वाद्वैत और (2) विशिष्टाद्वैत। सर्वाद्वैत वह कहलाता है कि सब कुछ वह एक ही है, जैसे बताया है 'सर्व वै खल्विदं ब्रह्म'। सारा जगत, जीव- अजीव सब कुछ एक है दूसरा नहीं, ''और दूसरा दिख तो रहा है?'' दूसरा नहीं दिख रहा, उस एक के ही ये आराम दिख रहे, परिणमन दिख रहे, वह एक है अद्वैत। यह है सर्वाद्वैतवादियों का मत। अच्छा, उनको ऐसा ख्याल आया क्यों? देखो, ज्ञान सबमें है। प्रत्येक ज्ञानी पुरुष, दिमाग वाले, बुद्धिमान, कल्याण की चाह रखने जो कुछ विचारेंगे तो अच्छा, मगर कोई चूक हो जाय तो उसमें दोष आता है। विचार तो अच्छा किया, मगर चूक हो गई, स्याद्वाद का सहारा नहीं रहा। सर्वाद्वैतवादी को क्यों ऐसा नजर आया कि यह यह सब कुछ एक ब्रह्मस्वरूप है? पहली बात तो यह है सद्ब्रह्म, जो कुछ है वह सत् है, सत् से अलग है क्या कुछ? तो जब एक सत्-स्वरूप है उसकी दृष्टि जब सत्त्वमात्र में गई तो उसे वह एक ही प्रतीत हुआ। अथवा चैतन्य ब्रह्म, आनन्द ब्रह्म, यह सब एक चैतन्यात्मक ब्रह्म है ऐसा भ्रम क्यों? उसका कारण यह बना कि देखो जो कुछ दिख रहा है आपको, यह चेतन के सम्बंध बिना यह आकार नहीं बन सकता था। जो भी नजर आ रहा, आँख से जो भी दिखता, नाम ले लो, आप कहेंगे कि यह रेडियो का पोंगा, यह आकार कैसे बना? यह काहे का है? लोहे का। वह कहाँ से आया? बाजार से। उसे कहाँ से लाये? फैक्टरी से। वह माल कहाँ से लाया गया? कच्चे माल वालों से।

कच्चा माल कहाँ से आया? खान से निकला। खान में लोहा था तो लोहा जीव है कि अजीव? जीव है, जब तक खान में था बताते है ना। भेद की बात अलग है, तो यह जीव था। उस जगह जीव न आता तो उसके शरीर की यह मुद्रा न बनती, यह आकार न बनता, फिर जीव निकल गया, निकल जाय, पर आकार निर्माण जो हो पाया था वह जीवसहित दशाओं में बना था। बना शरीर में शरीर, मगर एक प्रसंग की बात बोल रहे। उनको भ्रम क्यों हुआ कि यह सारा जगत भी चैतन्यब्रह्म है? तो चैतन्य के सम्बंध बिना कुछ बात ही नहीं बन पाती थी यहाँ, यह हुआ पुद्गल का पुद्गल में, मगर जीव होता तो यह बढ़ता हैं, फैलता है, उसका रूप बनता है। अच्छा कुछ दिखने में आने वाले पदार्थों में और भी देखो यह दरी है, यह क्या है? कपास से बनी, कपास खेत में पैदा होता, वह पेड़ था, एकेन्द्रिय जीव था, वहाँ जीव का सम्बंध था, सो हरा हुआ, बढ़ा, कपास हुआ, उससे सूत बना, दरी बनी। तो ये रूपक जितने बने वे जीव के सम्बंध पाकर बने, इसलिए ये सब जीव ही उसे नजर आये, था इसमें जीव पहले, तो सारा यह जीवात्मक है। अच्छा, खैर कुछ भी कारण बने, सर्वाद्वैतवादी ने माना कि सब कुछ एक अद्वैत ब्रह्म है।

1503- प्रकृत चेतना के अद्वैतपने की विशष्टाद्वैत से भी विलक्षणता-

दूसरा अद्वैत है विशिष्टाद्वैत, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने में अद्वैत है, पूर्ण है, एक है, अखण्ड है, वहाँ दो बातें नहीं पायी जाती। तो यह ही एक विशिष्टाद्वैत है। यह विशिष्टाद्वैत भी एक सम्प्रदाय है, पर उसने आगे चलकर कुछ गड़बड़ी पायी, वैसे तो यह विशिष्टाद्वैत जैन शासन से मिलता हुआ मत है। प्रत्येक पदार्थ है, जुदा-जुदा है और वे सब जुदे-जुदे अद्वैत हैं। यहाँ चेतना की बात चल रही है। इस चेतना में सर्वाद्वैत की बात तो यहाँ प्रकृत नहीं, विशिष्टाद्वैत भी यहाँ नहीं लेना, क्योंकि विशिष्टाद्वैत व्यक्तिभेद करता है और यहाँ व्यक्तित्व नहीं देखना है, क्योंकि व्यक्तित्व देखेगा तो चेतना की वे सब तारीफें जो अभी कही जायेंगी ये तारीफें घटित न होगी। व्यक्तिरूप से चेतना को न देखना, किन्तु स्वरूप से चेतना को देखना। यह ही बात होती है अनुभूति के लिए। आत्मा का स्वभाव कैसा है? तो कहते कि पर से रहित। एक और आगे बढ़कर बोला कि अधूरा नहीं, पूरा। तो एक और बढ़कर बोला कि पूरा ही नहीं, वह है आदि, मध्य अन्त से रहित। तो एक और उससे बढ़कर बोला कि नहीं, ऐसा सोचकर भी वह है एक, याने अलग-अलग जीवों को देखकर न बताओ आत्मस्वभाव, जैसे कि आप देखते यह भी आत्मा, ऐसा निरखकर आप आत्मस्वभाव को न बता सकेंगे, व्यक्तित्व मिटा दीजिए, एक को लाइये। एक है वह। मगर एक के कहने में व्यक्तित्व तो आ ही गया। इस व्यक्तित्व से भी हटे तो क्या? संकल्प-विकल्प-जाल से रहित दशा हुई, वहाँ यह पायेगा कि आत्मा होता क्या है? सर्वाद्वैत तो चेतना है नहीं, और विशिष्टाद्वैत में व्यक्ति का बन्धन है। तब फिर यहाँ स्वरूप में ही निरखना है कि यह चेतना अद्वैत है। इसमें यह है, इसमें दूसरा कुछ नहीं है। 'न द्वैतं यत्र तत् अद्वैतं', जिसमें दूसरी चीज नहीं उसे कहते हैं अद्वैत।

1504- चेतना की अपनी अद्वैतता-

यह चेतना अद्वैत है, लक्ष्य की बात है। इसका लक्ष्य करें। देखो- लक्ष्य वाले को लक्ष्य से भिन्न बात पर झुंझलाहट होगी। क्यों हुआ ऐसा? वह लक्ष्य में रहता है इसलिए । एक ऐसी घटना हुई, वह सच घटना है। एक घटना सुनी है, शायद ग्वालियर के राजा की है। राजा एक बार बहुत तंग आ गया एक शेर से। वह पास-पड़ोस के बहुत से लोगों के प्राणों का अपहरण कर चुका था और जनता उससे खूब तंग आ गई थी। राजा ने उस शेर को मारने का उपाय रचा। भील लोग तो रहते ही थे वहाँ, सो किसी भील ने कहा- राजन् हमें पता है उस शेर का कि कहाँ-कहाँ वह रहता है, आप हमारे साथ जंगल चलें तो हम आपको उसे दिखा दें। ठीक है पहुँचे दोनों जंगल में। शेर किसी गुफा के पास बैठा हुआ था। सो भील ने दूर से ही कहा- देखो, राजन् वह शेर बैठा है।...कहाँ?...वह देखो।...अरे ! अभी नहीं दिखा?...अरे ! वह देखो..., फिर भी नहीं दिखा तो उस प्रकरण में उस भील को राजा पर गुस्सा आयी और उल्टी-सीधी गाली बकना शुरू कर दिया, जैसे अरे ! अंधे हो क्या? तुम्हारी दोनों आँखें फुट गई क्या...? तेरी आँखों में.....। वहाँ भील को इसकी कुछ खबर न रही कि यह तो राजा है और मैं भील हूँ, मुझे राजा पर इस तरह से क्रोध करके उल्टी-सीधी गाली न देना चाहिए। खैर, राजा ने वहाँ उसको क्षमा कर दिया, आखिर दोनों अकेले-अकेले ही वहाँ थे, अकेले-अकेले में क्या बुरा लगना? यदि किन्हीं अन्य लोगों के सामने इस तरह से बोलता तो बुरा भी लगता। तो जैसे भील के कहने से राजा ने उस लक्ष्य को न पाया इससे उस भील को राजा पर क्रोध आया, भला-बुरा कहा। ऐसे ही ज्ञानी जीव को भी लक्ष्यभ्रष्ट आत्मा नहीं सुहाता तो वह क्रोध नहीं करता, बल्कि दयाभाव लाता। देखिये- दो बातें होती हैं, जब किसी के अज्ञान होता है तो लौकिक लक्ष्यभ्रष्ट सुहाते नहीं अज्ञानी को और, जब ज्ञान होता है तो लक्ष्यभ्रष्टों पर दया आती है ज्ञानी को, न सुहाने की बात क्यों? जगत में अनन्त जीव हैं, उनमें से कुछ ही मनुष्य हैं ऐसे जो कुछ धर्म में लगे दिख रहे, बाकी जो धर्म में नहीं लग रहे उनके लिए ज्ञानी पुरुष संक्लेश करेगा क्या? न करेगा। ज्ञानी पुरुष में धर्मविरुद्ध बात निरखकर न सुहाने की बात मन में नहीं आती, किन्तु एक करुणाबुद्धि (दयाबुद्धि) उनके प्रति उत्पन्न होती है। कैसी करुणाबुद्धि कि क्यों नहीं ये अपने उस लक्ष्य को निरखते और क्यों नहीं विधिपूर्वक ये अपने आपको धर्म मार्ग में लगाते? यों ज्ञानियों को करुणाबुद्धि तो जगती मगर झुंझलाहट नहीं बनती।

1505- प्रकृत चर्चा का लक्ष्यआत्मधर्म-

वह धर्म क्या है? बस इस चैतन्य को निरखना, जिसकी यह चर्चा चल रही। वह चैतन्य अद्वैत है मायने अपने स्वरूप में स्वरूपमात्र है, केवल स्वरूप को निरखा जा रहा। इस चेतन की, चेतना की चर्चा कर रहें हैं, इतनी ही बात नहीं, किन्तु मात्र चेतना की बात कर रहे है। वह चेतना अद्वैत है, अद्वैत होने पर भी यह चेतना ज्ञान-दर्शन रूप को नहीं छोड़ रही, मायने जैसे चेतना के भेद करते ना, दर्शन और ज्ञान, वह दर्शन और ज्ञान क्या चीज है? चेतन का सामान्य विशेषात्मक स्वरूप है, कोई भी पदार्थ हो वह सामान्य विशेषात्मक से रहित नहीं होता।

1506- ऊर्ध्वतासामान्य व ऊर्ध्वताविशेष का चेतना में दर्शन-

यहाँ विचारें क्या सामान्य है, और क्या विशेष है? सामान्य और विशेष कितने रूपों में निरखे जाते? तो पहली बात लीजिए, ऊर्ध्वता सामान्य, ऊर्ध्वता विशेष, एक ही पदार्थ में निरखना है यह सब। पदार्थ प्रति समय पर्यायों से परिणमता रहता है, वहाँ परखिये ऊर्ध्वता सामान्य व ऊर्ध्वता विशेष। तो जो भी पर्याय है भिन्न-भिन्न समय में जो पर्यायें हुई हैं वे कहलाती है ऊर्ध्वता विशेष और उन सब पर्यायों में, उन सब समयों में रहने वाला जो एक तत्त्व है वह है ऊर्ध्वतासामान्य। ऊर्ध्वता कहते हैं ऊपर की ओर, ऊपरपना, ऊँचा-ऊँचापना। दो विधियाँ होती हैं, जब कोई एक समान एक साथ वस्तु की चर्चा की जाती है तो उसका संकेत हाथ से यों तिरछा बनता है और जब किसी एक पदार्थ में भूत भविष्य वर्तमान याने ऐसे समय की बात की जाती है तो उसका संकेत हाथ को ऊँचा उठाकर किया जाता है। जैसे जब यह कहा जाता कि उस सभा में बहुत से लोग थे, ब्राह्मण थे, क्षत्रिय थे, वैश्य थे यों बताते ना तिरछा हाथ करके, यह एक प्राकृतिक बात है। कोई यों नहीं कहता कि ब्राह्मण थे, क्षत्रिय थे, वैश्य थे, यों ऊँचा हाथ उठाकर एक साथ एक सभा में बैठे हुए का संकेत नहीं किया जाता, तिरछा हाथ चलता है समानता से और जब काल-भेद की बात करते हैं- जैसे एक मनुष्य देखा पहले बच्चा था, फिर जवान हुआ, फिर बूढ़ा हुआ, यों ऊँचा हाथ चलाते, भेद यहाँ भी बताया वहाँ भी भेद बताया, मगर एक साथ ऐसी स्थिति में जब सामान्य विशेष की बात कहते हैं तो हाथ तिरछा चलता है, इसी को कहते हैं तिर्यक्। और, जब काल-भेद से भेद की चर्चायें चलती हैं तो हाथ ऊँचा उठता है, इसे कहते हैं ऊर्ध्वता, तब ऊर्ध्वता सामान्य और ऊर्ध्वता विशेष में देखा तो वहाँ ऐसा सामान्य विशेष पड़ा हुआ है।

1507- तिर्यक् सामान्य व तिर्यग् विशेष का चेतना में भी दर्शन-

तिर्यक् सामान्य और तिर्यग् विशेष- ये दो प्रकार होते हैं। एक ही पदार्थ में सामान्य विशेष देखना और अनेक पदार्थों में सामान्य विशेष देखना। एक पदार्थ में कैसे सामान्य विशेष देखा कि आत्मा यह सामान्य। इसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्दगुण भेद किया यह हो गया विशेष। यह भी तिर्यक् व्यवस्था रखता है क्योंकि एक ही समय में है ना सब। और नाना जीवों में सामान्य विशेष क्या? जैसे सामान्य सबका स्वरूप, यह है तिर्यक् सामान्य। और बाबू व्यापारी, ब्राह्मण आदि भेद करना, यह है तिर्यग् विशेष।

1508- प्रकृत चेतना के सामान्य विशेष की विलक्षणता-

इस चेतना का सामान्य विशेष जो इस छंद में बताया जा रहा है वह इससे भी विलक्षण है, इससे निराला तो नहीं, मगर जिसका लक्ष्य किया जा रहा है उसका सामान्य विशेष देखिये इसमें होता हुआ भी इसकी रश्मियाँ किस प्रकार हैं। यह चेतना एक वस्तु को लेकर देखी जा रही, चेतना में चेतना को निरखो, जैसे हँसना, बोलना, खेलना, उठना, बैठना ऐसे ही चेतना, जब उस चेतना में चेतने को देखा तो वह चेतना

दो प्रकार से विदित होगी। सामान्य और विशेष, सामान्य चेतना का नाम है दर्शन, विशेष चेतना का नाम है ज्ञान। अब देखो तो जितने अद्वैत बताये उनसे निराला अद्वैत आधार बैठा चेतने में। जितना सामान्य विशेष प्रसिद्ध है उनसे भी निराला यह सामान्य विशेषपना चेतना में नजर आया। अत्यन्त निराला नहीं, किन्तु एक उसी का ही पोषण करने वाला, तो यह चेतना दर्शनज्ञानस्वरूपता को नहीं छोड़ती।

1509- दर्शन और ज्ञान के स्वरूप का दिग्दर्शन-

दर्शन क्या और ज्ञान क्या? इसके बारे में कई प्रकार से लक्षण किया गया, मगर लक्ष्य सबका एक है। अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन कहते हैं, बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान कहते हैं। एक यह लक्षण है, बाह्य अर्थ पदार्थों का भेद न करके अविशेष रूप से प्रतिभास होने को दर्शन कहते हैं। अच्छा घरेलू भाषा में बोलना जरा, यह आत्मा जानता है, बाहर नहीं जानता, अन्तर में ही जानता, यह आत्मा जानता सबको है, पर जानता अपने में है, सबको सबमें नहीं जानता, सबको अपने में जानता, यह तो एक बड़ी कठिन समस्या-सी लग रही होगी कि सबको जाना और अपने में जाना ऐसा तो कहीं नहीं होता। कहीं दूर की चीज पर प्रयोग करें और प्रयोग यहाँ होवे ऐसा तो जरा बड़ा कठिन लग रहा। यह कठिन नहीं, यहाँ यह ही सुगम है। यह ज्ञान अपने से हटकर सबमें जाय और वहाँ जाने ऐसा नहीं हैं, किन्तु इसका स्वरूप की ऐसा है, इसकी जिन्दगी ही ऐसी है कि यह निरन्तर इसी तरह जानता ही रहे। जो सत् हैं जगत में वे सब यहाँ ज्ञेय बनें, प्रतिभासित हों, इसका स्वरूप ही ऐसा है। तो हमने अपने में जाना, ज्ञान किया, बस इस ज्ञान करने वाले आत्मा को प्रतिभासे यह है दर्शन। इसमें थोड़ा यों अन्तर आयगा कि यह बात तो वहाँ बहुत अच्छी घटेगी जहाँ युगपत् ज्ञानदर्शन उपयोग है। 13 वें 14 वें गुणस्थान में और सिद्ध भगवान में, सयोगकेवली व सिद्ध प्रभु के केवलज्ञान केवलदर्शन एक साथ होते हैं, निरन्तर जान रहे हैं और जानते हुए अपने को प्रतिभास रहे हैं। अब यहाँ समझ लीजिए कि ऐसा प्रतिभासे बिना ज्ञान नहीं ठहर सकता और ज्ञान हुए बिना यह दर्शन नहीं ठहर सकता।

1510- छद्मस्थों के ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग की विधि-

अच्छा, अब देखो ये ही उपयोग चूँकि वासना-संस्कार वाले संसारी जीवों में, छद्मस्थ जीव में बने हुए हैं ना, तो वहाँ यह बात क्रमश: बन गई। किसी पदार्थ को जान रहे थे, उसका जानना छोड़कर दूसरे पदार्थ को जानने चले तो चूँकि दूसरे पदार्थ के जानने से पहले की जो एक प्रतिभास की तैयारी या परिणति या अन्त: वातावरण जो है बस उस ही स्थिति में यह दर्शनोपयोग अपना काम करता है। तो चूँकि यह संसारी जीव इस समय इतना अक्षम है कि यह मानो भिन्न-भिन्न पदार्थों को जानने के लिए जानने से पहले एक बल प्रकट करता है। दर्शन, ज्ञान को बल देता है। अपने आत्मा का स्पर्श-ज्ञान के लिए बल देता है। जैसे ऊँची कूद (High Jump) होती है ना, तो उसमें जो लड़का नीचे जमीन में पैर तेजी से गड़ाकर उछाल लेता है वह ऊँची कूद पाता है। कोई अगर डोरी के पास यों ही ढीला-ढाला-सा रहकर कूदना चाहे तो वह

नहीं कूद सकता। उस ऊँची कूद के कूदने में जो लड़का सबसे ऊँची कूद कूदता है उसके कूदने में जमीन में गड्ढा सा बन जाता है। वह मानो ऊपर उठने के लिए नीचे की ओर जोर देता है। ऐसे ही यह उठना कहलाया ज्ञान। अभी उठा-सा फिर रहा यह जीव। इसे जाना, उसे जाना, यह जाना, तो ऐसे ही जो जम्प कर रहा है, यह आत्मा ज्ञान कर रहा, जान रहा नाना पदार्थों को। तो ऐसा ज्ञान होने के लिए इसका बल चाहिए और वह बल है अपने आपमें स्पर्श का जोर देना। कैसा यह अपने में घुसकर प्रवेश करता, यह जोर दे रहा है स्व में।

1511- चेतना की दर्शनज्ञानस्वरूपता-

भैया, दर्शन के लक्षण से देखो सब आत्मा का दर्शन कर रहे। जितने भी जीव हैं, मगर उन्हें इस दर्शन की सुध नहीं है इसलिए अज्ञानी हैं। दर्शन करते हुये भी इसका दर्शन नहीं किया। न आत्मा की सुध और न दर्शन की सुध। इसलिए दर्शन का फल नहीं मिल पाया। दर्शन का दर्शन हो तो सम्यग्दर्शन हो जाता। यों यह चेतना दर्शन-ज्ञानरूप है। अगर वह सामान्य विशेषरूप को छोड़ दे तो चेतना ही क्या है? वह अपने स्वरूप को खो बैठेगा। सर्व पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है और उसमें से आप क्या अलग निकालेंगे? अगर सामान्य फेक दें, है ही नहीं इसमें सामान्य, मानो नीचे से लुड़ककर बाहर कहीं भी हो जायगा तो किसमें वह विशेष विराजेगा? अच्छा, तो सामान्य बड़ा जबरदस्त है, इसे तो फेंका नहीं जा सकता। इन विशेषों को फेक देंगे। यह भी नहीं हो सकता फिर यह सामान्य कहाँ विराजेगा? कहाँ पहुँचेगा? आप किसे फैंके? केवल सामान्य ही बनायें तो नहीं बनता, मात्र विशेष ही बनायें तो नहीं बनता। इसी हठ पर तो अनेक सम्प्रदाय बने। देखो, बहुत बड़े खोज की बात है। केवल एक ही बात है सामान्य विशेष की। इस ही त्रुटि के आधार पर चाहे सैकड़ों सम्प्रदाय हों वस्तुस्वभाव के खोजी, इसने सामान्य विशेष के सम्बन्ध में यहाँ त्रुटि की, इसलिए यह विवाद खड़ा हो गया। सामान्य विषय को तोड़ा नहीं जा सकता। तदात्मक पदार्थ है इसी कारण यह चेतना भी सामान्यविशेषात्मक है। अद्भुत सामान्यविशेषात्मकता के कारण यह आत्मा दर्शनज्ञानस्वरूप है।

1512- बंधाधिकार के उपदेशों में स्वभावाश्रयविधि का दिग्दर्शन-

मोक्षाधिकार में मोक्ष कैसे होता है इन उपायों पर प्रकाश डाला गया है। क्या करना चाहिये पहले; पहले तत्त्वज्ञान करें, वस्तुओं का स्वरूप जानें, घटनाओं का तथ्य जानें। बंध है एक घटना, और उससे हटना है, तो जब बंध की घटना से हटना है तो आखिर बंध की घटना भी तो जानें कि बंध हुआ किस तरह, यह बात बतलायी गई थी। बंधाधिकार में बताया तो गया था कि बंध कैसे होता है, मगर प्रत्येक उपदेश में निचोड़ यह निकलता कि स्वभाव का आश्रय कैसे बनता है। वैसे कुछ भी कथन हो सबमें तथ्य यह ही निकलेगा कि स्वभाव का आश्रय किस प्रकार हो। बंधाधिकार में जो अन्त में बात कही गई थी वह अपना प्रयोग करने के लिए खास बात है। वहाँ बताया गया था स्फटिक का दृष्टान्त देकर। अपने में ऐसा निरखें कि मैं विशुद्ध स्वभावमात्र हूँ। मेरे में स्वयं से अपने आप विकार की गुंजाइश नहीं। मैं खुद हूँ, विशुद्ध हूँ, चैतन्यप्रकाशमात्र

हूँ। मैं परिणमूँ अपने आप तो मेरा इसके अनुरूप ही परिणमन होगा, विशुद्ध चैतन्य, ज्ञाता-द्रष्टा रहना मात्र, तो विकार मेरे स्वरूप में नहीं। फिर जिज्ञासा होती कि ये विकार आये तो किस तरह आये। ये विकार कर्म – उपाधि, परद्रव्य के सन्निधान में आये। आचार्यों ने तो इन शब्दों में बताया है कि उन परद्रव्यों के द्वारा विकाररूप परिणमाया गया है। तात्पर्य उसका यह है कि पर उपाधि के सन्निधान में ही यह जीव रागादिक विकाररूप परिणमा। चूंकि वह परके सान्निध्य में ही परिणमा, उसके बिना नहीं परिणम सकता, अत: विकार नैमित्तिक है, मेरा स्वरूप नहीं।

1513- निमित्त के सान्निध्य में उपादान का निमित्तानुरूप विपरिणमन-

बहुत कुछ देखने पर यों जंचेगा भी कि दर्पण के सामने रखी हुई चीज का फोटो आया दर्पण में तो वह फोटो उस वस्तु के अनुरूप है, जैसा कि निमित्तसन्निधान है लाल, पीली वस्तु, उसके अनुरूप है वह फोटो। अब चूंकि उसके सान्निध्य में ही हुआ है, उसके अभाव में नहीं हुआ फोटो, इसलिए इसका सम्बंध उस निमित्त के साथ जोड़ दो, क्योंकि दर्पण का स्वच्छ स्वरूप ही निरखना है। ऐसे ही कर्मविपाकानुरूप विकल्प का संबंध विकल्प के निमित्तभूत कर्म के साथ जोड़ दो क्योंकि मुझे तो अपने विशुद्ध स्वरूप में विश्राम लेना है, यहाँ नहीं है विकार यों निरखना है। अब वहाँ बात हुई किस तरह? देखिये, सर्वत्र एक यह कुञ्जी जानें कि ये विकारभाव उत्पन्न हुए कैसे इस विषय में। क्या? कि निमित्त के सान्निध्य में यह उपादान अपनी योग्यता से, अपनी कला से विकाररूप परिणम जाता है। उपादान के विकार को निमित्तभूत द्रव्य ने परिणमाया नहीं, क्योंकि उसकी परिणति उस ही में रहेगी, निमित्तभूत द्रव्य का जो कुछ उठता है वह उसका उसमें ही है। निमित्तभूत द्रव्य का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रभाव यह कुछ वहाँ नहीं पहुँचा, मगर उस अशुद्ध उपादान की प्रकृति इस प्रकार है कि वह ऐसे वातावरण में उसके अनुरूप अपने में विकार परिणाम कर लेता है। जैसे कोई देहाती आदमी पहली बार अदालत गया और पहले से ही उसने सुन रखा था कि वहाँ जज बैठता है, सिपाही होते है, बड़ी चीज है, अदालत इस नाम से वह डर रहा था। अब उसे किसी मुकदमें की वजह से जाना पड़ा। जब वहाँ पहुँचा तो उस जज को देखकर वह डर गया, भयभीत हो गया, धोती ढीली हो गई या यों कहो कि धोती बिगड़ गई। बताओ, अब वह प्रभाव उस पर उस जज ने डाला क्या? अरे !वह तो अपनी कुर्सी से उठा तक भी नहीं, वहाँ बात यह हुई कि वह देहाती की ऐसी योग्यता थी, ऐसा ही बल था, ऐसा ही डर था, ऐसा ही स्वभाव था कि जिससे उस जज का आश्रय कर, जज को निरखकर उसने अपने आपको भयभीत बना डाला। अच्छा, तो देखिये निमित्त ने किया नहीं और निमित्त के अभाव में हुआ नहीं। कहीं, ऐसी घटना को देहाती घर में तो न करता था कि यों कांपे, यों करे। तो दोनों बातें निरखना है निमित्तभूत द्रव्य ने कुछ नहीं किया और निमित्तभूत द्रव्य के सान्निध्य बिना यह विकार कुछ हुआ नहीं। इस परिचय से यह बल मिला कि विकार को कर्म करे तो करे मुझे इससे क्या, मैं तो अपने में अविकार, सनातन, अहेतुक चित्प्रकाशमात्र अन्तस्तत्त्व में ही विश्राम करता हूँ।

1516- विभावों को परभाव जानकर विभावों के संवेग हटाव का पौरुष-

मोक्ष का कारण है स्वभाव का आश्रय। स्वभाव है चैतन्यभाव, उस चैतन्यभाव का निरखना कैसे बने? इस संसार-अवस्था में जहाँ कि कर्म का बन्धन है, विभाव लदे हैं वहाँ इस चैतन्यस्वरूप का अलग से कैसे निरखना बने? इसके उपायों में बंधाधिकार के अन्त में बताया था कि चूँकि ये विभाव, ये आत्मा में आत्मा के द्वारा स्वयं नहीं बनते, किन्तु परद्रव्य के सान्निध्य में बनते, वहाँ कहा है परद्रव्य के द्वारा परिणमाया जाता है। यहाँ अर्थ लेना कि परद्रव्य कर्मविपाक के सान्निध्य में यह आत्मा विकाररूप परिणमता है, ऐसा निरखना किस प्रयोजन से है कि विकार को मैं स्वयं अपने आपसे नहीं करता, वे मेरी चीज नहीं हैं, मेरे स्वभाव में नहीं बसे हैं। वे तो नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं। नैमित्तिक हैं, एक आक्रमण है यों किन्हीं भी शब्दों में कहो, विभावों से अपना हटाव बड़ी तेजी से करना है जिनसे मेरा कुछ मतलब नहीं। हाँ, तो उस प्रसंग की चर्चा चल रही थी कि कर्मविपाक हैं पर निमित्त, उस पर का संग ही निमित्त है, इसका मतलब क्या हुआ? क्या उस कर्म ने जीव के परिणाम को कर दिया? नहीं किया, किन्तु वह कर्मविपाक, वह प्रतिफलन ऐसा वातावरण है कि उसमें ही यह जीव विकार कर पाता हैं। उस वातावरण के अभाव में, उस निमित्त के असान्निध्य में जीव विकार नहीं कर पाता। निष्पत्ति विधि से देखना, उस बीच में ज्ञप्ति की दृष्टि लायी गई तो विकार को परभावता का तथ्य न मिलेगा और परभावों से अपने को निराला समझना है इसके लिए उमंग और दृष्टि न बनेगी। तो यह बताया गया है कि जब कर्मविपाक हुआ तो जीव में रागविकार हुआ, हुए दोनों एक समय में, उपादान उपादेय में तो समयभेद है, किन्तु निमित्तनैमित्तिक भाव में समयभेदन नहीं है, क्योंकि उपादान कहलाता है पूर्व पर्यायसंयुक्त द्रव्य और उपादेय हुआ वर्तमान पर्याय। तो पूर्व पर्याय प्रागभाव है उत्तर पर्याय का याने उस प्रागभाव का उपमर्दन उत्तर पर्याय कहलाता। देखिये, यहाँ रहस्य की बात, प्रागभाव के अभाव का नाम कार्य नहीं, किन्तु प्रागभाव के उपमर्दन का नाम कार्य है। परन्तु निमित्त नैमित्तिक क्या है कि जिस काल में निमित्त है उसी काल में नैमित्तिक है, तो निमित्त ने जीव में विकार परिणति नहीं की, फिर भी ऐसा सहज योग है कि कर्मविपाक के अभाव में यह विकार नहीं बनता, इसके लिए उदाहरण कई आये थे। मतलब यह जानना कि अपने को अपने स्वयं चैतन्यभाव को सर्व विशुद्ध शुद्ध का भेद न करके पर्याय को न निरखकर केवल उस चैतन्यस्वरूप को निरखना। उसकी बात बोल रहे हैं कि वह चेतना सामान्यविशेषात्मक है।

1517- चेतना की विलक्षण सामान्यविशेषात्मकता-

यह सामान्य विशेषपना क्रिया में आया, अब सामान्य विशेषपना वस्तुधर्म में घटित किया जाता है। मगर उन दोनों प्रकार के सामान्य विशेषों से विलक्षण कुछ तार्तीय (तृतीय) चीज है। क्या, कि चेतनासामान्य तो दर्शन और चेतनाविशेष ज्ञान है। अर्थात् यह आत्मा स्व को पर को जानता है और ऐसा जानते हुए आत्मा को यह प्रतिभासता रहता है। एक दर्पण का ही दृष्टान्त लो, दर्पण बाह्य पदार्थ के आकार को झलकाता रहता है,

फोटो आयी ना, याने परिणमा वह स्वयं, भाषा उपचार की ही चलेगी बोलने-समझने में, तो दर्पण में आकार झलका और आकार झलकाये हुए दर्पण को स्वयं दर्पण ने अपनी चिलचिलाहट से अपने को कायम रखा या नहीं? बहुत ध्यान देने की बात है, अगर दर्पण ने अपने भीतर अपनी चिलचिलाहट से अपने को, उस फोटो वाले दर्पण को अपने में कायम नहीं रखा तो वह फोटो नहीं हो सकती और केवल अपने भीतर चकचकामात्र ही बने, फोटो न आए, तो वह चिलचिलाहट ही क्या है? वह एकमेकपना ही क्या है? तो जैसे वहाँ स्वच्छतासामान्य और विशेष के बिना बात नहीं चलती, दर्पण की निजी स्वच्छता में चकचकाहट नहीं तो फोटो भी नहीं आ सकती, और अगर फोटो नहीं आती तो समझ लो वहाँ चकचकाहट नहीं, ऐसे ही आत्मा में समग्र पदार्थों का ज्ञान होता है, वह किस बल पर? अगर आत्मा दर्शनस्वरूप न हो, अपने आपके भीतर के चकमक को प्रतिभास को, यह न आए तो बाह्य वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता, और बाह्य वस्तु का ज्ञान न हो तो किस अपने को प्रतिभास करें, किस रूप अपने को अपनी चिलचिलाहट में रखे वह भी न बनेगा, इसलिए दोनों बातें चेतन में पायी जाती हैं। उनमें से एक को निकाल दिया जाय तो दूसरा ठहर नहीं सकता।

1518- दृष्टान्तपूर्वक सामान्यविशेषात्मकता का परिचय-

मोटे रूप से सामान्य विशेष को यों देख लो, मनुष्य तो है सामान्य और बच्चा, जवान बूढ़ा है विशेष। अगर बच्चा, जवान, बूढ़ा ये कुछ न मानें तो फिर आप बताओ मनुष्य क्या कहलायेगा? आप कोई ऐसा मनुष्य लाकर तो दिखाओ जो न शिशु हो, न बच्चा हो, न कुमार हो, न जवान हो, न बूढ़ा हो, जितनी भी दशायें हैं वे सब कह लो, किसी दशा में तो हो नहीं और मनुष्य लाओ तो कहाँ मिलेगा ऐसा मनुष्य? ऐसा कहे कि आप बच्चे को तो लाओ, पर मनुष्य मत लाओ, आप जवान को तो ले आओ मनुष्य मत लाओ, ऐसा भी तो नहीं बनता। सामान्यविशेषात्मक है पदार्थ। आत्मा भी सामान्यविशेषात्मक है, अर्थात् चेतन भी सामान्यविशेषात्मक है, अगर सामान्यविशेषात्मक न हो मायने यहाँ प्रतिभास न हो ज्ञान का, चेतने का तो आत्मा जड़ हो गया, अगर ऐसी सामान्यविशेषात्मक चेतना नहीं तो आत्मा जड़ हो गया। अरे, और जड़ भी क्यों हो गया? आत्मा तो कुछ रहा ही नहीं, जड़ भी क्या बतायें? तो वहाँ यह समझिये कि सामान्यविशेषात्मक चेतना अद्वैत होकर भी ज्ञान में आ रही है।

1519- चेतना के अभाव में चेतन के अस्तित्व की असंभवता-

यहाँ इस छंद में बतलाया है कि चेतना है व्यापक, आत्मा है व्याप्य। देखिये व्यापक के अभाव में व्याप्य रह नहीं सकता। जैसे एक दृष्टान्त लो कि वृक्ष तो है व्यापक और नीम है व्याप्य। जैसे कोई आम का पेड़ खड़ा है तो नीम का पेड़ कैसे व्याप्य है और वृक्ष कैसे व्यापक है याने नीम भी वृक्ष है, नीम के अतिरिक्त और भी वृक्ष हैं, जो वृक्ष ही नहीं है वह नीम कैसे रह सकते हैं? व्यापक के अभाव में व्याप्य नहीं रहता, तो व्यापक कहो चेतना और व्याप्य कहो आत्मा, चेतना के बिना आत्मा नहीं रह सकता। यहाँ एक शंका हो सकती है कि लगता तो ऐसा है कि व्यापक है आत्मा और व्याप्य है चेतना। चेतना मायने ज्ञान और दर्शन।

आत्मा ज्ञानरूप है, दर्शनरूप है, अब कुछ और बचा क्या? हाँ बचा तो है, चारित्ररूप है, आनन्दरूप है, और और भी बातें बतायेंगे तो आत्मा ज्ञानदर्शन के अलावा और रूप भी हो गया तो आत्मा व्यापक कहलाया। व्याप्य हुई चेतना, तो यहाँ चेतना को व्यापक और आत्मा को व्याप्य कहने का प्रयोजन क्या है? समाधान- परख जो होती है वह चेतना द्वारा हो रही है, और यह निरखा जा रहा है कि यह चेतना आत्मा की सर्व अवस्थाओं में रहती। यहाँ परिचायक है चेतना, परिचेय है आत्मा तो चेतना परिचायकता के कारण व्यापक है और आत्मा परिचेयता के कारण व्याप्य है, चेतना न हो तो आत्मा नहीं रह पाता। इस प्रकार यह आत्मा दर्शन-ज्ञानस्वरूप मायने सामान्यविशेषात्मक है।

1520- चेतनासामान्यमात्र का आग्रह करने वालों के प्रतिबोध के लिये चेतना की सामान्यविशेषात्मकता का विवरण-

शंका- चेतना की सामान्यविशेषात्मकता पर इतना जोर क्यों दिया जा रहा है? सीधी बात कहते कि आत्मा चेतन है, थोड़ा बोल देते, पर इतना विशेष तूल क्यों बनाया? तूल यों बनाना पड़ा कि आचार्यों का उपदेश सर्व के हित के लिए होता है। वे कहीं किसी सम्प्रदाय के लिए बोलते, ऐसा नहीं है, उनकी दृष्टि में तो सब संज्ञी मानवमात्र दर्शन के पात्र हैं। कई लोग चेतन को मात्र सामान्यरूप ही मानते आये उनका भी तो क्या करना, कोई पुरुष चेतना को केवल विशेषरूप ही मानते आये तो उनको भी तो प्रतिबोधना है। है कोई ऐसा कोई दार्शनिक जो चेतना को केवल सामान्यमात्र मानता हो, चेतना सामान्य, मायने उस चेतन को ज्ञान न मानता हो, केवल एक दर्शन जितना ही मानता हो, प्रतिभासमात्र ही मानता हो। प्रथम तो सांख्य दर्शन ही ले लीजिए- ज्ञान आत्मा की चीज नहीं है। वहाँ ज्ञान प्रकृति का धर्म है और प्रकृति है अचेतन, अचेतन से ज्ञान की उत्पत्ति हुई है याने उपादान अचेतन है ज्ञान का, ऐसा इस दर्शन में माना है। आत्मा ज्ञानरूप नहीं और बल्कि जब तक इस आत्मा में इस ज्ञान का सम्बंध रहता है याने प्रकृति अचेतन का गुण जो ज्ञान है, धर्म वह जब तक आत्मा में चिपका रहता है तब तक यह जीव मोही है, अज्ञानी है, संसारी है, रुलने वाला है और जिस काल में यह ज्ञान आत्मा से दूर हो गया याने पुरुष और प्रकृति का विवेक हो गया उस समय आत्मा मोक्षमार्ग में लग गया। कौन लग गया? और कुछ ऐसा सोचना, ऐसा ही है मोक्षमार्ग। यहाँ तक तो अभिप्राय बना हुआ है कुछ दार्शनिकों का। मगर ऐसा होता क्या कि प्रकृति का धर्म है ज्ञान और आत्मा है केवल एक सामान्य चेतना मात्र, तो फिर बतलाओ इस आत्मा में भ्रम होता कि नहीं? उस दर्शन के हिसाब से भ्रम नहीं है आत्मा में। वह सदा भ्रमरहित है। तो भ्रम करता कौन है? प्रकृति करती है भ्रम। तो अब आत्मा को अटकी क्या है जो अपने को मोक्ष दिलावे, प्रकृति को भ्रम हुआ सो प्रकृति को मोक्ष दिलाओ। अच्छा, तुम आत्मा हो कि प्रकृति? तो प्रकृति कहने में जरा उसे अच्छा नहीं लगा। जो श्रेष्ठ पदार्थ है उस ही रूप अपने को मानेगा। जब बच्चे लोग खेल खेलते तो एक खेल खेलते चोर, सिपाही, राजा, तथा वजीर बनने का, उनमें से एक किसी बच्चे से कोई बच्चा कहता कि तुम चोर बन जाओ तो पहले तो वह चोर बनना

पसंद नहीं करता। वह तो यही कह देता कि मैं क्यों बनूँ चोर, मैं तो राजा बनूँगा। तो ऐसे ही इस आत्मा से पूछो कि बोलो तुम प्रकृति हो या पुरुष? तो कहेगा, पुरुष, सो तुम हो केवल सामान्य चेतना मात्र, इसमें कुछ गड़बड़ होती नहीं। तुम तो सदा शुद्ध हो। विकार तुममें नहीं आते। विकार आते हैं प्रकृति में। ज्ञान इसमें नहीं आया, ज्ञान होता है प्रकृति में, अहंकार होता है प्रकृति में। तो ऐसा केवल चेतन सामान्य को मानने वाले दार्शनिकों के प्रतिबोध के लिए यहाँ चेतना को सामान्यविशेषात्मक कहा है।

1521- कल्याणार्थ प्रयास होने पर भी स्याद्वादशैली को तजने का दुष्परिणाम-

देखिये- उन सांख्य दार्शनिकों ने सोचा तो है ऐसा, मगर भीतर में बेईमानी उनके भी न थी। किसी कारण से चूक जाय वह बात अलग है। अगर कोई ऐसा जोर देकर कहे कि मैं तो ऐसा उल्टा दर्शन बनाऊँगा कि इन सब लोगों को खूब भटकाऊँगा, ऐसी उनकी मंसा थी क्या? नहीं। उनकी भी कल्याण की अच्छी भावना थी। कभी देखा होगा कि दार्शनिक लोग कितने निष्पक्ष होते हैं। अगर कोई किसी विषय में पी. एच.डी. कर रहा या कोई बड़ी खोज कर रहा है, दार्शनिक है, और वह खोज करने में जिस सम्प्रदाय का वह खुद है उसमें अगर कोई दोष की बात दिखती तो उसको कहने में उसे कुछ हिचकिचाहट नहीं होती। दार्शनिक के लिए स्व और पर कुछ नहीं रहता। यह मेरा मजहब है यह दूसरे का मजहब, ऐसा दार्शनिकों की दृष्टि में पक्ष नहीं होता, पर समझ में ही जो आया सो बन गया। किस तरह उन्होंने यह बात निकाली कि आत्मा तो मात्र सामान्य चेतना मात्र है, इसमें ज्ञान नहीं। ज्ञान तो कलंक है और ज्ञान तो इसकी प्रकृति के सम्बन्ध से जबरदस्ती जुड़ा हुआ है, यह विकार है, यह बात उन दार्शनिकों के चित्त में कैसे आयी? तो चित्त में यों आयी कि इतनी बात तो यहाँ ही बतायी जा रही है कि रागद्वेष, विकार ये आत्मा में नहीं हैं। आत्मा के धर्म नहीं है ये कर्मविपाक हैं। इसी तरह से तो अभी वर्णन चला था। ये कर्मरस हैं, ये पौद्गलिक हैं, ये आत्मा के विकार नहीं। तो आत्मा की विशुद्धता समझने के लिए यह आवश्यक समझा गया ना कि आत्मा को तो ऐसा शून्य की ओर ले जाओ कि इसमें जो बातें तरंगरूप हुई वे हट जायें, ये विकार परभाव हैं। तो अब इससे बढ़कर उन दार्शनिकों ने और कदम बढ़ाया कि हम तो इस आत्मा का पूरा विशुद्ध रखेंगे तो देखो कि यह आत्मा में विकार जगा क्यों? यह विकार जगा यों कि ज्ञान में आया तो विकार जगा। उपयोग में प्रतिफलित हुआ, उपयोग जगा। सो कहते हैं कि जड़ से ही हटाओ इस विडम्बना को मायने उपयोग और ज्ञान इसको ही अस्वरूप बताकर पूरा हटा दो तो खाली शुद्ध चैतन्य सामान्य रह जायगा। बेचारे ने कोशिश की अच्छी, विशुद्धता की ओर बढ़ना चाहा, मगर अति सर्वत्र विडम्बना उत्पन्न कर देती हैं। तो इस तरह माना कि प्रकृति से यह महान याने ज्ञान जगा, प्रकृति से महान उत्पन्न हुआ। महान को वे ज्ञान कहते हैं।

1522- ज्ञान की महत्ता-

जगत में महान कौन है? ज्ञान। ज्ञान से भी बड़ा कोई है क्या? कुछ नहीं। अच्छा, इस बात को जैनदर्शन की ओर से देखिये, बड़ा और छोटा। मोटी चीज बड़ी होती या पतली, ऐसा एक प्रश्न रखा। लोग तो यों कहेंगे

कि मोटी चीज बड़ी होती है, पतली चीज कहाँ से बड़ी होगी? मगर यह बतलाओ कि मोढे में पतली चीज समाती या पतले में मोटी? अच्छा, सुनो इसका उत्तर- देखो पतले में मोटी चीज समाती। जैसे पृथ्वी मोटी है जल से, मगर जिससे चाहे पूछ लो, वैज्ञानिक भी यही कहेंगे कि जल में पृथ्वी समायी है। जल का बहुत बड़ा विस्तार है और पृथ्वी कम जगह में है। अच्छा इस मध्य लोक की अपेक्षा जैन दर्शन भी बताता है कि पानी अधिक जगह में है, पृथ्वी कम जगह में है। एक स्वयंभूरमण समुद्र का ही विस्तार देख लो कितना बड़ा है कि जिसकी तुलना में सारे द्वीप समुद्र भी नहीं हैं, तो जल में पृथ्वी समायी है, पतली चीज में मोटी चीज समायी है। अच्छा तो जल और हवा इनमें पतला कौन? हवा में जल समाया है। जहाँ जल है वहाँ भी हवा और जहाँ पृथ्वी है वहाँ भी हवा और बाहर भी हवा। अच्छा हवा और आकाश इन दो में पतला कौन? आकाश। जहाँ हवा चलती, पृथ्वी है, वहाँ भी आकाश है, और उसके बाहर भी आकाश है, और आकाश में ये सब समाये हुए हैं। अच्छा यह बतलाओ कि आकाश और ज्ञान इनमें पतला कौन है? ज्ञान। याने जितना लोक है वह भी ज्ञान में समाया और ऐसे लोकालोक कितने ही होते तो वे सब भी ज्ञान में समा जाते, तो महान कौन? ज्ञान।

1523- ज्ञानस्वरूप माने बिना चेतनासामान्य की भी सिद्धि का अभाव-

सांख्यों ने ज्ञान का नाम धरा महान। वे ज्ञान शब्द को अधिक बोलते ही नहीं, कभी-कभी बोलेंगे, और सिद्धान्त भी यह कहता है कि प्रकृति से महान उत्पन्न होता, महान से अहंकार उत्पन्न होता। देखिये सब लौकिकता से समर्पित होता जा रहा है, अहंकार वहाँ बनता? जहाँ ज्ञान हो, मैं बड़ा हूँ, ज्ञानी हूँ, यों इस ज्ञान से बना अहंकार और अहंकार से ये इन्द्रिय आदिक बन गए, और उनसे बना यह शरीर, और फिर ये जितने भूत दिख रहे हैं यह सब प्रकृति का विकार है। तो उन्होंने ज्ञान को प्रकृति का विकार मानकर एक चैतन्यसामान्य ही करार किया है कि आत्मा पुरुष केवल चैतन्य मात्र है, मायने दर्शन-स्वरूप है, ज्ञानस्वरूप नहीं। ज्ञानस्वरूप माने बिना आत्मा के चेतनासामान्य की भी सिद्धि नहीं हो सकती।

1524- मात्र ज्ञानक्षणस्वरूप विशेष की छलांग भरने वालों के प्रतिबोध के लिये चेतना की सामान्यविशेषात्मकता का निरूपण-

अच्छा, तो कोई दार्शनिक ऐसे भी हैं ना कि जो केवल चैतन्यविशेष मानते हैं, चैतन्यसामान्य नहीं मानते। ऐसे भी दार्शनिक हैं उनमें से एक निरंशवादी पुरुष हैं जो आत्मा को एक ज्ञानस्वरूप ही मानते हैं और इतना ही नहीं, इनकी मान्यता है- ज्ञानक्षण, बस उसी को ही लोग आत्मा कह देते हैं और इसी कारण तो ज्ञान क्षण-क्षण में नया-नया बनता है, तो जो लोग ज्ञान को आत्मा बोलें तो यह समझ लो कि आत्मा भी प्रतिसमय में नया-नया बनता है और उनका वह नया-नया बनना ऐसा पृथक्क है उसमें कि एक का दूसरे से अन्वय नहीं है, सम्बन्ध नहीं है, हैं बिल्कुल पृथक्-पृथक्। ये निरंशवादी हैं, इनका नाम क्षणिकवादी तो कह दिया है, असल में क्षणिकवाद नहीं, किन्तु निरन्वय (नि:संतति) निरंशवाद है वहाँ क्योंकि क्षणिकवाद शब्द तो

है उस संप्रदाय का एक धर्म कहने वाला और निरंश शब्द है उस सम्प्रदाय की सारी बात कहने वाला। जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव निरंश माना। द्रव्य से निरंश, काल से निरंश, भाव से निरंश माना। ये चारों ही निरंशता उस सम्प्रदाय में हैं, मगर परिणमना काल के अंश में है। सो केवल काल का अंश हो सो नहीं, द्रव्य का अंश करके अणु अणु एक पदार्थ है। ऐसा तो जैनदर्शन भी मानता नहीं? उस अणु में भी रूपक्षण अलग पदार्थ, रस अलग पदार्थ, गंध अलग पदार्थ, स्पर्श अलग पदार्थ, उस द्रव्य में से और अंश कर दिया और उन अंशों को स्वतन्त्र मान लिया, ऐसे ही तो भाव के अंश मायने ज्ञानक्षण और उनको ऐसा स्वतन्त्र मान लिया कि एक का दूसरे से सम्बन्ध नहीं। यह ऋजुसूत्रनय का एकान्त है। तो कुछ लोग चेतना विशेष मात्र ही मानते, कुछ लोग चेतना सामान्य मात्र ही। मानते, पर ऐसा है नहीं। तो उनके प्रतिबोध के लिये संकेत दिया है कि यह चेतना सामान्यविशेषात्मक है, दर्शन ज्ञानात्मक। ऐसे उस चित् को निरखिये, यह उसका स्वरूप है, अविकार है, वहाँ पर का प्रवेश नहीं स्वरूप में। वह स्वयं परिपूर्ण है, अपने आप दु:खों से रहित है, ऐसे इस चैतन्यस्वभाव को प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करना, यह ही आत्मा और बंध के भेदन का प्रयोजन है। ज्ञान से ही भेद किया। यह मैं आत्मा हूँ, यह विकार बंध है, ज्ञान से ही ग्रहण किया कि मैं तो चैतन्यस्वभावमात्र हूँ, मैं अन्यरूप नहीं हूँ। कुछ ग्रहण करके क्या करना? अब क्या करना, बस यह ही हमारी मंजिल है। हमारा पुरुषार्थ, आखिरी मंजिल यही है। अपने स्वरूप को निरखें और अपने स्वरूप में अपने आत्मतत्त्व का अनुभव करें।

कलश 184

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावा: परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावा: परे सर्वत एव हेया: ॥184॥

1525- स्व के चिन्मय भाव की स्वभावरूपता व पर के भावों की पररूपता-

चेतन में तो एक चिन्मय भाव हैऔर परपदार्थ के जो भाव हैं वे पर ही हैं, उनमें से चिन्मय भाव तो ग्रहण करने योग्य है और बाकी सर्व परभाव सर्व तरह से हेय ही हैं। प्रकरण यह चल रहा है कि मोक्ष कैसे होता है। उसका एक ही साधन है। अपने सहज निरपेक्ष चैतन्यस्वभाव का आश्रय, उसमें अहं का अनुभव होना, यह मैं हूँ और विकल्प रहित होकर उस ही ज्ञानतत्त्व का स्वाद लेना, इसमें आश्रय किसका हुआ? चैतन्यमात्र भाव का, चिन्मयभाव का, केवल चेतन ही चेतन का । चेतन से ही जो रचा गया है मायने जो

चैतन्यमात्र है उसे कहते हैं चिन्मयभाव। कभी देखा होगा कि जब कोई चिड़िया का छोटा बच्चा, जिसके अभी पैर नहीं निकले, जमीन पर पड़ा है, पंख नहीं निकले, चल भी नहीं पा रहा, उसे क्या कहते हैं लोग? चेनुवा। अभी तो यह चेनुवा है। इस चेनुवा का अर्थ क्या है? यह शब्द कहाँ से निकला? तो पहले लोग ज्ञानी होते होंगे, उन्होंने देखा कि यह शरीर तो अभी बना ही नहीं है, मानों शरीर है ही नहीं। जब तक शरीर अच्छा न बने तब तक उनकी निगाह में शरीर है ही नहीं, ऐसा कई बातों में बोलते। जैसे कोई स्वर्ण बेचने को लाये और शुद्ध स्वर्ण का रुचिया सर्राफ उसे कसौटी पर कसे और उसमें बहुत हल्की खोट निकले, कोई दो चार आने भर, फिर भी वह कहता- अरे ! यह सोना है क्या? क्यों पीतल ले आये। तो देखो पीतल तो न थी वह, बस जरा-सी खोट थी, मगर व्यवहार में ऐसा कह दिया जाता है, तो ऐसे ही जब वहाँ देखा कि इसके तो शरीर ही नहीं हैं मायने बना ही नहीं तो शरीर पर दृष्टि ही नहीं गई और चिन्मय पर दृष्टि गई। चैतन्यमात्र है, और दो हैं ना वहाँ, चेतन और शरीर। शरीर तो बना पूरा नहीं, सो वहाँ एकदम ऐसी दृष्टि बना ली कि है ही नहीं शरीर। ऐसा होता है। बात पूरी नहीं है, तो कहते हैं कि है ही नहीं। है नहीं, तो क्या रह गया? वह चिन्मय याने चेतन रह गया। लो चिन्मय से बिगड़कर बन गया चेनुवा। उसकी दृष्टि में शरीर नहीं है। सब यहाँ दिख रहा कि चेतन ही चेतन है। अच्छा, तो अपने इस शरीर को तो बहुत देख रहे, मगर अपने इस चेनुवा को भी तो देखो- अपने भीतर विराजमान जो चिन्मात्र है उसकी कोई खबर नहीं करते, बस शरीर ही शरीर।

1526- कल-कल की नातेदारी का तथ्य–

लोग कहते हैं अरे ! कल-कल क्यों करते, पर कल-कल न करें तो क्या करें? कल के मायने है शरीर। यहाँ ये जो हजारों लोग बैठे हैं वे कल-कल न करें तो फिर क्या करें? तो कल-कल मायने शरीर-शरीर। उस पर तो है लोगों की दृष्टि बहुत और जितना व्यवहार है वह सब शरीर से चल रहा है। यह मेरी नानी, यह मेरी माँ, यह मेरा पिता, यह मेरा ससुर, यह मेरी सास आदिक ये सब शरीर के नाते हैं। भाई किसे कहते हैं? यह शरीर जहाँ से पैदा हुआ वहीं से जो और शरीर निकला हो उसका नाम है भाई। बाप किसे कहते? जिस शरीर से यह शरीर बना उसका नाम है बाप। पुत्र किसे कहते? इस शरीर से जो शरीर बना उसका नाम है बेटा। याने ये शरीर-शरीर के नाते तो दिखे। स्त्री किसे कहते हैं? इस शरीर को रमाने के लिए जो दूसरा शरीर हो उसे कहते हैं स्त्री। कोई-सा भी तो नाता बताओ, सभी नाते इस शरीर के नाते से निकले। आत्मा का नाता किसी से न बनेगा और इसीलिए लोग बिल्कुल सत्य बोल रहे हैं- हमारी इससे नातेदारी है, दारी मायने सम्बंध, ना मायने नहीं, ते मायने तुम्हारा याने वे तेरे कोई सम्बन्धी नहीं ऐसी मेरी इनसे नातेदारी है। ये हमारे कुछ नहीं है बस यह ही सम्बंध है। लोग बोलते तो बहुत सत्य हैं, पर उस पर डटते नहीं। तो ये बाहर में जितने भी पदार्थ हैं, उपाधि जन्य कष्ट हैं, जितने भी भाव हैं वे सब परभाव हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं।

1527- स्वरूप स्वाश्रित धर्म उपयुक्त होने की नि:शंकता की उमंग-

मैं तो केवल एक चिन्मात्र हूँ, तब क्या करना? अपने को चिन्मात्र-स्वरूप जानकर उसको ग्रहण करना मायने उस पर ही अधिक दृष्टि रखें, मैं चिन्मात्र हूँ, चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ। देखो, जो बात अनन्त काल तक रहेगी, क्या रहेगी, इस चैतन्यस्वरूप में मग्न होना यह अनन्त काल तक रहेगा, तो जो बात अनन्त काल तक रहेगी उसके यहाँ थोड़ी देर भी करने बैठते तो उसमें घबराहट क्यों होती? कुछ ठनगन सा क्यों आता, जैसे लड़की को तो ससुराल में जीवनभर रहना है, मगर पहली बार या कुछ कई बार जाती तो वह ठनबन खूब करती, जाने में दु:ख प्रकट करती व रोती है। अरे ! रहना तो जिन्दगीभर है मगर एक दो बार ठनगन चलता है, ऐसे ही इस आत्मा को अनन्त काल तक चैतन्यस्वरूप में रहना है मगर जब तक चैतन्यस्वरूप से इसका एक सम्बन्ध बना तो शुरू-शुरू में यह रहने में ठनगन कर रहा, नहीं रह पाता, उचट जाता; कहीं प्रदेश से बाहर भागता नहीं, जहाँ यह रहा अनादि से, जिस घर में रहा आया उस घर की बराबर प्रतीति तो न रही, पर एक बार उसकी मानों याद-सी जरूर कर लेता। पूर्व का यह संस्कार बना है। भैया, ऐसी एक हिम्मत बनायें कि इस चैतन्यस्वरूप में तो अनन्त काल तक मग्न रहना ही है, फिर अब उसमें घबराहट क्यों होवे? इसका शरण ही यह है, इसका पूरा ही यहाँ से पड़ेगा, ऐसा जानकर इस चैतन्यमात्र भाव को ग्रहण करना चाहिए, और जो अन्य भाव है उनका परित्याग करें। ज्ञानी पुरुष ऐसा करता है। ज्ञानी किसे कहते हैं? जिसको ज्ञान का ज्ञान है उसका नाम है ज्ञानी। अच्छा, उपयोग को देख लो, और जिसको बाहर ही बाहर बाहरी चीजों का ज्ञान है वे बाहरी चीजें हैं उपयोग में, वह ज्ञानी नहीं है। जैसे बतलाया धर्मास्तिकाय, जिसके चित्त में विकल्प है धर्मद्रव्य के बारे में, उपयोग से वहाँ धर्मास्तिकाय है। जड़ को जो सर्वस्व मान रहा है उसे कहते है जड़, जीव की बात कह रहे, वह स्वरूप से जड़ नहीं हुआ, मगर करतूत से जड़ है। जो ज्ञान को जान रहा वह है ज्ञानी। कौन बना ज्ञानी? जिसने आत्मस्वभाव और अनात्मतत्त्व इनका जुदा-जुदा लक्षण जाना है और उन लक्षणों के विभाग पर जिसने अपनी प्रज्ञा छेनी पटकी है, दो टूक किया और विवेक किया मैं यह नहीं, मैं हूँ यह।

1528- सर्व परीक्षणों में स्वभावाश्रय का उद्देश्य-

देखो, प्रभु के उपदेश से अपना काम बना लें। स्वभाव और परभाव का भेद ज्ञात करने में निमित्त-नैमित्तिक योग का सही परिचय वह बहुत सहयोग देता है। ये क्रोधादिक भाव परभाव हैं, यह सिद्ध करने में हमें इन्हीं उपायों से बल मिलता है, इसी कारण बंधाधिकार के अन्त में इन उपायों को बताकर अधिकार पूरा किया कि विचार करते रहो और परभाव को त्यागकर स्वरूप को जानते रहो। निमित्त-नैमित्तिक शब्द ही यह बतलाता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का त्रिकाल भी कर्ता नहीं, उसी शब्द में, उसी योग में यह बात पड़ी हुई है। वस्तु का स्वरूप है कि वह स्वयं परिणमा करे, उसे दूसरा न परिणमायेगा। 6 साधारण गुणों से ही सारी व्यवस्था बन गई। अब असाधारण गुण तो इसके लिए है कि बता दिया कि यह पदार्थ अपने में अपने स्वरूप से परिणमता, मगर वह स्वरूप क्या है? उसकी तो सुध नहीं साधारण गुणों में, तो असाधारण गुण बताया

और विशेष स्पष्ट समझने के लिए साधारण गुण के परिचय ने मदद की सो उपादान की कला को निरखिये कि यह योग्य उपादान, किस-किस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के बीच उपस्थित हुआ, उपादान किस रूप से अपना परिणमन कर लेता है, तो विचार रूप जो परिणमता है सो वहाँ किसी एक वातावरण में, एक विशिष्ट सान्निध्य में उसके यह बात बनी इससे यह समझ में आया, आत्मा में आत्मा के स्वभाव से ऐसा विकार बनने की गुंजाइश नहीं। यह तो एक चैतन्य प्रकाशमात्र है। जब यह उद्देश्य बन जाता है ज्ञानी का कि स्वभाव का आश्रय किए बिना हमारा उद्धार नहीं है, तो वह सर्व उपदेशों से यही ग्रहण करता कि जिससे स्वभाव का परिचय मिले।

1529- विभावरमण के रोगी को रोगी के नुक्शा की ओषधि-

जिसने स्वभावाश्रय का उद्देश्य नहीं बनाया, बल्कि ज्ञान ही नहीं कि हमें क्या करना स्वभाव के आश्रय से तो ऐसे उन निरुद्दिष्ट पुरुषों में विचित्र चर्चायें चलती हैं, अजी वह क्या करे उपादान, निमित्त ने ही परिणति कर दी, वह निमित्त के कर्तृत्व पर उतर आया। जिसको अपने स्वभाव की रुचि नहीं, स्वाभावाश्रय का उद्देश्य नहीं बनाया, उसने ऐसा ही देखा कि देखो जीव ही तो राग कर रहा है, उसका ही तो परिणमन चल रहा है। अरे, उसे दूसरे ने नहीं किया, दूसरा कोई निमित्त भी नहीं, यह तो अपने आप अपने में राग बनाता चला जा रहा है। यद्यपि यह भी एक अशुद्ध निश्चयनय का विषय है, मगर जब कोई बीमारी होती है तो जो कुशल वैद्य है वह इस तरह से चिकित्सा करता है कि कहीं ऐसी प्रतिकूल तेज चिकित्सा न हो जाय कि बजाय फायदे के और खराबी कर जाय। तब ही तो वैद्य चार-छह दवाइयाँ एक साथ मिला लेता। जैसे कोई है तो शीत का रोगी और उसे खूब तेज गरम दवा दी जाय तो शीत तो उसकी मिट जायगी मगर गर्मी बढ़ जायगी जिससे उसका रोग असाध्य बन जायगा, या किसी को गर्मी का रोग हो और उसे शीत दवा दे दी जाय तो वह भी उसके लिए हानिकारक होगी। इसलिए होशियार वैद्य शीत उष्ण दवाओं का मिश्रण करके दवा देता है जिससे उस रोगी का रोग दूर हो जाता है और वह स्वस्थता को प्राप्त हो जाता है। यहाँ स्वस्थता है स्वभावदृष्टि, और रोगी वह है जो परभावों में विश्राम कर रहा। अब परभावों के विश्राम करने वाले रोगी की गुरुजनों ने चिकित्सा की और वह चिकित्सा है नयों का नुक्शा। जैसे एक नुक्शा देने के लिए नुक्शा की कई चीजें लिखी जाती। तो नयों का नुक्शा दिया गुरुजनों ने। अब उस नुक्शा को मिलाकर पियो, जानो, प्रमाण से जाने गए पदार्थ में विवक्षावश, प्रयोजनवश एक किसी अंश को बताना सो नय कहलाता है। जानो, किसी ने यह जाना कि जीव में विकार तो होते ही नहीं, वह है अविकारी। यह एकान्ततः माना, कि उसे इन विकारों को कर्म ने कर डाला ऐसी तेज दवा पिला दी, निमित्त ने किया, यह खुद क्या करेगा? लो, उसे रोग को मेटना था, स्वस्थता को लाना था, और निमित्तकर्तृत्व की दवा दे दी। वहाँ यह नहीं समझ पाया कि बात यों बन रही है कि ऐसे ऐसे अनुकूल निमित्त के सान्निध्य में यह प्रयोगी अपने आपमें ऐसा प्रभाव बनाया करता है। अच्छा तो निमित्तकर्तृत्व का रोग जब आया तो उसे मेटना चाहिए। एक रोग को मिटाने की ऐसी

तेज दवा मिल गई कि दूसरा रोग खड़ा हो गया था। अब इस रोग को दूर करने के लिए ऐसी दवा दी इस रोगी को कि बस यह जीव अपने में अपने से अपनी योग्यता से बस विकार करता चला जा रहा, यह इसका स्वभाव ही है, ऐसा ही इसने अपने में निर्णय बनाया कि मैं ऐसा-ऐसा करता ही रहूँगा, तो अब यहाँ निमित्त-नैमित्तिक योग को छोड़ दिया सो यहाँ दूसरा रोग आया। जब मैं विकार करता ही रहता हूँ अपने ही कारण से, अपनी ही योग्यता से, अपने ही स्वभाव से, तो वह कैसे मिटेगा?

1530- आत्मा के स्वास्थ्य के लिये संतुलित चिकित्सा का आधार-

नयों का यथावसर योग्य प्रयोग करना, यह एक बहुत बड़ा सन्तुलित काम है। कैसे समझना? कुछ कठिन नहीं है, केवल एक लक्ष्य बना लें कि मेरे को तो अपने सहज चैतन्यस्वभाव का आश्रय लेना है। एक लक्ष्य बन जाने पर फिर ज्ञानकला सहज आ जाती। आपको कोई अधिक मेहनत न पड़ेगी, न विचार का श्रम करना होगा विशेष। किसी से पूछने की भी अधिक आवश्यकता नहीं। स्वयं ही तो यह ज्ञानवान है। सब ज्ञान की बातें निकलती जायेंगी एक लक्ष्य को सही बना लेने पर। भैया, जितने विवाद होते हैं उनमें अगर कोई लक्ष्य वाला है, अपने आत्मा पर करुणा रखने वाला है कि मेरे को कषाय न चाहिए, स्वभाव का आश्रय चाहिए, स्वभावदृष्टि रहे, ऐसा अगर लक्ष्य वाला है तो उसको कहीं अड़चन नहीं आ सकती। सबका वह अर्थ सही समझ लेगा। तो स्वभाव का आश्रय करना और उसका लक्ष्य बनाना यह सबसे बड़ा मुख्य काम है? वह स्वभाव क्या? चिन्मात्र, चैतन्यमात्र। सो ऐसा जो चिन्मात्र स्वरूप है वह तो ग्राह्य है और शेषभाव वे सब हेय हैं। क्यों हेय हैं? क्योंकि वे सब परकीय भाव हैं।

1531- निमित्तनैमित्तिक योग के यथार्थ परिचय से विभाव की परभावता व चित्स्वरूप की स्वकीयता का सुगम परिचय-

परकीयभाव जानने में देखिये, करणानुयोग की यह बात बड़ी मदद दे रही कि जो निमित्तभूत कर्मविपाक हैं, इन विपाकी कर्मों में सब पूरे अपने स्वरूप में प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग सब उनमें पड़े हुए हैं। जिस समय बाँधा था तब ही ये पड़ गए थे। उनकी स्थिति पूरी होती है और वे अपने विपाक में आते हैं। जैसे किसी दुष्ट को घर में ठहरा लेवे तो जितनी देर वह घर में ठहरा है वह भले ही दबा हुआ है और घर से निकलता हुआ अपनी कला का परिचय देता हुआ जायगा ऐसे ही ये अनेक प्रकार के अनुभव वाले कर्म जब तक आत्मा में ठहरे हैं तब तक ये दबे-से पड़े हैं, जिस समय ये कर्म इस घर से निकलते हैं तब ये अपना विपाक बरसाते हैं। उदय के मायने क्या? निकलना, जैसे सूर्य का उदय हो रहा, अपने स्थान को छोड़ रहा ऐसे ही कर्म के उदय के मायने क्या? वे कर्म अब यहाँ से निकल रहे, तब ही तो एक दिन कहा था कि पुण्य के उदय से वैभव मिला इसका अर्थ है पुण्य के निकलने से वैभव मिला, और चूंकि वे पुण्यकर्म निरन्तर निकलते रहते हैं, उनके निकलने का ताँता लगा हुआ है इसलिए पुण्य-वैभव भी बना हुआ है। कोई कष्ट होता है तो यह पाप के उदय से हुआ, मायने जो पापकर्म की सत्ता थी उनका निकलना चल रहा और

पापकर्म के निकलने से यह कष्ट हो रहा है। अब पापकर्म के निकलने से का ताँता-सा लगा हुआ है इसलिए बहुत काल तक कष्ट रहता है। तो जब कर्मविपाक उदित होता है तो कर्म में कर्म का अनुभाग खिलता है। वस्तु के स्वरूप का ऐसा निश्चय रखें कि किसी भी समय, किसी भी परिस्थिति में, किसी भी घटना में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ की परिणति को नहीं कर सकता, मगर विकार जब जब भी होते हैं तो उपादान ऐसी योग्यता वाला है, इस प्रकार की वह पर्याय योग्यता है कि वह उपादान किस निमित्त-प्रसंग में वह अपना कैसा रंग बदल लेता है, बस यह ही सर्वत्र नजर आ रहा है। तो वहाँ कर्म में कर्म का विपाक जगा तो यों समझिये कि ठीक जो दर्पण के आगे लाल कपड़ा किया तो वह लाल, लाल कपड़ा है, उसके सान्निध्य में दर्पण की स्वच्छता का, विकाररूप लाल रंग है, ऐसे ही हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से सब कर्म में पड़े हैं, कर्म में उदित हो रहे हैं, कर्म का स्वरूप रंग-ढंग है यह सब कर्म के हिसाब का, पर के सान्निध्य में इस जीव की स्वच्छता का ऐसा विकार हुआ, वह विकार ही हमको यह ज्ञान कराता कि ऐसे-ऐसे कर्म का उदय है, निमित्त का ज्ञान नैमित्तिक कराता है? तो निमित्त का ज्ञान तो नैमित्तिक के ज्ञान से बना कि अहो ऐसा निमित्त है, पर वह नैमित्तिक निमित्त-सन्निधान में हुआ इस कारण से नैमित्तिक कहलाता, तो इस विधि से जो जान रहा है उसको समझने में कषाय परभाव है, यह भली-भाँति घर कर जाता, परभाव है, इससे मेरा क्या मतलब? मैं तो एक चैतन्यमात्र तत्त्व हूँ।

1532- परभावों के वैचित्र्य का दिग्दर्शन-

ज्ञानी चाहता है कि मैं चिन्मय भावमात्र हूँ और ये सब औदयिक भाव परभाव हैं। ऐसा जानता हुआ कोई ज्ञानी किस परभाव को कह सकेगा कि यह मेरा है? जैसे यहाँ लोग दूसरे के लड़के को कब कहते हैं कि यह मेरा है? कभी खुद के लड़के का और पड़ोस के लड़के का झगड़ा हो जाय और उसमें यह अपने लड़के को डाटे और मारे और दूसरे लड़के को कुछ न कहे तो क्या आप यह जान रहे हैं कि इसको उस दूसरे लड़के से प्रेम उत्पन्न हुआ है इस कारण दूसरे के लड़के को यह कुछ नहीं कह रहा। अपने लड़के से प्रेम है तेज इस कारण अपने लड़के को मार रहा है। भीतरी बात देखो, भले ही देखने में ऐसा लग रहा कि यह बड़ा निष्पक्ष है, इसको कुछ भी ममता नहीं है अपने लड़के से, तो देखो यह अपने लड़के को मार रहा और उसे बड़ा पक्ष है अपने लड़के का, उससे बड़ी ममता है सो मार रहा। वह एक लौकिक नीति की विधि है, परिणाम तो भीतर के भीतर है, कुछ बाहरी चेष्टा से क्या अंदाज कर सकते? कोई लड़का छत की मुँड़ेर पर खड़ा, जरा-सा झुक रहा है माँ ने देखा तो वह झट उठती है यह कहते हुए कि अरे ! मर जा और लड़के को जोर से अपने पैरों में या गोद में या यों ही वहीं छत में पटक देती है। अब बताओ क्या उसके द्वेष है उस बालक से? अरे ! उसे बड़ा राग उत्पन्न हुआ, बड़ी तेज ममता है इसलिए वह मारती है उस लड़के को, तो यह बाहरी प्रवृत्ति है, इसमें हम क्या निर्णय बनायें? कोई पुरुष द्वेषी है, सुहाता नहीं, परिस्थिति कुछ और है तो वह बड़ी अच्छी बात कहता है, बड़े प्रेम की बात बोलता, मगर उसका कुछ निर्णय है क्योंकि वह

सुहाता नहीं है? माँ ने मरना कहा तो भी द्वेष सिद्ध नहीं हो रहा, एक मायावी जीव ने प्रेम की बात भी कही तो भी उससे प्रीति सिद्ध नहीं होती, बाहरी चेष्टाओं से हम क्या जानें?

1533- निमित्तसान्निध्य व स्वच्छताविकार का बोध और निष्पादन-

ये परभाव जो भीतर उत्पन्न हो रहे, जितनी तरह के होते हैं, जीव के उतनी तरह के कर्म के विपाक हैं। यहाँ कार्य को देखकर कारण का अनुमान होता, पर कार्य से कारण हो सो बात नहीं। काम में तो कारण से कार्य हुआ, मगर कार्य के ज्ञान से हुआ कारण का अनुमान। अगर नदी में पूर आ गया तो पूर देखकर यह ज्ञान करते कि ऊपर बड़ी तेज वर्षा हुई, तो क्या वहाँ यह कहेंगे कि पूर आने से तेज वर्षा हुई है, यह तो न बोला जायगा। पूर देखने में ऊपर वर्षा हुई है इसका ज्ञान तो हुआ मगर इधर वर्षा हुई है इसलिए पूर आया, यों चलेगी क्या बात? तो ये परभाव इसी प्रकार तो है कि उस जाति के कर्मविपाक हुए, उस सान्निध्य में इस जीव ने अपनी स्वच्छता में विकार बना लिया। ऐसा रोज देखते ही है कि दर्पण के आगे हाथ किया तो दर्पण में उस प्रकार का स्वच्छता विकार बना, दर्पण के उस विकार को देखकर यह तो ज्ञान बनेगा कि पीछे उस लड़के ने हाथ उठाया मगर यह न कहा जायगा कि दर्पण के फोटो वाले हाथ से लड़के का हाथ बना, किन्तु बच्चे का हाथ सामने आया उसका निमित्त-नैमित्तिक का प्रयोग निमित्त-नैमित्तिक ढंग से ही होगा। नैमित्तिक के ज्ञान से निमित्त का ज्ञान हुआ किन्तु निमित्त के सान्निध्य में नैमित्तिक कार्य हुआ यही विधान निष्पत्ति का है। जाना, ये परभाव हैं, अब यह ज्ञानी उन परभावों को क्यों ग्रहण करेगा? वह जानता है कि इसमें मेरा स्वत्व नहीं है। मैं तो एक परम ज्योति चिन्मय मात्र हूँ।

कलश 185

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभि: सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योति: सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावा: पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥185॥

1534- उदात्तचित्त मोक्षार्थियों को अपरिवर्त्य एक सिद्धान्त की सेवा का आदेश-

जिनका चित्त और चरित्र उदात्त है, श्रेष्ठ है ऐसे मोक्ष चाहने वाले पुरुषों को एक चिन्मात्र अंतस्तत्त्व की ही सेवा करना चाहिए। जिनका चित्त उदात्त है उनको सम्बोधा गया है, उनके लिए आचार्यदेव ने निर्देश किया, क्योंकि जिनके चित्त में श्रेष्ठता नहीं, जिनका चित्त माया (कपट) से उलझा हुआ है, मोह-ममता की वासना

से जिनका चित्त अनुवासित है ऐसे चित्त वालों को समझाने के मायने जैसे अहाने में कहते हैं कि भैंस के आगे बीन बजाना। होगा कोई ऐसा आदमी, साँप के आगे तो बहुत बीन बजाते मगर कोई भैंस के आगे बजाने लगे तो उसे कुछ भान नहीं होता, तो ऐसे ही पात्र को सम्बोधा है, और इससे यह शिक्षा लेना है कि अपना पहला काम है अपने हृदय की सफाई रखना। जिसके चित्त में उदात्तता नहीं उनको धर्म में प्रगति का कोई मौका नहीं। जब संसार छोड़ने का हम प्रोग्राम बनाते हैं, मुक्ति में जाना चाहते हैं तो मोक्ष जाने का तो हम मन में भाव रखें और यहाँ संसारी जीवों में मेरा-तेरा, अच्छा-बुरा अथवा किसी भी प्रकार का ईर्ष्या, विरोध, मात्सर्य कुछ भी चित्त में चलें तो भला इतना तो सोचना चाहिए कि हम सदा कि लिए इस संसार को छोड़कर जाने के प्रोग्राम में लगे हैं या मोक्ष जाने के। तो जिनको हम छोड़कर जा रहे उनमें हम निग्रह-विग्रह क्यों करें, मायने उनमें हम माया, कपट की बात क्यों बनायें? सबको एक समान निरखें, अपने नाना प्रकार के सुकर्तव्यों से चित्त को श्रेष्ठ बनाना हमारा पहला कर्तव्य है। चित्त श्रेष्ठ बनेगा मिथ्यात्व के दूर होने से और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों के मंद होने से। कषाय सब दूर हो गए तब तो और भी उत्कृष्ट है, मगर इस समय हम आपकी कषायें दूर हो जायें यह जरा सम्भावित नहीं है इसलिए इन कषायों को मंद तो कर लिया जावे और यह सम्भावना है कि हम मिथ्यात्व को मूल से उखाड़ दें, क्षायिक सम्यक्त्व आज नहीं है मगर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो होता है, औपशमिक सम्यक्त्व तो होता है। यों एक बार अपने अन्दर विराजमान उस चिन्मात्र तत्त्व के दर्शन तो कर लीजिए। अब तक जगत में बहुत से पदार्थों को शरण मानते आये, मगर ज्यों-ज्यों उन्हें शरण मानते गये त्यों-त्यों वे असहाय बने और शरण की मान्यता छोड़ दी तो अब यह शरण मिल जायगा अपने आपका। बाह्य पदार्थों में शरण की मान्यता करना अपने आपको अशरण बनाना है। चित्त में उदात्तता आये, कषायें मंद हों, मिथ्यात्व दूर हो।

1535- उदात्तचरित्र मोक्षार्थियों को अपरिवर्त्य हितकारी एक सिद्धान्त की सेवा का आदेश-

उदात्त चित्त की तरह जिनका चारित्र भी उदात्त है, श्रेष्ठ है, व्यसनों से रहित है, पापवासना से रहित है, ऐसे मोक्षार्थी पुरुषों को आचार्य महाराज सम्बोध रहे हैं, कि एक चिन्मय तत्त्व की सेवा करो। देखिये, कुछ अपना चारित्र उत्तम न हो, योग्य न हो तो वहाँ सम्यक्त्व की पात्रता नहीं होती, भले ही संयमासंयम सम्यक्त्व के बाद या साथ होता है, उसकी बात नहीं कह रहे, मगर पहले ही अज्ञान अवस्था में भी यदि कोई सप्त व्यसनों का सेवन करने वाला है, जुआ, मदिरा, मांस, वेश्या-सेवन आदि में आसक्त है वह पुरुष आत्मा की सुध लेने का पात्र कैसे हो सकता है? बहुत दिनों तक तो यह रिवाज था कि जो सप्तव्यसन वाला हो वह भगवान की पूजा नहीं कर सकता, जब पुराने बड़े लोग थे तो वहाँ कुछ कायदे थे, जो वेश्यागामी हो, परस्त्रीसेवन करने वाला हो, मांस-भक्षी हो, शराब पीता हो उसको पूजा करने की मनाही थी। जो पुराने लोग होंगे उन्हें ख्याल होगा, तो कुछ चरित्र ऐसे हैं जो प्रारम्भिक होते हैं, जिन्हें कहते हैं पाक्षिक, याने जैन-दर्शन का अगर पक्ष हैं कि मैं जैन हूँ, मुझे कुछ करना चाहिए वह प्रतिमाधारी नहीं हो, किन्तु पाक्षिक तो है,

उसका भी चारित्र उज्ज्वल होता है। तो जिनका चित्त और चारित्र उज्ज्वल है ऐसे मोक्षार्थी पुरुषों को एक इस चिन्मय अंतस्तत्त्व की भावना करना चाहिए, क्योंकि यह मैं एक परम ज्योतिमात्र हूँ। मैं कौन हूँ? इसके उत्तर में अगर यह बात आये कि मैं मिट जाने वाला हूँ, मैं वह हूँ जो मिट जाता हूँ, ऐसा तो कोई उत्तर देगा भी नहीं, चाहे वह कितना ही बरबाद हो मगर वह भीतर में चाह न करेगा कि मैं वह हूँ जो मिट जाने वाला हूँ। हर एक कोई अपने को ध्रुव चाहता है और क्रियाकलापों में देख लो, किसी को अगर कहा जाय कि भाई तुम खोंचा फेरते हो 50) की अपनी पूंजी से तुम दिन-भर अपना उपाय करते हो, हम तुमको दिन-भर के लिए पूरा राज्य सौंपे देते हैं मगर एक शर्त है कि परसों के दिन तुमसे हम सब कुछ छुडा़ लेंगे, और तुम्हारे पास जो 50) की पूंजी है उसको भी छुड़ा लेंगे, तो क्या वह इस बात को पसंद करेगा? न करेगा। अरे ! वह तो यह कहेगा कि हमको तो वह खोंचा ही अच्छा है, जो सदा निभता रहे वही स्थिति मैं चाहता हूँ। यह जीव इन लौकिक प्रसंगों में भी कभी न चाहेगा कि मैं एक वर्ष को बड़ा बन जाऊँ और दूसरे वर्ष में सब गिर जाय। चाहे गिर जाय यह उदय की बात है मगर किसी को यह प्रतीक्षा नहीं। अपने आपके बारे में ध्रुव रहने की आकांक्षा है। सो भाई यही तो कहा जा रहा है कि जो ध्रुव है उसे मानो कि यह मैं हूँ तब तो बात बनेगी और अध्रुव का संग्रह करे और अपने में चाहे कि मैं ध्रुव रहूँ, सो कैसे बने। ध्रुव का आश्रय लो, तुम ध्रुव ही तो हो। ध्रुव तत्त्व है एक चैतन्यमात्र स्वरूप।

1536- चिन्मय ध्रुव तत्त्व की सेवा का ही एकमात्र सिद्धान्त-

एक बात और समझें, हमारा उपयोग किसी तत्त्व का आश्रय करता है, उस पर उपयोग टिकता नहीं है। किसी एक बात पर यह उपयोग जमकर रहता नहीं है यह गलती है हमारी कि हमारा उपयोग जमता नहीं है तो इस ओर से कमी आयी कि नहीं? और उपयोग उसको विषय करे जो विषय खुद टिकता नहीं है, तो अब यहाँ दोनों ओर से आफत आ गई। जैसे ये बाहरी दृश्यमान पदार्थ अध्रुव हैं, विनाशीक हैं, जिन पर हमारा अधिकार नहीं उनको हम जानते हैं, सोचते हैं, उपयोग उनको विषय करता है, उनका आश्रय लेता है तो पहले तो यह उपयोग ही चंचल है और फिर जिसका आश्रय किया वह भी चंचल है, अब यहाँ से ये विषयभूत पदार्थ खिसके कि लो अब उपयोग को आश्रय क्या रहा तो उपयोग भी खिसका, उपयोग भी मिटा। यह उपयोग खुद हटने का आदत बनाये हुए हैं। तो इस वक्त कम से कम इतनी तो गुंजाइश बनावें कि हमारा उपयोग अगर हटता है, नहीं टिकता तो एक ओर से गलती है, सो रहे पर विषय की तो गलती न करें, विषय तो ध्रुव पदार्थ का करें और अपने स्वरूप में करें वहाँ केवल एक ओर से ही तो चंचलता चलेगी। इसमें इस ध्रुव तत्त्व की ओर से, इस अंत:स्वभाव की ओर से धोखा तो न होगा कि यह यहाँ से खिसक जायगा। इसलिए आश्रय करें तो उस ध्रुव चैतन्य स्वरूप का आश्रय लें, और यह बहुत सम्भावना है कि ध्रुव से आश्रय लें तो यह उपयोग भी कभी सतत् धारा में अच्छी तरह से ध्रुव बन जायगा। यह नया-नया बनता है, यह ध्रुव नहीं होता, मगर एक धारा में ज्ञान चले तो वह ध्रुवज्ञानी ही है। तो हम आपको एक निर्णय रखना

है जिन्दगी में कि हमारा शरण, हमारा रक्षक, हमारा आश्रेय, मेरे में ही विराजमान जो सहज स्वरूप है बस उसका सहारा लेना है। अन्यभाव, अन्य पदार्थ आश्रय के योग्य नहीं है, यह अपना निर्णय करें फिर परिस्थितिवश हमको यह ही रहे कि मेरा जो एक सहज स्वरूप है बस वही मेरा सत्य है, वही मेरा शरण है, वही स्पष्ट है, स्वाधीन है, निरपेक्ष है, निज की बात है, इसके अतिरिक्त जो विभाव आते हैं वे अध्रुव हैं तो यह है सिद्धान्त।

1537- मुख्यसिद्धान्तसाधक सिद्धान्तों की मुख्यसिद्धान्तसाधना के लिये कदाचित् प्रयोजनवत्ता-

हम कौनसा सिद्धान्त लेकर जीवन में चलें? ऐसा कोई प्रश्न करे कि एकमात्र जिसकी बदल न हो वह बतलाओ। तो वह है यह सिद्धान्त कि अपना जो एक सहज चैतन्यस्वरूप है वहाँ दृष्टि दें कि मैं यह हूँ, यह घूमने वाला, यह शरीर वाला, यह कषाय वाला, यह कर्मबंध वाला, यह मैं नहीं; हालांकि परिस्थिति ऐसी चल रही है मगर स्वरूप मेरा यह नहीं, मैं स्वरूपमात्र हूँ। बीते, यह बात अलग है, मैं एक परम ज्योतिस्वरूप हूँ, अन्य भाव सब मेरे से पृथक् हैं, यह है सिद्धान्त, जिसके अनुसार हमको चलना है। इसके अतिरिक्त और भी सिद्धान्त बनते हैं मगर वे बदल जाते हैं, जैसे किसी पुरुष को समझाया कि भाई ! देखो, तुम देवदर्शन किया करो और इसके बिना जीवन बेकार है, तो उस काल में वह उपादेय है, करना, मगर देवदर्शन या अन्य-अन्य बातें यही करते रहना है क्या अनन्तकाल तक, इसका तो उत्तर दीजिए।

1538- चिन्मयतत्त्वसेवातिरिक्त अन्य भाव की ससीम उपासनीयता का एक उदाहरण-

एक छंद है 'तवपादौमम हृदये, मम हृदयं तव पद्द्वयेलीनं तिष्ठतुजिनेन्द्र ताक्द्यावन्निर्वाणसंप्राप्ति:'। इसी का एक अनुवाद है- तुवपद मेरे हिय में, मम हिय तेरे पुनीत चरणों में। जब शुरू शुरू में हम सागर विद्यालय पहुँचे, उस समय हमारी उम्र कोई पौने आठ वर्ष की थी, तो वहाँ गुरू गणेशप्रसाद वर्णीजी हमारी परीक्षा लेने लगे- एक संस्कृत का छन्द पढ़वाया। वह था 'तव पादौमम हृदये मम हृदयं तव पद्द्वयेलीनं, तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाण संप्राप्ति:'। और कहा इसका अर्थ करो। अब हमने संस्कृत तो पढ़ा न था पर हिन्दी में ऐसा ही सुन रखा था, घर पर चाचा पूजा पढ़ाया करते थे सो कहा ऐसा ही हिन्दी में भी तो कहा है ''तुव पद मेरे हिय में मम हिय तेरे पुनीत चरणन में।'' तो वहाँ सही उत्तर पाकर गुरूजी हम पर प्रसन्न हुए और झट पास कर दिया और छठी कक्षा में हमको भर्ती कर लिया। हिन्दी में ऐसा है ना तुव पद मेरे हिय में, कि हे प्रभो ! तुम्हारे चरण मेरे हृदय में रहें और मेरा हृदय तुम्हारे चरणों में रहे। क्या अनन्ताकाल तक के लिए आप चाहते हो कि प्रभु के चरण मेरे हृदय में रहें? देखो, इस ज्ञानी पुरुष को भगवान की मुँहजोरी करने में जरा भी लाज नहीं आयी। यह बोला कि तब तक रहें प्रभु के चरण मेरे हृदय में तब तक कि मेरे को मोक्षपद की प्राप्ति न हो, भला किसी धनी से थोड़ा ऐसा भी तो कहो कि हम आपकी तब तक सेवा करते है तब तक कि हम आपसे अपना स्वार्थ न सिद्ध कर लें। ऐसा सुनकर वह धनी कुछ भला मानेगा क्या? अरे ! उसे तो यह बात सुनकर बुरा लगेगा, पर भगवान किसी की बात सुनकर बुरा नहीं मानते कि यह ज्ञानी मुझको यह कह

रहा जानकर, और इस ज्ञानी को कुछ संकोच नहीं। जब एक सिद्धान्त, एक रास्ता, एक मार्ग प्रभुत्व का मिला, तब वहाँ संकोच की कुछ बात नहीं, भगवान दूर नहीं हैं भक्त से, जो बहुत दूर हो उससे डर लगता है, जो दूर नहीं रहता है उससे डर मिट जाता है। भगवान भक्त से दूर नहीं है, भगवान के निकट है भक्त, इस कारण एकदम साफ कह रहा है कि ''तुव पद मेरे हिय में, मम हिय तेरे पुनीत चरणों में, तव लौ लीन रहे प्रभु.....जव लौ प्राप्ति न मुक्ति पद की हो। प्रभु तत्त्वस्वरूप है, यह तत्त्व प्रेमी है, वहाँ संकोच की बात नहीं है।

1539- विभावों से लगाव हटने पर आश्रयभूत पदार्थों से हटाव की स्वयंनिष्पन्नता-

तो एक चैतन्यमात्र तत्त्व की उपासना के अलावा जितने भी भाव हैं- शुभोपयोग के हों, अशुभोपयोग के हों, ये सभी परभाव हैं और ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, मेरे स्वरूप से पृथक् लक्षण वाले हैं, वे सब भाव मैं नहीं हूँ। अब देखिये, अपनी जिन्दगी में जहाँ कर्तव्य यह है कि अपने में उठने वाले जो औदयिक भाव हैं ये औदयिक भाव याने कर्मविपाक के उदय काल में जो इस जीव के प्रतिफलन और विकल्प जगे हैं वे सारे भाव मेरे नहीं हैं तो फिर और मेरे क्या होंगे? इन भावों में से, ममता हट जाय तो बाह्य सारे पदार्थों में ममता करेगा कौन? जब अपने आपमें उत्पन्न हुए इन औपाधिक भावों को भी अपनाया नहीं और उसकी विभिन्नता स्पष्ट नजर आ जाय तब फिर बाह्य विषयों में ममता करेगा ही किस तरह से? जैसे एक बच्चों की कहानी है कि किसी गीदड़नी ने (स्यालिनी ने) एक शेर की गुफा में बच्चों को जन्म दिया। अब स्याल ने सोचा कि इसमें तो शेर आयगा तो बच्चे खा जायगा, सो उससे बचने का एक उपाय रचा। क्या किया कि स्यालिनी को तो सीखा दिया कि यहाँ जब शेर आवे तो तुम बच्चों को रुला देना, जब हम पूछे कि ये बच्चे क्यों रोते हैं तो कहना कि ये बच्चे शेर का मांस खाने को माँगते हैं... बस हम काम बना लेंगे।...ठीक है। अब वह स्याल तो वही ऊपर किसी टीले पर बैठ गया, जब कभी शेर आये तो स्यालिनी नीचे से बच्चों को रुलावे, ऊपर से स्याल बच्चों के रोने का कारण पूछे, स्यालिनी बोले कि ये बच्चे शेर का मांस खाने को माँगते हैं तो झट शेर डर के मारे दूर भाग खड़े हों। यों अनेक शेर तंग आ गए। एक दिन कई शेरों ने सलाह की कि देखो यह जो ऊपर टीले पर स्याल बैठा है इसकी सब बदमाशी मालूम होती है, चलो अपन सब चलकर उसको पकड़ कर मार दें।...ठीक है। आखिर आ तो गए मारने, पर उस टीले पर चढ़े कैसे? सो सलाह हुई कि एक शेर पर एक, यों सब चढ़कर ऊपर पहुँचे और मार दें।...पर नीचे कौन शेर खड़ा हो?...यह लँगड़ा शेर, क्योंकि यह ऊपर नहीं चढ़ सकेगा। अब नीचे तो लँगड़ा शेर खड़ा हुआ और उसके ऊपर एक पर एक चढ़ गए। जब ऊपर पहुँचने ही वाले थे कि स्यालिनी ने झट बच्चों को रुला दिया, स्याल ने पूछा ये बच्चे क्यों रोते हैं? तो स्यालिनी बोली, ये बच्चे लंगड़े शेर का मांस खाने को माँगते हैं। तो यह बात सुनकर लँगड़ा शेर डरा, नीचे से खिसका तो सारे के सारे शेर भद-भदकर गिरे और भगे। तो ऐसे ही इन औदयिक भावों को लँगड़ा शेर जैसा समझो, ये मजबूत नहीं हैं, आत्मा के स्वभाव से ये नहीं हुए, आत्मा

उन्हें अंगीकार नहीं करता और कर्मों की यह परिणति नहीं। हुए कर्मों के उदयकाल में और कर्मों का निमित्त पाकर ही हुए मगर कर्म की वह परिणति नहीं, और कर्म की भी परिणति हो, जो कर्म में है तो वह भी तो अध्रुव है। इसका पाया मजबूत नहीं है, यदि ऐसा यह लँगड़ा शेर यहाँ से अलग निकल जाय तो हम आप पर जो ये बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध के उपद्रव बन रहे हैं वे सब शान्त हो जावें।

1540- चिन्मयभावातिरिक्त अन्य भावों की परभावरूपता का दिग्दर्शन-

देखो- यह मैं आत्मा एक शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। शेष जो अन्य भाव हैं ये सब मेरे से पृथक् लक्षण वाले है, मेरे स्वरूप नहीं है। कौन-कौनसे भाव? तो ये ही भाव सब मार्गणा हैं, गुणस्थान हैं। जो-जो भी बातें चल रही हैं ये सब पृथक् लक्षण वाले हैं। आप कहेंगे कि गुणस्थान के कैसे पृथक् लक्षण हैं, ये तो बड़े अच्छे हैं। अब 12 वाँ गुणस्थान हो गया, अब 13 वाँ गुणस्थान हो गया। देखो 13 वें गुणस्थान तक आस्रव है। 11, 12, 13 गुणस्थान में ईर्यापथास्रय है, यहाँ स्थिति न बनेगी। आया राग और गया। आप देखो समयसार में बताया कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार आश्रव हैं, और उसके भेद हैं 13, पहले गुणस्थान से 13 वें गुणस्थान तक। अच्छा, तो किस विधि से देखना? उन गुणस्थानों में जो विकास है वह विकास तो है मगर उसकी मुख्यता से न देखना, किन्तु वहाँ जो कमी है केवल उस पर विचार करना। भगवान हो गए, योग है, एक ही ढंग की बात कही। तो जो कमी रह गई है उस कमी से आस्रव कहा गया है, वह स्वभावरूप तो नहीं है और वह गुणस्थान बना ही उस कमी के कारण। इतना विकास होने के बावजूद जो कमी रह गई उस कमी ने गुणस्थान का नाम धराया, रूप बनाया और वह अंश आस्रवरूप है। तो एक चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्व के अतिरिक्त अन्य जितने भी भाव हैं वे भाव प्रतिकूल लक्षण वाले हैं। मैं हूँ चैतन्यस्वरूप और क्रोधादिक भाव ये है विभावरूप। ऐसा अपने में और परभावों में भेद जानकर अपने को ग्रहण करें, ग्रहण करने के मायने उस रूप अपने को अनुभवन करें और शेष परभावों का परित्याग करें याने उनकी उपेक्षा करना।

1541- समग्र परभावों की परद्रव्यता के रूप में दर्शन-

ये परभाव क्या हैं? ये समग्र भाव परभाव हैं, अरे ! जिससे मुख मोड़ना है, जिसकी उपेक्षा करना है उसको तो भले प्रकार अतिशय करके अतिरेक करके, भी एक परतत्त्व के निर्णय में ले चलें ऐसा लोग करते ही हैं। अभी कोई स्वर्ण बेचने वाला आया और उस स्वर्ण को किसी जौहरी ने लेकर अपनी कसौटी पर कसा, उस जौहरी को रुचि थी शुद्ध स्वर्ण का व्यापार करने की, सो उसने जब कसौटी पर कसकर देखा तो उसमें कोई दो तीन आने भी खोट थी सो वह झिल्लाकर बोला- अरे तू क्या पीतल लाया? अब भला बतलाओ वह पीतल थी क्या? था तो स्वर्ण, बस जरा-सी खोट थी, लेकिन वह तो जौहरी के एक मुड की बात थी सो वैसा कहा, उस समय उसकी वैसी ही दृष्टि थी, शुद्ध स्वर्ण निरखने की उसकी रुचि थी, ऐसी दृष्टि में अशुद्ध पदार्थ उसके लिए परद्रव्य हो गया। याने जिस परद्रव्य का निमित्त पाकर ये परभाव हुए उनको उस खतौनी में डाला इस ज्ञानी ने। जानो, तुम परद्रव्य स्वरूप नहीं हो, अपने आपको अति विशुद्ध

चैतन्यमात्र निरखने के मुड में यह ज्ञानी पुरुष निर्णय दे रहा है कि वे सारे भाव समग्र परद्रव्य हैं, उससे मेरी कोई रुचि नहीं। एक चैतन्यमात्र तत्त्व को निरखना यह है सिद्धान्त, जो अकाट्य है, जो जीवन में बदलने के काबिल नहीं। बढ़ते चले जावो, यह ही बात मिलेगी अन्त तक कि यह चिन्मय, जब शरीरादि निगाह में नहीं रहता तब केवल एक वह चिन्मय चैतन्यमात्र तत्त्व की दृष्टि में रहता। बस इस सिद्धान्त का सेवन करना चाहिए कि मैं चैतन्यमात्र ही हूँ, अन्य भावरूप नहीं, भावना बने, ध्यान करें, कोई समय निकालें, बार-बार ऐसा भीतर सोचें या कहीं पड़े हुए भी किसी भी जगह सोचें। आत्म चिन्तन चलना चाहिए अन्यथा यह माया यह सब मिट जायगी, मरण हो ही जायगा और इस अमूल्य मानव जीवन का फिर लाभ जो मिल सकता था वह न पा सके तो आगे क्या भवितव्य होगा, सो यह संसार जो दिख रहा है, दुर्दशा के लिये यह ही प्रमाणभूत है कि ऐसा ही भवितव्य होगा।

कलश 186

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यति: ॥186॥

1542- परद्रव्य के ग्रहण में अपराध-

प्रकरण में यह बताया जा रहा है कि आत्मा का तो एक शुद्ध चिन्मयभाव ही सर्वस्व है, और ये उत्पन्न होने वाले नैमित्तिकभाव, क्रोधादिकभाव ये मेरे नहीं हैं और इसे यहाँ तक कह दिया कि ये समग्रभाव तो परद्रव्य हैं, वे यद्यपि भाव-भाव हैं और वे हैं आत्मा के ज्ञानविकल्परूप, किन्तु वे नैमित्तिक हैं। जिस उपाधि का निमित्त पाकर हुए हैं उन भावों को दूर करने के अभिप्राय से, उनकी अत्यन्त उपेक्षा करने के आश्रय से उन भावों का सम्बंध जोड़ा निमित्त से। परिणति की वर्तमानता से ये मेरे भाव हैं। जैसे यहाँ भी तो दर्पण में फोटो निरखकर कहते ना कि यह मेरी फोटो है, यद्यपि निमित्तनैमित्तिक नाते से उसको निमित्त के पास पहुँचाया जाता है। अच्छा, और फिर इतना ही नहीं किया, किन्तु उसको उस रूप मानकर कहते हैं कि ये परभाव परद्रव्य है। तात्पर्य यह है कि अपना भाव है शुद्ध चेतनाप्रकाश और उसकी नैमित्तिक दशायें जितनी हैं वे सब औपाधिकभाव हैं, ये हैं परद्रव्य। सो कहते हैं कि परद्रव्य को जो ग्रहण करेगा वह अपराधी है और जो स्वद्रव्य को ग्रहण करेगा वह निरपराधी है। जैसे लोक में भी जो परद्रव्य को ग्रहण करता है वह अपराध ही तो करता है, विकल्पजाल होता है, उसके बंध की शंका रहती है, बंध होता है, और जो पुरुष शुद्ध आचरण से रहता हो किसी दूसरे की चीज को नहीं चुराता, नहीं ग्रहण करता वह अपराधी नहीं है। उसके बंध की शंका नहीं, ऐसे ही आत्मा का जो भाव है, स्वभाव चैतन्यमात्र उसको जो ग्रहण करता है उसके बंध की शंका

नहीं। और, जो अपने इस स्वभाव को त्यागकर, इसकी सुध छोड़कर इन औदयिक कषायादिक भावों को जो ग्रहण करता है याने इन रूप अपने को मानता है उसके बंध की शंका होती है, बंध है। क्यों होता है बंध? क्योंकि यह अपराधी है। अपराध मायने परद्रव्य को ग्रहण करना।

1543- सापराध व निरपराध का निर्देशन-

अपराध शब्द का अर्थ क्या है? अप मायने दूर हो गया, अपगत हो गया, राध मायने सिद्धि जिसकी, याने आत्मा की दृष्टि को राध कहते हैं। वह राध जिसके पास नहीं है वह पुरुष अपराधी है। और राधा को ले ले तो निरपराध है। राध के मायने आत्मदृष्टि, आत्मोपलब्धि। अपने ज्ञान में आत्मस्वरूप आये उसे कहते हैं राध। भगवान पार्श्वनाथ राधेश्याम हैं, क्योंकि श्याम तो वह हैं ही। भगवान पार्श्वनाथ का रंग बताया गया श्याम और उनके राध और लगी हुई है, सिद्धि, आत्मा की उपलब्धि, सो वे प्रभु पारसनाथ राधेश्याम हैं। यहाँ भी हम आप बनाते ना राधेश्याम। शरीर की बात नहीं कह रहे किन्तु यहाँ इन कषायों को हटाने के लिये, मारने के लिए हम श्याम बनाते, काला बनाते, ऐसा विशुद्ध परिणाम होवे कि ये रागादिक भाव दूर हों तो क्या मिले राध, सिद्धि, आत्मा की दृष्टि। तो यह राध जिसके पास नहीं है वह है अपराधी। और जिसको राध मिल गई, कहाँ मिल गई? कहीं बाहर नहीं है, अपने आपके स्वरूप में है, यह दृष्टि बस वह निरपराध है। अच्छा यह आत्मा अपराध क्यों करता है? यह खुद अशुद्ध होता हुआ अपराध करता है। शुद्ध की दृष्टि हो वहाँ भी अपराध नहीं, फिर जो शुद्ध हो उसका तो अपराध ही क्या? भगवान अरहंत सिद्ध ये पूर्णतया निरपराध हैं, शुद्ध हैं। तो यह जीव अशुद्ध होता हुआ परद्रव्यों को ग्रहण करने रूप अपराध करता है।

1544- वैभाविकभावों की परद्रव्यरूपता-

जिसका ग्रहण करना अपराध है वह परद्रव्य कौनसा? आत्मा में उठे हुये क्रोधादिकभाव, इनकी चर्चा है यह। कहीं दूसरे के घर में कोई चीज धरी हो और उसको उठाये तो उसे अपराध कहें, इसकी चर्चा नहीं है। अपराध तो वह भी है मगर चीज उठाने से अपराध नहीं। दूसरे की चीज लेने का भीतर में जो भाव बना, और ऐसे जो विभावों को अपना रहा, अपराध कर रहा, वह चोर। बाहरी प्रवृत्ति अपराध नहीं। बाहरी प्रवृत्ति से पाप नहीं। तो फिर आप कहेंगे कि फिर तो जो चाहे प्रवृत्ति करें, सो बात नहीं। भीतर में हिंसा, झूठ, चोरी आदिक के भाव होना, पर पदार्थों के प्रति राग होना, अपने आपमें इच्छा होना, लगाव रहना, अगर यह नहीं है और आपकी प्रवृत्ति हो रही है तो आपको बंध नहीं है, पर निरीक्षण तो करें कि जितनी हम प्रवृत्तियाँ करते हैं उनके साथ हमारे ये खोटे भाव, ये विभाव के लगाव बने हैं, कि नहीं बने हैं? वे तो बने हुए हैं, तो इस कारण से पाप का बंध है। कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती हैं, तो उसका निमित्त केवल जीव के विभाव परिणम हैं। हाथ कैसे उठायें, पैर कैसे रखें, ये निमित्त नहीं हैं कार्माणवर्गणाओं के कर्मरूप परिणमन होने का, किन्तु मोह और योग निमित्त है। तो सर्वत्र यह ही बात आप देखिये कि बाहरी पदार्थों में जो जीव लगा हुआ है उसके भीतर तद्विषकक राग है, उस राग के कारण बंध है, हाथ उठाने-धरने के कारण बंध नहीं, मगर

तत्त्व को जो नहीं जानता और कहीं सुन लिया ऐसा कि देखो वहाँ लिखा था कि प्रवृत्ति से बंध नहीं होता तो करें खूब खोटी प्रवृत्तियाँ, पर यह भी तो सुना नहीं क्या कि प्रवृत्ति विषयक, पदार्थ विषयक राग हो और अपने में उठे हुए राग-विभाव में लगाव हो तो कर्मबंध होता है। यह तो अनसुनी कर देवें, और चूंकि विषयों में राग है सो प्रवृत्ति से बंध नहीं होता, उसमें खूब लग जावें तो यह तो उसका मिथ्याआशय है। परद्रव्य को ग्रहण करने के मायने है आत्मा में उठे हुये विभावों को अपनाना। जो विभावों को अपनाता है, उनको ग्रहण करता है उसके निश्चय बंध है।

1545- स्वभाव व परभाव का निर्देशन-

बात बहुत पहले से यह चली आ रही है स्वभाव और परभाव। स्वभाव तो है चैतन्यप्रकाश और परभाव हैं कषायादिक, इसको पहले युक्तियों से सिद्ध किया था, और यहाँ फिर बताया के परभावों को तो त्याग ना चाहिए और स्वभाव को ग्रहण करना चाहिए। फिर चलते हुये जब मानो यह गाड़ी नहीं चल रही, समाधि की ओर, बहुत कष्ट भी आते, आत्मा अपने आपकी ओर नहीं जा रहा, तब और तरह से समझाया जा रहा कि ये परभाव हैं, सो ये सारे के सारे परद्रव्य हैं। परद्रव्यों को जो ग्रहण करेगा वह अपराधी है। जो अपराधी है वह बँधेगा। जो बँधेगा सो संसार में रुलेगा। संसार में रुलने में देख लो कितनी आपत्तियाँ हैं। ये ही तो हैं संसारी जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदिक। पशु-पक्षी आदिक, किसी पशु को खूब तेज पिटते देखे कोई तो आपका दिल जो एक दया से भर जाता और दिल काँप जाता। वह क्यों काँप जाता है? क्योंकि आपके भीतर सबके स्वरूप की अपने स्वरूप जैसी प्रतीति बसी है कि जैसे यह पिट रहा और यह दु:खी हो रहा ऐसे ही दु:ख होता है, इसका इसे अनुमान हो गया और इस कारण से उसका दिल काँप जाता हैं, भीतर में भाव यह भरा है कि कहीं ऐसा हम पर पिटाई हुई तो क्या होगा, ऐसा भीतर में बात बसी हुई है और उसके दिल काँप जाता है, तो स्वरूप से देख लो अपने आपको, तो वहाँ कोई विकार नहीं, और होते तो स्वरूप पर ही विकार जैसे सिनेमा के चित्र आते तो पर्दे पर हैं पर वे पर्दे के चित्र नहीं, ऐसे ही ये विभाव आते तो इस आत्मा पर ही हैं, पर आत्मा में ये विभाव नहीं भरे है, उस स्वरूप को निरखिये।

1546- अपराधी की शंकालुता की प्रकृति-

अन्तस्तत्त्व का निर्णय, उसका ज्ञान रखना, यह तो है स्व को ग्रहण करना, यह अपराध नहीं यह बड़ी शान्ति में है, इसको बंध की शंका नहीं है, और जिसने उन परभावों को, परद्रव्यों को ग्रहण किया, अपना माना, उसका अपराध हो गया, उसके बंध की शंका है। एक बार सागर विद्यालय में किसी की चीज कहीं गुम गई थी, किसी ने चुरा ली होगी। अब उस चीज के चुराने वाले को तलाशना था, तो क्या किया कि एक छोटे कमरे में कोई चीज ऐसी रख ली जैसे कोई डंडा रख लिया और उसमें कपड़ा लपेटकर उसमें कुछ कजली जैसी काली या कोई सुगन्धित चीज लगा दिया और सब लड़कों से कहा गया कि देखो सभी लड़के बारी-बारी से इस कमरे के अन्दर जाकर इस डंडे को छूकर आयेंगे। जिस लड़के ने वह चीज चुराया होगा

बस उसका हाथ डंडे में चिपक जायगा, वही चोर समझा जायगा। ठीक है, अब एक पंडितजी यह परीक्षा करने बैठ गये कि कौनसा लड़का इस डंडे के छूता है कौन नहीं, जो न छुवेगा उसका हाथ कजली से काला न होगा और जो उस डंडे को छू लेगा उसके हाथ में कजली लग जायगी अब सभी लड़के बारी-बारी से छूने लगे उस डंडे को। हम भी उन्हीं लडकों में से एक थे। खैर, हम सबने तो छू लिया, कुछ बात न हुई। पर जिस लड़के ने वह चीज चुरायी थी उसने मारे डर के डंडा न छुआ, आखिर समझ में आ गया कि उस चीज को उसने ही चुराया था। वही अपराधी सिद्ध हुआ। तो जो स्वयं अशुद्ध है वही परद्रव्य को ग्रहण करता है, सो अपराध करता है। जैसे लोक में भी जो आदमी स्वयं गड़बड़ विचार का है, खोटी आदत का है वही पुरुष दूसरे की वस्तु को ग्रहण करने का अपराध करेगा। जैसे जो जुआ खेलने वाला है, वेश्यागामी है, और-और ऐब हैं तो वह स्वयं अशुद्ध है और अशुद्ध है तो वह चोरी करेगा, दूसरे की वस्तु चुरा लेगा, ऐसा ही जिसका अशुद्ध उपादान है ऐसा जीव और वहाँ ही परभाव का, परद्रव्य का समागम भी होता है तो वह उसको ग्रहण करेगा तो वह बँधा और जो बँधा उसकी दुर्गति है।

1547- परमार्थलाभ के पौरुषी का लौकिक घटनाओं में फँसाव की असंभवता-

देखो, आज हम मनुष्य हैं, हमको वाणी मिली है, हमको मन श्रेष्ठ मिला है, हम अनेक बातें विचार सकते हैं। यदि हमने मोक्ष के लक्ष्य का भाव न बनाया और अपनी सामर्थ्य का सदुपयोग न किया और विवाद में, लड़ाई में, कषाय में, मोह में यह जिन्दगी बीता दी तो उसका फल क्या होगा? संसार में जो ये जीव दिख रहे हैं, दु:खी, ऐसी ही अपनी दुर्गति होगी। तो बोलो ऐसी दुर्गति, ऐसी कुयोनि में जन्म-मरण कुछ भला लग रहा है क्या? नहीं लग रहा तो कुयोनियों में जन्म-मरण करने का काम न करना। वह काम क्या है? मिथ्यात्व याने मोह तथा कषाय, इन दोनों को त्यागने का अभिप्राय रखना और जैसे कोई चतुर सेठ किसी बड़े भारी लाभ के लिए, थोड़ी सी हानि को बड़ी प्रसन्नता से सह लेता है, जिससे वह जानता है कि इतनी अगर हानि हो जाय तो होने दो मगर इसमें लाभ बहुत है तो उस लाभ के ख्याल से हानि को सह लेता है। तो ऐसे ही यह चतुर ज्ञानी, भव्य आत्मा यह अनन्तकाल तक मंगल स्वरूप पायगा, आनन्द से, शान्ति से भरपूर रहेगा। इतने बड़े लाभ के लिये एक भव में तृष्णा का त्याग, संयम की आराधना, और और प्रकार के कष्ट उनमें रंच नहीं, जिनको ज्ञानदृष्टि हो गई वे अपने ज्ञान में रमना चाह रहे तो उसके लिए बाहर क्या है, फिर भी जो उपद्रव उपसर्ग कुछ भी चीज आये, उन्हें यह जानता है कि यह तो मामूली बात है, इसमें क्या बिगाड़? हो गया तो ठीक, न हो तो ठीक।

1548- शान्ति के रुचियों के परपरिणति से क्षोभ का अभाव-

एक किसान किसननी थे, तो किसननी तो थी बड़ी चतुर और किसान था उजड्ड, 10-12 साल हो गए थे उनका विवाह हुए। देखिये, देहातियों का ऐसा ख्याल रहता है कि अगर अपनी स्त्री को दो चार बार पीट लिया तब तो समझते कि हम मर्द हैं और हमारा घर पर शासन है। तो उन 10-12 वर्षों में उसे कोई बहाना

न मिल सका कि जिससे वह उस स्त्री को पीट सके। एक बार उसने क्या किया कि जेठ आषाढ़ के दिनों में जब कि वह खेतों में हल चला रहा था तो दोपहर के समय वह स्त्री रोज-रोज खेत पर खाना लाती थी, सो एक दिन उस किसान ने क्या किया कि बैलों को औंधा-सीधा जोत दिया, याने एक बैल का मुख किया पूरब को, एक का पश्चिम को और उनके गरदन पर माची रखकर उसमें हल फाँस दिया। सोचा कि इस प्रकार का दृश्य देखकर स्त्री कुछ न कुछ तो बोलेगी ही, जैसे- अरे ! ऐसे कैसे काम चलेगा, क्या इसी तरह से जोता जाता है? क्या इसी तरह से कमायी हो जायगी..., बस पीटने का मौका मिल जायगा, अब वह स्त्री जब रोटी लेकर आयी और उस तरह का तमाशा देखा तो झट समझ गई सारी बात, सो बोली कि मेरा काम तो रोटी लाने का है सो ये ले लो, फिर तुम चाहे औंधा जोतो चाहे सीधा, हमें उससे कुछ मतलब नहीं, और लो यह मैं चली, यों कहकर सीधे चली भी गई। किसान यों ही देखता रह गया। सोचा कि अरे ! इतने तो नटखट किए, पर आज भी इसे पीट न सका। तो यहाँ यह समझिये कि ज्ञानी जीव को अपने ज्ञानस्वभाव के अनुभव का, प्रतीति का इतना बड़ा बल रहता है कि वह हर घटना में यही समझा है कि इसमें मेरा क्या बिगाड़? मानो लाखों का टोटा हो गया तो इसमें मेरा क्या बिगाड़? मानो घर में आग लग गई, कोई इष्ट गुजर गया, कुछ भी अचानक घटना घट गई तो बस इसमें मेरा क्या? एक अपने ज्ञानस्वरूप की प्रतीति की इतना महान बल रहता है कि यह तो मैं पूरा का पूरा हूँ, आनन्दमय हूँ, स्वरक्षित हूँ, इसमें किसी दूसरे का दखल ही नहीं है। इसमें मेरा क्या बिगाड़? चाहे परद्रव्य यों चलें चाहे यों परिणमें, इसमें मेरा क्या बिगाड़? सहज ज्ञानस्वभाव के आश्रय का जिसको महान बल प्रकट हुआ है वह बाह्य पदार्थों की तृष्णा, चोरी तो करेगा क्या? वह तो अपने अन्त:प्राप्त हुए उन परभावों का ग्रहण नहीं करता, वह है निरपराध।

1549- आत्मप्रतीति से आत्माओं का आन्तरिक आह्लाद-

कहते हैं ना कि 'मन चंगा तो कठौती में गंगा', अपनी आत्मदृष्टि है, अपने आत्मस्वरूप की प्रतीति है, मात्र यह हूँ मैं और कुछ नहीं, कदाचित् कोई नाम लेकर गाली भी कह रहा तो वह ज्ञानी पुरुष यह सोचता कि यह तो मेरा नाम ही नहीं। यह तो मुझे कह ही नहीं रहा। यह गाली देने वाला किसको देखकर कह रहा? क्या मुझ चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व को देखकर कह रहा? अगर मुझ चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्व को यह देख लेता तो गाली बोल ही नहीं सकता था। ऐसा अपने परिपूर्ण आनन्दमय अन्त:स्वरूप का इतना महान बल है कि वह अपराध नहीं करता। क्योंकि यह भीतर चंगा है, भीतर अपनी स्वरूपदृष्टि करके यह अपने आपमें तुष्ट है। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा', सुना तो पहले भी हैं आप लोगों ने यह अहाना, पर क्या अर्थ है, क्या मतलब है सो सुनो- एक बार कोई ब्राह्मण अपने गाँव से गंगाजी पर फूल चढ़ाने के लिए जा रहा था, तो रास्ते में क्या देखा कि किसी दूसरे गाँव में एक जगह एक चमार (मोची) जूते बना रहा था। उसके पास एक काठ का कठौता था जिसमें पानी भरा था और उस पानी में चमड़ा भिगो-भिगोकर जूते बना रहा था। सो जब वह ब्राह्मण वहाँ से निकला तो उस मोची ने पूछा पंडितजी आप कहाँ जा रहे है? गंगाजी में फूल चढ़ाने।

अच्छा, मेरे भी ये दो पैसे ले लो इन्हें गंगाजी में चढ़ा देना, मगर एक शर्त है कि जब गंगाजी अपना हाथ पानी से बाहर निकालें तब चढ़ाना, नहीं तो हमारे पैसे हमको वापिस कर देना। अच्छा, ठीक है, ले लिये पैसे और चल दिया। कुछ चलकर रास्ते में उस ब्राह्मण ने सोचा कि इन दो पैसों को लेकर कुछ खाना-पीना चाहिए, कहाँ वह गंगा पानी से बाहर हाथ निकालेगी। झूठ-झूठ कह देंगे कि हाँ मैंने पैसे चढ़ा दिये थे, पर सहसा ही उसके मन में इस काम के करने में कुछ ग्लानि सी हुई और पुन: उस मोची के पास आकर बोला- भैया, ये लो अपने पैसे, कहीं गंगादेवी पानी से बाहर हाथ नहीं निकाला करती। तो वहाँ वह मोची बोला- अरे ! पंडितजी आप क्या बात करते हैं, हम तुमको इसी जगह पर करके दिखाये देते है कि गंगादेवी पानी से बाहर अपना हाथ निकाल देती है। अच्छा, करके दिखाओ। अब उस मोची ने क्या किया कि गंगादेवी का सही दिल से ध्यान करने बैठ गया, थोड़ी ही देर में क्या देखा कि उस कठौती में जो पानी भरा था उसमें से एक हाथ बाहर निकल आया और उसे पैसे दे दिये। देखिये, हम नहीं जानते कि कैसा क्या हुआ पर यह जानते हैं कि ऐसा हो जाने में भी आश्चर्य कुछ नहीं। कौतूहल करने वाले व्यंतरदेव ऐसा करके दिखा भी कसते हैं। तो तब से यह अहाना चला कि मन चंगा तो कठौती में गंगा।

1550- निरपराधता में प्रसन्नता-

चंगा का अर्थ समझना प्रसन्न होना, मौज मानना नहीं। प्रसन्नशब्द उपसर्गपूर्वक सद्धातु से बना है, 'क्त' प्रत्यय लगाकर प्रसन्न बना, जिसका अर्थ है निर्मल होना। प्रसन्न का अर्थ खुश होना नहीं है, मौज मानना नहीं है, किन्तु निर्मल होना है। जो प्रसन्न होगा उसे शान्ति तो अपने आपमें मिलेगी, और तब ही तो देखो बताते हैं कि भादों के वर्षा ऋतु में ये पोखरे प्रसन्न हो गये, मायने पोखरे पानी से खूब लबालब भर गये, उस समय तो पानी गंदा रहता, मटमैला रहता, पर शरद ऋतु आने पर वह जल निर्मल हो जाता है, याने प्रसन्न हो जाता है। तो अपने में समझिए कि यह प्रसन्नता कब से हुई? जब मैं अपने ही स्वभाव को ग्रहण करूँ, अपने ज्ञान में चैतन्यमात्र हूँ, ऐसा ही अनुभव करूँ, प्रतीति लूँ? जिसका फल क्या है कि परद्रव्य, परभाव, ये औपाधिक भाव, इनकी तो सुध भी न रहेगी। सो ऐसी जो कोई चोरी नहीं करता और अपने घर की चीज बापरता, वह प्रसन्न रहता। उसे कोई डर नहीं रहता। ऐसे ही जो अपने चैतन्यस्वरूप को ही बापरता है, मायने उसकी ही प्रवृत्ति रखता है और पराई चीज कषाय और मोह, अज्ञान आदिक भाव इनको नहीं छूता, वह भव्य आत्मा अन्त:प्रसन्न रहता है। उसको बंध की शंका नहीं। तो इस प्रकार यह उपदेश मिला कि इन समस्त परभावों का त्याग करते हुए तुम अपने चैतन्यमात्र शुद्ध आत्मा को ग्रहण करो, ऐसा करने पर ही तुम सचमुच निरपराध कहलावोगे।

कलश 187

अनवरतमनन्तबध्यते सापराध:
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु ।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराध: साधु शुद्धात्मसेवी ॥187॥

1551- अपराधी का अनवरत अनन्त कार्मणवर्गणाओं से बन्धन-

जो अपराध सहित है वह निरन्तर अनन्त कार्मण वर्गणाओं से बँधता रहता है। अपराधी कौन? जिसकी राध अपगत हो गई हो, राध मायने क्या। राध, सिद्धि, साधना, आराधना, यह सब एक ही बात है, यह जिसके न हो मायने आत्मस्वरूप की दृष्टि जिसके नहीं हो पाती वह राध से रहित है, अपराधी है। जो अपने अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यप्रकाशमात्र सहज परमात्मतत्त्व को नहीं लखता है और लखता है किन्हीं बाह्य परद्रव्यों को, परभावों को वह मनुष्य, वह जीव अपराधी है। और, जो अपराधी है वह निरन्तर अनन्त कर्मवर्गणाओं से बँधता रहता है। देखिये, जीव ने विभाव किया, अपराध किया तो उस निमित्त के सान्निध्य से कार्मण वर्गणायें स्वयं कर्मरूप परिणम जाती हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रभाव, असर ये कुछ भी नहीं डाल पाता मगर उपादान में ऐसी कला है, अशुद्ध उपादान में ऐसी योग्यता है कि वह अनुकूल निमित्त के सान्निध्य में अपना रंग बदलता रहता है। देखिये, वस्तुस्वातंत्र्य यह ही है कि अपनी ही परिणति से परिणमे, दूसरे की परिणति से न परिणमे। निमित्तनैमित्तिक योग समस्त विकार परिणमनों में अलंघ्य है, यह टलता नहीं, क्योंकि निमित्तसान्निध्य के अभाव में कोई भी पदार्थ विकार परिणमन नहीं कर पाता, यह है एक निष्पत्ति-विधान। भले ही एक ज्ञप्ति की दृष्टि से जान लिया, प्रभु ने सब ज्ञात किया है, किन्तु जहाँ जो जिस विधान से जो हुआ, हो रहा, होगा वह विषयभाव को प्राप्त हुआ है। और, इसकी विशेष समझ बनाने के लिये एक बार यह भी ध्यान में लावें कि भगवान जो जानते हैं वे मुक्त जानते हैं, कैसे कि उनका जानने का स्वभाव है, जानते हैं। उससे कहीं पदार्थों पर असर नहीं होता कि पदार्थ ऐसा जाना गया इस कारण से यों परिणम गया व कार्य-कारण विधान हो गया।

1552- निमित्तनैमित्तिक योग के परिचय का लाभ-

निमित्तनैमित्तिक भाव का अर्थ उपादान उपादेय नहीं होता है, किन्तु इसका व्यापक प्रयोजन है। निमित्त-नैमित्तिक योग में भी कार्य-कारण विधान का प्रयोग होता है और उपादान उपादेय में भी कार्यकारण भाव का प्रयोग होता है। दार्शनिक शास्त्रों में, कार्यनिष्पत्ति की सिद्धि में, निमित्त-नैमित्तिक भाव की घटना में, कार्य-कारण शब्द का प्रयोग होता है, तो जहाँ जो भाव है, जिसका जो आश्रय है इतना आश्रय रख करके वह

ध्यान में रखना चाहिए। तो बात यह है कि निमित्त-नैमित्तिक योग भी है एक तथ्य और वस्तु स्वातंत्र्य भी है एक तथ्य। किसी भी प्रसंग में कभी भी यह नहीं हो सकता कि निमित्तभूत द्रव्य अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रभाव, असर कुछ भी कह लो वह उपादान में डाल सके वह अन्य पदार्थ को उत्पन्न कर दे, यह कभी नहीं होता, और यह भी कभी नहीं होता कि उपादान अपने आपसे ही याने निमित्त-सन्निधान बिना विकाररूप परिणम जाय, ऐसा भी कभी नहीं हो सकता। अच्छा, आगम में वस्तु-स्वातंत्र्य व निमित्तनैमित्तिक योग दोनों को ही बताया है वह है अपना प्रयोजन और हित सिद्धि करने के लिए। जब इस तरह से देखा कि निमित्तभूत द्रव्य अपना कुछ भी उपादान में नहीं रखता तो इससे अपने स्वातंत्र्य का बोध हुआ, कलुषता मिट गई। अब कर्तव्यमूढ़ता नहीं रही कि कोई निमित्त मेरे को ऐसा कर देता है तो अब वहाँ मैं क्या करूँगा? उसके पुरुषार्थ का विकल्प छोड़ दे, क्या पुरुषार्थ करें? जब निमित्त अपनी परिणति से परिणमा देता है सो वहाँ यह जानना कि निमित्तभूत द्रव्य अपनी परिणति से उस पर विकाररूप परिणम जाता है, यह भेद जाना, उस भेदज्ञान के साथ ही अनेक बातें झलक में आयी कि निमित्त से मेरा कोई सम्बंध नहीं, ये मेरे कुछ नहीं लगते। अच्छा, अब देखो निमित्तनैमित्तिक योग के परिचय का प्रभाव। निमित्त कर्मविपाक के सान्निध्य में जो परभाव हुए वे मेरे स्वभाव से नहीं उठे हैं, वे निमित्तभूत द्रव्य के सान्निध्य में हुए हैं। यहाँ तो जीव में यह उपयोग उस विपाक का प्रतिफलनरूप होता है, यह भेद जब जान लिया तो यह हिम्मत बन जाती है कि उस प्रतिफलन में अपने उपयोग का एकत्व न करें, आश्रयभूत पदार्थ में अपना उपयोग न लगावें। उसको यहाँ ऐसे पौरुष का अवसर मिल जाता है, अपने सभी कथनों से हमें अपनी स्वभाव-दृष्टि करने का, स्वभाव का आश्रय करने का लाभ उठाना चाहिए।

1553- परभाव की स्वीकारता का महान् अपराध-

यहाँ यह बतला रहे कि जो अपराधी है वही कर्मों को बाँधता है और जो अपने स्वभाव का परिचय नहीं किए हुए है और बाह्यभावों में अपने को तन्मय मान रहा है वह अपराधी है, वह चोर है उसने परद्रव्यों को अपना माना। चोर किसे कहते? तो इसका हर कोई उत्तर देगा कि दूसरें के घर में रखी हुई चीज जो उठा लावे सो चोर। हाँ, दिखा तो आपको ऐसा ही है मगर चोर किस कारण से कहलाता है? वास्तव में कि उस चीज के प्रति उसके भीतर यह भाव भर गया कि अब यह मेरी चीज हो गई। भीतरी भाव की परख करें तो परद्रव्य का जो उपयोग से ग्रहण हुआ, वहाँ ममता हुई, चोरी हुई। जितने भी पाप होते हैं वे सब पाप हिंसा कहलाते हैं। झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये भी हिंसा हैं और हिंसा में सभी पापगर्भित हैं, फिर चोरी आदिक अलग क्यों बतायी गई? क्योंकि जरा प्रवृत्ति में लोगों को झट मालूम हो जाय कि ऐसे-ऐसे काम करने में पाप होता है, हिंसा सर्वत्र पाप है, किसी का दिल दु:खाना यह हिंसा, किसी को पीड़ा पहुँचाना हिंसा, तो किसी क्रिया में क्या हुआ कि मन में जो एक घृणा का भाव, द्वेष का भाव, उसका बुरा करने का भाव जो भीतर हुआ, जिससे प्रेरित होकर वह कोई वध-बंधन की चेष्टा कर सके, वह भीतर की दुर्भावना है हिंसा।

झूठ बोल गए, झूठ मायने क्या? जिन वचनों से दूसरों का अहित होवे उसे झूठ कहते हैं। झूठ की मौलिक परिभाषा यह है, और फिर वे क्या-क्या होते हैं यो उनका यह विस्तार है। तो जैसे झूठी गवाही दे दी तो उससे दूसरे का दिल दुखा ना, तकलीफ हुई ना, तो लोग प्राण कहने लगे। कहते हैं ना 11 वाँ प्राण, चाहे उन्हें मालूम न हो कि वे 10 वाँ प्राण कौन-कौन से कहलाते हैं जिसमें धन मिला दें तो 11 वाँ प्राण कहलाने लगे, मगर यह बात सब कहते कि यह धन 11 वाँ प्राण है। जो इस धन को हरता है तो हिंसा हुई ना। कुशील दुर्भावना होना, विचार गंदा होना, पर में आसक्त होना वहाँ हिंसा है, भाव हिंसा भी है और द्रव्यहिंसा भी है, परिग्रह मूर्छा किसी दूसरे की चीज को अपनाना, यह परिग्रह कहा जाता है, बात वहाँ क्या हुई कि वह चीज का ग्रहण ही तो कर रहा जब उसके प्रति ममता है, तो मूर्छा हुई यह पाप हुआ, ऐसा कोई अपराध करे तो वह कर्मों से बँधता ही है, यह न्याय है।

1554- अपने भावों की सम्हाल करने का कर्तव्य-

जो पापभाव करता सो पापों से बँधता, यह न्याय है। पाप करे, खोटे भाव करे और कर्म न बाँधे तो यह अन्याय हो गया। ऐसा अन्याय कहीं होता नहीं है। बड़े व्यापक दृष्टि से देखो, यह सब बात चल रही है कि अपने परिणामों को बहुत सम्हालकर रखना चाहिए। आज नहीं कुछ उन पाप परिणामों का फल दिख रहा, पुण्य का उदय है ना, मगर जो दुर्भावना है, जो अनीति के भाव है उसके उसी समय पापकर्म का बंध होता, उसका उदय आयगा, उसका फल भोगना होगा। इससे यह अपनी दया करना, किसी भी प्राणी के सम्बन्ध में उसके अहित की बात न सोचना, घृणा की बात न सोचना, चाहे वह कितना ही बड़ा पुरुष हो, चाहे वह कितने ही बड़े भारी वैभव वाला हो, जो परजीव के प्रति अपराध और घृणा का भाव रखे, जो दुर्भावना रखता है, उसके निरन्तर अनन्त कर्मपरमाणुओं का बंधन चल रहा है। जो अपराधी है वह बँधेगा। कथानकों में आप बहुत-बहुत पढ़ते हैं कि अमुक ने अमुक को सताया, और ऐसे कथन बहुत मिलेंगे कि अमुक ने अमुक महाराज पर उपद्रव किया, एक मुनिराज पर कूड़ा डाल दिया। मुनि से कहा- हटो, हमें यहाँ झाड़ू लगाना है, वह मुनिराज कुछ बोले नहीं, ध्यान में बैठे रहे, वहाँ उसे क्रोध आया और मुनिराज के ऊपर कूड़ा फैंक दिया फिर उस कूड़ा डालने वाले की क्या-क्या गतियाँ हुई, कैसी-कैसी स्थितियाँ हुई, यह सब वर्णन आया है, ऐसी अनेक बातें बहुत से चरित्रों में मिलेंगी। प्राणिमात्र से भी घृणा न करें और फिर कोई बड़ा हो, ज्ञानी हो, त्यागी हो, मुनि हो, साधु हो, उसके प्रति घृणा का भाव हो तो उसमें अधिक पाप लगता। देखो, जैसे बतलाया ना कि एकेन्द्रिय की हिंसा करने से अधिक पाप दो इन्द्रिय की हिंसा में हैं, दो इन्द्रिय से अधिक पाप तीन इन्द्रिय की हिंसा में है। यों बढ़ते जावो, चार इन्द्रिय ,असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, संज्ञीपञ्चेन्द्रिय और उनमें भी रत्नत्रयधारी मुनि की हिंसा करने में बहुत अधिक पाप है। भूतवत्यनुकम्पादान आदि। भूत में अनुकम्पा याने प्राणियों प्राणियों में दया, फिर कहा व्रतियों में दया, इसे अलग से क्यों कहा? तो मतलब यह कि जब एक धर्ममार्ग में अपन लोग चलते तो सर्वसाधर्मियों में हृदय से निश्चल वात्सल्य हो अन्यथा क्या होगा, जो करेगा

सो भोगेगा। दूसरा कोई मददगार नहीं। अज्ञान का अँधेरा हृदय में नहीं रखना और अपनी ही भलाई के लिए अपनी प्रवृत्ति रखना। जो अपराधी है वह भीतर अनन्त परमाणुओं से बँधता है।

1555- विशुद्ध अंतस्तत्त्व के आदर में सिद्धि-

राध मायने क्या? सिद्धि। सिद्धि मायने क्या? परद्रव्यों के परिहार के द्वारा स्व की सिद्धि, आत्मा की प्राप्ति, उपलब्धि, दृष्टि। परद्रव्य क्या-क्या? देखो, अभी कलश में इन रागादिक विकारों को परद्रव्य कह दिया था जिससे उपेक्षा करनी है उसके लिये सारे उपाय बताये कि उनसे उपेक्षा हो जाय और अपने इष्ट अभीष्ट स्वरूप की ओर दृष्टि हो जाय। आप कहेंगे कि अभी तो यह कह रहे थे कि सबमें वात्सल्य रखें और वहाँ रागद्वेष विभावों में उपेक्षा की बात कहने लगे, इन रागद्वेषों से घृणा करें और सबमें समता रखें, सबका आदर करें। हाँ, ठीक तो है सबका आदर करें ये रागादिक भाव कोई पदार्थ थोड़े ही हैं, जीव थोड़े ही हैं, ये तो जीव के विकार हैं, आदर करें मायने जीवों का निरादर न करें। अपने में बसा हुआ जो अन्त:भगवान है यह आत्मा सहज स्वरूप स्वभावमात्र इसका निरादर हुआ ना अगर विभावों से प्रीति की तो। इन विभावों से उपेक्षा करना, इनके परिहार द्वारा शुद्ध आत्मा की दृष्टि करना, इसका नाम सिद्धि है। देखो, धर्मपालन करने के लिये कोई बड़ी समस्या नहीं है समझने में। यहीं समझ लो कोई बात नहीं। जब बैल, घोड़ा, बंदर, नेवला ये सभी समझ सकते हैं तो भला मनुष्य न समझ सकेंगे? और यह सोचना भी एक भीतर की कमजोरी है कि हम पढ़े-लिखे नहीं अधिक, हम कैसे सम्यक्त्व पा सकते? अरे ! उन घोड़ा, बैल वगैरह को भी तो किसी ने नहीं पढ़ाया, उन्होंने कैसे सम्यक्त्व पाया? एक दृष्टि की ही तो बात है। अब देख लो कितने ही पढ़े- लिखे, लोग भीतर में दुर्भावनायें रखते हैं, कषाय बनाते हैं, ऐसे मिलेंगे और जो नहीं पढ़े-लिखे लोग हैं, कोई दो क्लास ही पढ़े हैं या बिल्कुल भी नहीं पढ़े हैं, जैसे कि बहुत से पुराने बूढ़ा-बुढ़िया ऐसे होते कि जो पढ़े-लिखे कुछ नहीं होते, पर उनके अन्दर देखो तो बड़े विशुद्ध परिणाम होते हैं, बड़ी सरल प्रकृति के होते हैं। सबका भला चाहें यह तो अपनी- अपनी विशुद्धि की बात है।

1556- भगवान अन्तस्तत्त्व की विमुखता में अपराधों की भरमार-

एक यह दृष्टि लें कि मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ। भीतर सोचो, आँखें बन्द करो। इन्द्रिय-मन का व्यापार बन्द करो, अपने आपके भीतर ज्ञान से ही देखो, शरीर की भी दृष्टि छोड़ दो।...कैसे छोड़ दें? अरे ! इतनी मोटी बात तो जानते हैं ना कि मर गए तो यह शरीर यहीं का यहीं रह गया, उसे जला दिया जाता, तो यहाँ शरीर न्यारा है और जो जीव चला गया वह न्यारा था। तो जो चला गया उन्हीं में तो मैं हूँ, ऐसी बात ध्यान में लावें तो कोई दिन ऐसा होगा कि यह शरीर यहीं धरा रहेगा और जीव इसे छोड़कर चला जायगा। तो इस वक्त भी शरीर की निगाह तज दें। देखो ना मेरे शरीर लगा, इसका नाम ही न लें और केवल ज्ञानप्रकाश नजर में लावें, ज्ञान-ज्ञान, जानन-जानन प्रयोग करें, सब बात बनेगी। आगे प्रयोग कर लें। आप अपनी जगह में बैठे हुए अपने शरीर में ही तो बने हुए वहीं इन्द्रिय-व्यापार बन्द करें, आँखों से निरखना बन्द करें, शरीर

को भूल ही जावें और भीतर परखें- यह मैं एक ज्ञानज्योतिमात्र हूँ। बस होनहार की बात, जिसकी दृष्टि जग गई, जिसका उपयोग अपने ज्ञानस्वरूप में आ गया, उसको यहाँ सारे विकल्प छूटकर अद्भुत आनन्द मिलता है और यह विलक्षण आनन्द, इसका अनुभव क्या कि एक मोहर लग गई कि तथ्य यह ही है ज्ञान ने जाना, अपने स्वरूप को अनुभवा, स्वानुभव बना और आनन्द की अनुभूति की उस पर मोहर ठोक दी। तत्त्व यह ही है, तथ्य यह ही है, कल्याण यह ही है, क्योंकि वह मोहर ज्ञाननेत्र के आगे सुगमतया रहेगी। वह सारा मजबूरन जो लिखा है उसे तो बाँचने में विलम्ब होगा, किन्तु प्रमाणित करने में मोहरबन्दी त्वरित दिख जायगी। प्रतीति में क्या है? जो अनुभूति की मोहर लगी थी, उसका ही तो वह ख्याल है जिसे कहते हैं प्रतीति। आत्मा को अपनी अनुभूति की प्रतीति भई है, यह बात यहाँ कर ली ही जायगी, झगड़े में कुछ नहीं रखा, अपने में अपनी बात प्राप्त कर अपने संकट मिटा लें, अन्यथा यह सब अपराध ही अपराध कहलायेगा। चाहे कितनी ही कोई चेष्टायें करे, चाहे दुनिया को कुछ भी दिखाये वह सब अपराध है, जो अपराधी है वह अनन्त कर्मपरमाणुओं से बँधता है। अच्छा अपराधी कौन? जिस चेतन को, जिस आत्मा को अपने आपके स्वरूप की सिद्धि की याद नहीं। जहाँ यह राध नहीं वहाँ अपराध ही अपराध है। हुआ क्या वहाँ कि इस अपराधी ने परद्रव्य का ग्रहण किया।

1557- अनात्मतत्त्व को अन्तस्तत्त्व मानने में परमार्थत: चोरी का अपराध-

यह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव कितना बड़ा चोर है। चोर कौन? जो इन बाहरी चीजों को अपनी माने वह चोर? अब आप लोगों में जो इन स्त्री-पुत्र, धन-वैभव, मकान-महल वगैरह बाह्य पदार्थों को अपना मानता है, या यह जो दृश्यमान शरीर है उसको अपना मानता है तो बताओ उसे चोर की संज्ञा दी जा सकती है या नहीं? अरे ! चोर तो कहा ही जायगा। जो ऐसी करनी करेगा, जो ऐसा मिथ्याभाव रखेगा वह कर्म की बेड़ियों से बँधेगा। जो भ्रम करेगा उसके कर्मबंधन है और साथ ही जीवनभर उसको आकुलता है। जैसे कभी देखा होगा कि रेलगाड़ी से मुसाफिरी करते समय जब कोई मुसाफिर अपने सीट से उठकर कोई बाधानिवारणार्थ चला जाता और उसकी सीट पर दूसरा कोई आकर बैठ जाता। अब पहले बैठा हुआ पुरुष आता और बोलता कि भाई साहब यह तो हमारी सीट है, उठो अभी हम बैठे थे, बस पेशाब भर करने चले गए कि आप आकर बैठ गए। तो यदि वह समझदार हुआ तो झट उस सीट को छोड़कर दूसरी जगह जाकर बैठ जाता, उस सीट के छोड़ने में वह जरा भी कष्ट नहीं मानता। वह तो जानता कि क्या है, इस जगह न सही, वहाँ बैठ गए। और यदि कोई नासमझ हुआ तो वह उस सीट के लिए उससे झगड़ जाता है। और जब उसका निर्दिष्ट स्टेशन आ जाता है तो फिर वह उस सीट को निर्मोही-सा बनकर छोड़ देता है, अब कुछ लोग जबरदस्ती पकड़कर उस सीट पर बैठाना चाहे तो भी नहीं बैठता। क्यों नहीं बैठता? क्योंकि उसे सही ज्ञान है कि यह सीट मेरी नहीं है, मुझे तो इस सीट को छोड़ ही देना होगा, तो जैसे समझदार पुरुष को सीट छोड़ने में कुछ दु:ख नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष को भी इन सांसारिक बाह्य सामग्रियों को छोड़ने में

रंच भी दु:ख नहीं होता वह तो जानता है कि ये एक न एक दिन तो छूटेंगे ही, और अज्ञानी जनों को उनके छोड़ने में बड़ा कष्ट होता, वे तो उनके पीछे मुग्ध होते, आसक्त होते।

1558- अपराधी व अनपराधी का अनुग्रह-

कभी-कभी देखा होगा कि कोई बूढ़ा जब मरण का समय आ जाता है तो वह कह उठता बस अंतिम समय में अमुक लड़की को तार देकर बुला दो, अमुक मुन्ने को मेरी छाती पर धर दो, छाती ठंडी हो जायगी। यों अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थों में अपनायत की बुद्धि रखते हैं तो बताओ वे चोर कहलाये कि नहीं? जरा एक बार मुख से आप लोग बोल तो दो, बोलने में क्यों संकोच करते? कहना पड़ेगा आखिर यही कि हाँ जो ऐसा करते हैं वे चोर तो हैं ही। जो इन बाह्य पदार्थों में मोह रखे, उन्हें अपनाये वही तो चोर कहा जाता। और साहूकार कौन? जिसे अपने निज आत्मस्वरूप में दृष्टि है, उसी को मानता कि बस मेरा तो सब कुछ यही है, यह आत्मस्वरूप की मेरा सर्वस्व है, इसके अतिरिक्त मेरा कुछ नहीं, बस वही साहूकार है। वही सचमुच निरपराधी है, और जो बाह्य पदार्थों को अपनाता है वह बहुत बड़ा अपराधी है। तो जहाँ पर द्रव्य का ग्रहण किया वहाँ शुद्ध अविकार चैतन्यस्वरूप की सुध नहीं रहती। जब यह बात गुजर रही तो फिर यह जीव तो अशुद्ध है, यह तो अपराधी है, यह तो भगवान अंतस्तत्त्व का विरोधक है। यह ही कारण है कि वह निरन्तर कर्मपरमाणुओं से बँधता रहता है, परन्तु जो निरपराध है मायने जो समस्त परद्रव्यों का परिहार कर दे और शुद्ध आत्मतत्त्व की सिद्धि उसके चल रही है उसको बंध की शंका ही नहीं।

1559- अन्तस्तत्त्व के अपराध के बन्धन का अभाव-

देखिये इस मुड में, जैसे कि भेदविज्ञान की बात चल रही और उसके प्रभाव की बात चल रही वह बुद्धिपूर्वक प्रभाव की बात चल रही। ग्रन्थों में, अध्यात्म में बुद्धिपूर्वक कथन होता है, अन्य बात सोचना ही नहीं, जो किया जा सके उसका वर्णन है अध्यात्म में, बुद्धिपूर्वक जो वह निरपराध है, शुद्ध आत्मा की सिद्धि है, बंध की शंका उसके नहीं है, और, ऐसा ही उसका निश्चय बना हुआ है कि ज्ञान ही एक मात्र जिसका लक्षण है ऐसा यह मैं एक ज्ञानमात्र शुद्ध अंतस्तत्त्व हूँ, अब वह इस ही की आराधना कर रहा, अपने आपमें अविकार चित्स्वरूप की आराधना बन रही, वह आराधक है, शुद्ध है, ऐसा पुरुष कर्मों से नहीं बँधता, कर्म उन्हें छूता ही नहीं, अच्छा भावकर्म के साथ भी यही कथन बैठा लो। जो अपराधी है मन, वचन, काय की क्रिया उनके चलती है, जो निरपराध है वह नि:शंक आत्मा में अवस्थित रहता है, सो भाई जो अपने को अशुद्ध ही, अशुद्ध ही समझे वह अपराधी है किन्तु जो शुद्ध आत्मतत्त्व की सेवा करे, शुद्ध अंतस्तत्त्व की भावना आराधना में रहे वह निरपराध है, उस निरपराध के बंधन नहीं होता। तो देखो जितनी शक्ति है, जितना आपका ज्ञानबल चले, अधिकाधिक उपयोग इस ओर लगावें कि इस सहज अविकार स्वरूप में याने अपने आपकी ओर से अपने ही सत्त्व के कारण उसका जो लक्षण है, उस लक्षण में आत्मत्व की आस्था रहे। आत्मलक्षण केवल ज्ञानदर्शन प्रतिभास प्रकाश प्रतिभासमान है। यह ही मेरा स्वरूप है, तो ऐसी ही वृत्ति रहे

यह है इसकी ईमानदारी, अपने आपकी ही सामर्थ्य, ये की जाने वाली बात, शुद्ध अंतस्तत्त्व की सेवा, अन्तस्तत्त्व का आराधक निरपराध है, इसके बंधन नहीं।

कलश 188

अतो हता: प्रमादिनो गता: सुखासीनतां
प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालम्बनम्।
आत्मन्येवालानितं च चित्तमा
सम्पूर्ण - विज्ञान - घनोप - लब्धे: ॥188॥

1560- शुद्धात्मतत्त्व से चिंता में निरपराधता के समर्थन पर एक क्रियाकाण्डी की जिज्ञासा-

ऊपर के छन्द में यह कहा गया था कि जो शुद्ध आत्मा का सेवन करने वाला है वह निरपराध है, जो अशुद्ध आत्मा को भजने वाला है वह अपराधी है। इसका अर्थ क्या हुआ कि जो अपने में ऐसी प्रतीति लिये हुये हैं कि जो ये बन रहे हैं कषाय-विकल्प आदिक जो भी विभाव, बस ये ही तो मैं हूँ, वह कहलाता है अशुद्ध आत्मा का भजने वाला और जिसकी यह प्रतीति है कि मैं सहज अपने ही सत्त्व के कारण स्वयं ही अपने आप जो कुछ चित्प्रकाशमात्र हूँ, बस यही तो मैं हूँ, इस प्रकार की जो प्रतीति-दृष्टि रखता है वह है शुद्ध आत्मा का सेवन करने वाला। तो जो शुद्ध आत्मतत्त्व का दृष्टा है वह है निरपराध। इस पर कोई शंकाकार कहता है कि क्या शुद्ध-शुद्ध आत्मा रट रखा? अरे ! इसकी उपादान के पुरुषार्थ से क्या बनता? आत्मा की शुद्धि तो प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त वगैरह से होती है और उसी से यह निरपराध कहलाता है, यह शंका है क्रियाकाण्डी की और जो अप्रतिक्रमण है मायने अव्रती रहना, असंयमी रहना, अप्रतिक्रमण में रहना, यह स्वयं अपराध है। तो जो अपराध करे सो बँधेगा और जो व्रत में रहे, संयम में रहे, तपश्चरण करे और कदाचित गलती हो जाय, कोई त्रुटि हो जाय, दोष लगे तो उसका गुरु से प्रायश्चित्त लें, प्रतिक्रमण करे, इससे ही दोष टलते हैं और इससे ही अपराध दूर होते हैं। शुद्ध आत्मा की उपासना में क्या रखा? और देखो, कोई अव्रत में रहे, अप्रतिक्रमण में रहे, दोष बने रहे और उसका प्रायश्चित्त न ले, ऐसी जो अपनी हालत बनाये सो वह अपराध को दूर नहीं कर पा रहा, यह है विष की चीज और प्रायश्चित्त करना, गुरुजनों से दोष निवेदन करना, प्रतिक्रमण पढ़ना, यह सब अपराधों को दूर करता है, सो यह तो अमृत है और अव्रत रहे, असंयम रहे, दोष करता रहे, पाप की कुछ परवाह न रखे, यह है विष का घड़ा, फिर शुद्ध आत्मा की चर्चा से क्या लाभ निकलेगा? और, यह एक बात ही बात नहीं कह रहे, आगम में भी लिखा, व्यवहार सूत्र में भी बताया कि जो अप्रतिक्रमण है, दोषशुद्धि न करना है वह सब विषकुम्भ कहलाता और प्रतिक्रमण करे, पढ़े, तपश्चरण

करे, ये सब अमृतकुम्भ कहलाते। फिर ऊपर के कलश में जो यह कहा गया है कि जो शुद्ध आत्मा का सेवन करे वह निरपराध है यह कैसे युक्त रहा।

1561- उक्त जिज्ञासा का प्रारम्भिक समाधान-

अब उक्त जिज्ञासा का समाधान निरखिये- पहले तीन बातें समझ में रखनी होगी- अप्रतिक्रमण, प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण। प्रतिक्रमण कहते किसे हैं? कोई दोष लगे तो उस दोष की शुद्धि करना, प्रायश्चित्त लेना, तपश्चरण करना, त्रुटि निकालकर दूर करना, यह है प्रतिक्रमण। इन तीन बातों को समझें- (1) अज्ञानी का, असंयमी का अप्रतिक्रमण और (2) व्रती का, संयमी का प्रतिक्रमण और (3) प्रतिक्रमण, अप्रतिक्रमण इन दोनों विकल्पों से रहित केवल एक सहज ज्ञान-सामान्य का अनुभवन, प्रतीति, यह है तीसरी भूमि वाला अप्रतिक्रमण। समाधान तो बिल्कुल स्पष्ट है कि जो अव्रती का, असंयमी का जो अप्रतिक्रमण प्रवर्तन चल रहा है वह तो विषकुम्भ ही है। वहाँ दूसरी बात नहीं की जा सकती और फिर जो प्रतिक्रमण है, मायने ज्ञानी संयमी तपस्वीजन उनके कोई कदाचित् दोष लगें तो उन दोषों की शुद्धि करना तपश्चरण द्वारा वह है अमृतकुम्भ। जब वह विषकुम्भ रहा तो यह अमृतकुम्भ रहा, लेकिन वह तृतीय भूमि याने आत्मा का सहज शुद्ध चित्प्रकाश जो द्रव्य-प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण दोनों से विविक्त ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व का अनुभवन है उसका नाम दूसरा कोई तीसरी भूमि रख ले तो अटपट न लगेगा उसका नाम अप्रतिक्रमण रखा तो चलो इसी तरह सोची यह है अमृतकुम्भ। लो अब इस तार्तीय की भूमि शुद्धात्मा सेवा के समक्ष दोनों विषकुम्भ बन गये। ऐसी बात सुनकर कोई प्रमाद में आ सकता, ओह ! प्रतिक्रमण भी विष है, मगर ध्यान यह दीजिए कि प्रतिक्रमण विष किसको है? जो प्रतिक्रमण को करता हुआ, आगे बढ़ता हुआ जो अपनी समाधि में बढ़ रहा है उसकी उस स्थिति के आगे लक्ष्यशून्य पुरुष का वह प्रतिक्रमण विष है, इस चेतावनी को इस कलश में बताया गया है।

1562- शुभोपयोग और शुद्धोपयोग की उपयोगिता बताते हुये द्रव्यप्रतिक्रमण की विषकुम्भता व अमृतकुम्भता का निर्णय-

देखो, एक बात ध्यान में रखो- जैसे कोई योद्धा युद्धभूमि में उतरता है तो उसके पास दो चीजें होती हैं ढाल और तलवार। अब समय के अनुसार ढाल और तलवार के रूप बदल जाते हैं, ढाल होती थी कोई गोल-गोल चीज। बताया है कि ढाल प्राय: करके कछुवा की पीठ की या लोहे की होती थी। कोई गोली मारे, तलवार मारे, बल्लम मारे तो उसे रक्षा करने के लिए भिड़ा दिया। उसका नाम था ढाल। और तलवार जो शस्त्र है वह बड़ी तीक्ष्ण धार वाला होता है, जिससे शत्रु का संहार किया जाता है। तो ढाल काम आती शत्रु का वार रोकने के लिए और तलवार काम आती दूसरों का संहार करने के लिए। ठीक इसी प्रकार की स्थितियाँ आत्मरमण के सम्बन्ध में हैं, मोक्षमार्ग में हैं। इस युद्धस्थल में उतरे हुये जो भव्यजन हैं सो उनके लिये ढाल चाहिये और तलवार चाहिये। उनकी ढाल तो है शुभोपयोग, प्रतिक्रमण, तपश्चरण आदिक और

तलवार है शुद्धोपयोग, अंतस्तत्त्व का आलम्बन और जैसे युद्ध में दोनों ही अपनी जगह उपयोगी हैं ऐसे ही ये दोनों अपनी-अपनी परिस्थिति में उपयोगी हैं। इस जीव के साथ अज्ञान-वासना लगी हुई है, अभी सम्यक्त्व होने के बाद भी अविद्या के अभ्यास का संस्कार बना है। समाधितन्त्र में इसे बहुत विस्तार के साथ कहा गया है। तो वह कभी विषय में उतरता है, गृहस्थी में रहता है, अनेक काम करता है, और कभी कोई खोटे भाव आ जायें तो उनके लिये ये क्रियायें करें, देवदर्शन करें, स्वाध्याय करें आदि षट्कर्म उसके लिए एक बचाव की चीज है, यहाँ मंदिर में आये, अथवा उपयोग चल रहा तो अनेक खोटी बातों से बच रहे, यह है व्यसन और पाप के आक्रमण से बचाव का उपयोग। अच्छा तो कर्म शत्रुओं का सीधा संहार कौन करेगा? यह शुद्ध तत्त्व की दृष्टि। जिसे कहो शुद्धोपयोग जहाँ जैसा जिसको प्राप्त है वह अपना उसके अनुसार निर्जरण करता है तो यह प्रतिक्रमण जो तीसरे दर्जे का बताया गया यह प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण दोनों के विकल्पों से रहित अखण्ड चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्व की प्रतीति अनुभूति वाली स्थिति है। तो जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमण हैं याने प्रायश्चित्त, तपश्चरण, यह व्यवहार धर्म, ये सब दीक्षा साधना व्रत-पालन, और और भी जितने जो कुछ भी कार्य हैं ये समस्त शुद्धात्मतत्त्व सेवन के सम्बन्ध से अज्ञानियों के अप्रतिक्रमण विषरूप आपत्तियों का निराकरण करने में समर्थ हैं इसलिए प्रतिक्रमण को अमृतकुम्भ कहा गया है।

1563- शुद्धान्तस्तत्त्व के आश्रय की अमृतकुम्भरूपता तथा द्रव्यप्रतिक्रमण में अमृतकुम्भत्व की साधकता-

ग्रन्थों में जो लिखा है वह ठीक है, द्रव्यप्रतिक्रमण अमृतकुम्भ है, तो भी जिसको सहज चैतन्य स्वरूपमात्र अमृत तत्त्व का अनुभव न हो, प्रतिक्रमण आदिक से विलक्षण तृतीय भूमि ब्रह्मस्वरूप तुरीपयाद इसकी जिसको अनुभूति नहीं हुई, इस भूमि को जिसने नहीं देख पाया वह पुरुष अपना ही कार्य करने में असमर्थ है, याने उस सहज आनन्द का अनुभव लेना, सहज ज्ञानस्वरूप का अनुभव करना, जिसके प्रसाद से भव-भव के बाँधे हुए कर्म दूर होते हैं, क्षय को प्राप्त होते हैं, उस कार्य को करना इसमें द्रव्यप्रतिक्रमण समर्थ नहीं। सो यदि उसने सहज अंतस्तत्त्व का अनुभव नहीं पाया तब तो यह अपराधी कहा ना, आत्म सिद्धि तो हुई नहीं, तब यहाँ यह द्रव्य प्रतिक्रमण विषकुम्भ है और तीसरी भूमि, याने तुरीपयाद, चतुर्थ तत्त्व (बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ये तो हैं तीन पाद और चतुर्थपाद है ब्रह्मस्वरूप चैतन्यतत्त्व) इसकी अनुभूति यह स्वयं शुद्ध आत्मा की सिद्धि रूप है। शुद्ध आत्मा मायने पर से विविक्त अपने आपमें कैवल्य को लिए हुए जो स्वरूप है, स्वभाव है उसकी दृष्टि, आत्मा की प्राप्ति में समर्थ है, अत: सारे अपराध विषों को मूल से उखाड़ने में समर्थ है इसलिए साक्षात् अमृतकुंभ तो आत्मतत्त्व की अनुभूति है और फिर व्यवहार से द्रव्यप्रतिक्रमण में भी अमृतकुम्भपने को यह ही सिद्ध करता है, जिसको इस शुद्ध अंतस्तत्त्व का बोध है, दृष्टि है, अनुभूति है, जो इसकी सेवा में रत है वह पुरुष जाय कहाँ? शरीर है ना? सो चलेगा, आहार करेगा, बोलना भी होगा, मौन भी रखेगा और कदाचित् इन बातों की विधियों में दोष लग गया तो उनका प्रतिक्रमण भी करेगा। इसका यह प्रतिक्रमण अमृतकुम्भ है, इसको किसने सिद्ध किया? इस अंतस्तत्त्व की साधना ने सिद्ध किया, तो एक

इस तृतीय भूमि के अनुभव से यह जीव निरपराध होता है, आत्मा के निरपेक्ष स्वरूप में अहं का अनुभव बने, इसी को कहते हैं तृतीय भूमि को देखना, इससे ही यह आत्मा निरपराध होता है। यह बात अगर नहीं है तो द्रव्य प्रतिक्रमण कितना ही किया जाय तो भी वह अपराध ही रहता है, अपराध मायने शुद्ध आत्मा की दृष्टि से अलग रहे। तो निरपराधपना कहाँ ठहरी? इस तृतीय भूमि में, चैतन्यस्वभाव की दृष्टि में, और द्रव्य प्रतिक्रमण क्यों कर रहे? इस ही चैतन्यस्वभाव की प्राप्ति के लिए। अब इस वर्णन से यह निर्णय रखना कि आगम का कथन प्रतिक्रमण का त्याग नहीं कराता कि भाई ! तुम क्यों तप व्रत करते? ऐसी बात नहीं कहता यह आगम, किन्तु यह बतला रहा है कि हम केवल द्रव्यप्रतिक्रमण ही करेंगे, व्रत तप ही करेंगे और तृतीय भूमि का हम दर्शन न करेंगे, अपने शुद्धस्वरूप की सुध न रखेंगे तो आपके इन व्रत तप प्रतिक्रमणों से मोक्ष न हो जायगा। यह बात आयी तो इस ही पर यह आचार्यदेव कह रहे हैं कि इस विवरण को जानकर प्रमादी जीव मारे गए अर्थात् जो प्रमाद करने लगे थे उस निश्चय की दुहाई लेकर कि क्या रखा है व्रत में, क्या रखा है प्रतिक्रमण में, मौज से रहें, जैसा चाहे खाना, जैसा चाहे रहना, एक बात ही बात कर लें, गप्प कर लें एक शुद्ध जीव की, धर्म मिल जायगा, मुक्ति मिल जायगी सो बतला रहे कि ये प्रमादी जनहता: थे। मारे गए मायने ये प्रमादीजन मोक्षमार्ग में नहीं हैं, यह सिद्ध हुआ। अरे ! कौनसे प्रमादी मारे गए? जो सुख में, मौज में आसीन हो गए थे। उनकी स्वच्छन्दवृत्ति का निराकरण किया। जो कुछ नहीं सोचते कि क्या करना? बस चर्चा मात्र, और उनकी यह चपलता, चित्त की चंचलता प्रलीन करा दी और आनन्द को उन्मीलित किया याने इस तृतीयभूमि के लिए उन्हें प्रेरणा दी कि इनको तुम पावो। शुद्ध अन्तस्तत्त्व को पाने का प्रारंभिक उपाय है कि तुम अपने व्यवहार को विशुद्ध करो और यह प्रक्रिया करते रहो भीतर अपने आपकी दृष्टि विशुद्धि रहे और यह न करोगे तो जो द्रव्य प्रतिक्रमण करते उससे कोई सिद्धि न होगी।

1564- प्रकृत प्रसंग में मोक्षमार्ग में प्रमाद न करने देने का आशय-

प्रमादी कौन? प्रमत्तविरत गुणस्थान में भी प्रमाद शब्द दिया इसका अर्थ क्या? जो मोक्षमार्ग का साधन है उसमें जो प्रमाद करे उसे कहते है प्रमादी। दोनों ही बातें आयी। शुद्ध तत्त्व का ध्यान न करे वह भी प्रमादी और शुद्ध तत्त्व की गप्प ही मारे और उसका प्रयोग न बनाये वह भी प्रमादी। जब तक सम्पूर्ण विज्ञान की उपलब्धि नहीं होती तब तक अपने में प्रयोग बनाइये। देखिये, धन के लाभ के लिए लोग झूठे काम करने के लिए भी हर घड़ी तैयार रहते, उनमें कोई काम सफल होता कोई नहीं सफल होता, पर सब कुछ अपना प्रयत्न करके उसके लिए तैयार रहते और अपने वास्तविक लक्ष्य को भूल जाते हैं। तो ऐसे ही अपने आत्मा का लक्ष्य है अपने अंतस्तत्त्व की उपलब्धि होना, उसमें ही रमना, ऐसी धुनवाला भव्य जीव बस यह करना और कुछ नहीं करना, उसका यह निर्णय रहता और है यह ही अनवरत करते बने तो अन्तर्मुहूर्त में उनको मोक्ष हो जाता है, निरन्तर धारा से यह बात बन सकेगी। परन्तु यहाँ बन नहीं पाती। खूब देखते हैं अपने आपके स्वभाव में रमने की बात नहीं बनती तब क्या करना? इसका उत्तर है चरणानुयोग की प्रक्रिया। आज

कोई अलग से सोचे कि क्या करना, यों भी करना, तो ऐसा सोचने का परिश्रम न करें, जो चरणानुयोग में उपाय बताया, आश्रयभूत पदार्थों के त्याग करने की जो विधियाँ बतायी वे हजार वर्ष लाख वर्ष, से परीक्षित निरीक्षित शुद्ध होती हुई अब तक परम्परा से चली आयी। अब नई बात कोई खड़ी करे तो उसका विशुद्ध रूप बन पायेगा या नहीं? इसे अभी कौन कहे, मगर उसके परीक्षण में सैकड़ों वर्ष चाहिए, तब यह निर्णय हो पायगा कि यह विधि, ये प्रवृत्तियाँ मोक्षमार्ग के लिए प्रतिकूल हैं या नहीं हैं? मगर जब सब कुछ तैयार भोजन रखा है, आत्मा का ज्ञान करो, ध्यान करो, आत्मा में रमो, ऐसी बात न बन पाये तो चरणानुयोग की विधि से अपनी प्रवृत्ति बनावें। देखिये, ये ढाल है चरणानुयोग का प्रवर्तन, जो कि अनेक उपद्रवों से इसको बचाकर रखेगा और अंतस्तत्त्व की उपासना- यह वह तीक्ष्ण शस्त्र है कि जिसके आगे भावकर्म, द्रव्यकर्म ये काँप जाते हैं और ये क्षय को प्राप्त हो जाते हैं, तो अपनी उपयोगिता सब बातों की समझकर जैसे अपने आत्मा के उद्धार का काम बने ऐसा कार्य करना अपने को योग्य है।

1565- मोक्षमार्ग में प्रमाद न कर ऊँची-ऊँची गुणस्थितियों में आरोह करने का अनुरोध-

भैया, मोक्षमार्ग में प्रमादी न बनें, किन्तु क्या करें और ऊपर-ऊपर चलते जायें, सीढ़ियों से गुजरें किसी सीढ़ी पर न ठहर जायें, प्रमादी न बनें, किन्तु सीढ़ियों को पार करके एक के ऊपर एक चढ़-चढ़कर धीरे-धीरे सब सीढ़ियों के पार हो जायें और आ जायें ऊपर की मंजिल पर। क्या-क्या बात आती है, क्या-क्या स्थितियाँ बनती हैं, कैसे उनमें से यह गुजरना होता है, यह तो प्रयोग करने पर पता पड़ता है कि धर्ममार्ग में, चारित्रमार्ग में, रत्नत्रयविधि में, आत्म-उपासना में बढने वाले के सामने क्या-क्या परिस्थितियाँ हुआ करती हैं, क्या-क्या त्रुटियाँ हुआ करती हैं और कैसे उनका दोष निवारण करते हैं। एक मोटी-सी बात समझिये कोई दोष बन गया, कोई पाप बन गया और कोई ऐसा सोचे कि बंध जाने दो पाप, क्या हर्ज है, जहाँ स्वभाव कि दृष्टि की कि बस वह पाप यों ही खिर जायगा, तो उसका मन धर्म में न जगेगा, मन अन्तस्तत्त्व की ओर न लगेगा, एक शल्य है यह। वह एक बार गुरु से निवेदन करे कि मेरे को यह दोष लगा, मुझे कोई प्रायश्चित्त दीजिए। उन्होंने कुछ मुख से कहा और इसने पूर्णरूप से मान लिया कि ऐसा कर लेने पर वह मेरा अपराध दूर हो गया। प्रायश्चित्त तपश्चरण किया कि विकल्प से दूर हो गए, शल्य न रहे, अब इसके लिए अपने स्वभाव में उतरने का, मग्न होने का उसे अब अवसर हो गया।

1566- शुद्ध अन्तस्तत्त्व की सेवा के प्रयोग से तथ्यों का अनुभव-

भैया, सन्मार्ग में गमन का प्रयोग करें तब पता पड़ता है। और, बहुत दूर-दूर हो गए प्रक्रिया से, उस प्रयोग में न आये तो यह जैसा चाहे देखता है। जैसे मान लो सम्मेद शिखर जी के पहाड़ पर कोई जाना चाहता है तो जब वह कोई 8-10 मील दूर था तो वहाँ से ऐसा दिखता था कि यह तो जरा-सा ऊँचा पहाड़ है, देखो, इस पर कैसा वृक्षों का गद्दा सा बिछा है, इस पर अभी जरा-सी देर में चढ़ जायेंगे, पर जब वह पहाड़ पर चढ़ना शुरू करता है, कुछ ऊपर जाता है तब पता पड़ता है कि अरे ! यह तो बड़ा दुस्तर पहाड़

है। तो ऐसे ही उस अंतस्तत्त्व की साधना के लिए तैयार होइये, असुविधायें भी आयेंगी, अड़चनें भी आयेंगी, सरलतायें भी आयेंगी और सबको पार कर लिया जायगा। अगर एक धुन बन जाय कि मेरे को तो केवल एक अंतस्तत्त्व की उपासना ही करने का काम है, ऐसी धुन तो बने नहीं, और यहाँ-वहाँ अगल-बगल की बातचीत, अनेक तरह की गप्प- सप्प ये सब चलते रहे तो उससे काम न बनेगा। भीतर में तेज उमंग बने कि मेरे को तो इसके सिवाय और कुछ करना ही नहीं है तो वह वहाँ गति करेगा, बढ़ेगा, संयम होगा और उत्तरोत्तर वह एक अपने में आनन्द पायगा और उस पूर्ति में वह भव्य जीव उस द्रव्यानुयोग की, चरणानुयोग की, करणानुयोग की, प्रथमानुयोग की साक्षात् साधना कर लेगा। वहाँ केवल लिखा, वह सब आपको यहाँ मिलेगा, तारीफ किस बात की है? अपने में अन्त:प्रकाशमान शाश्वत सहज चैतन्यस्वभाव का परिचय होना, अनुभव होना, मूल में ठोस काम यह है, यह ठोस काम आया तो समझिये कि आगे हम अपनी सिद्धि और प्रगति बराबर करते चले जायेंगे। तो सब तरफ से बात सुनो और यह आपको बराबर निश्चय मिलेगा कि आगम में जहाँ-जहाँ जो-जो भी वचन कहे हैं वे सब सत्य हैं, उनमें एक भी बात असत्य नहीं है। चारों अनुयोगों के सभी वर्णनों में से जिन्हें कोई वर्णन अप्रयोजन जँचता-सा हो, उनकी यह अवस्था का फल है। कोई भी वर्णन अप्रयोजनवान् नहीं है। स्वभाव दृष्टि में आवे, स्वभावाश्रय की झंकार हो, सब उपदेशों का प्रयोग हो, वह इस प्रकार करेगा। श्रद्धालु को आगमोपदेशों में स्वभावाश्रय की झलक आयगी याने सब जगह से स्वभावाश्रय की झांई मिलेगी।

कलश 189

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुत: स्यात् ।
तत्किं प्रमाद्यति जन: प्रपतन्नधोऽध:
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमाद: ॥189॥

1567- अज्ञानी जनों के अप्रतिक्रमण की ऐकान्तिक विषरूपता का समर्थन-

इस प्रसंग में यह बताया गया है कि अप्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण और दोनों कल्पनाओं से, विचारों से रहित विशुद्ध चैतन्यस्वभाव का आश्रय, अनुभवन यह तीसरी भूमि का अप्रतिक्रमण है। अब इन तीनों का निर्णय किया गया था कि जो अप्रतिक्रमण है, अविरतभाव है, असंयमभाव है वह तो विष है और तब द्रव्यप्रतिक्रमण अमृत है याने कोई दोष करे, उन दोषों का निवेदन किया, कुछ प्रायश्चित्त लिया तो वह अमृतकुम्भ है किन्तु यह द्रव्यप्रतिक्रमण अमृत कब बनता है? जब कि तृतीय भूमि का स्पर्श उसके हो, अन्यथा वह द्रव्यप्रतिक्रमण भी विष है। तो जहाँ प्रतिक्रमण को भी विष कहा है वहाँ अज्ञानी जनों में पाया जाने वाला

अविरतभाव, अप्रतिक्रमणभाव यह कैसे अमृत हो सकता है? यह बात समझायी गई तो इससे क्या निष्कर्ष लेना? इससे यह निष्कर्ष लेना कि इस अविरतभाव में, असंयमभाव में कुछ मौज-सा मानते हुए क्षण मत बिताओ, वह मोहविष है। ऊपर संयमभाव में आयें, व्रत तपश्चरण आदिक परिणामों में आयें, पर केवल इतने को ही सर्वस्व न मानें किन्तु जो सहज स्वभाव का आलम्बन है उसकी ओर बढें, वह है आपका प्रधान लक्ष्य और जिसने अपना लक्ष्य नहीं पाया उसके लिए व्रत, तप, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदिक सब बातें ये अमृत नहीं हो सकती। तब नीचे-नीचे न गिरें, किन्तु ऊपर उसके उठें, अविरतभाव से हटें, संयमभाव में आइये, संयम से ऊपर आइये और सहज निरपेक्ष चैतन्यस्वभाव का आलम्बन लीजिए, निष्प्रमाद होकर ऊपर-ऊपर उठना चाहिए।

1568- अपने उद्धरण की चर्चा-

देखिये, यह बात किसी दूसरे की नहीं है, खुद को समझना चाहिए, शान्ति के काम बनावें। शान्ति के काम बाहरी पदार्थों का निग्रह-अनुग्रह नहीं किन्तु अपने ज्ञान को विशुद्ध बनावें, शान्ति मिलेगी। वह ज्ञान की विशुद्धि क्या? अपना जो सहज स्वरूप है उसे ज्ञान में लीजिए। मैं क्या हूँ, जिसको अपने आपका पता नहीं वह शान्ति का पात्र कैसे हो सकेगा? किसी बड़ी भीड़ में कोई बच्चा गुम गया और बच्चा अपना पता न दे सके कि मैं अमुक हूँ, मेरे पिता का यह नाम है, मेरा यह घर है, तो उस बच्चे का ठिकाना लग सकता क्या? और, भूल गया, भीड़ में बिछुड़ गया, रो-गा रहा मगर पता है उसको अपना कि मैं यह हूँ, मैं इस जगह का रहने वाला हूँ, लोगों को बतावेगा, सो लोग उसे ठिकाने पहुँचा देंगे। तो ऐसे ही जिस जीव को अपना पता नहीं है उसका क्या ठिकाना लग सकता, वह तो रुलेगा, यहाँ-वहाँ भटकेगा, तो परमात्मा से बिछुड़ गया ना? वह अज्ञानी, उसकी क्या खैर क्या है? जिसको अपने आपका पता है वह कहीं भी रहे, अपने आपके स्वरूप में अपनी झलक पाले, शान्ति हो जायगी। यहाँ बाहरी पदार्थ आश्रयभूत कारण हैं, पञ्चेन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ इनका सम्बन्ध जुड़ना, आश्रयभूत कारण हैं। इनसे हटना, निमित्त कारणों से हटना, नैमित्तिक भाव से हटना, एक सहज स्वभाव को लेना...यही तो उद्देश्य है मोक्षमार्ग का। इसमें फर्क ही नहीं तो विवाद बनावें। एक ही बात है, आश्रयभूत कारण से हटना मायने यह ध्यान में लावें कि बाहरी परिणतियाँ मेरे को सुख-दु:ख, क्लेश-संक्लेश पैदा नहीं करती, किन्तु यह मैं आत्मा ही अपने मुड में किए हुए उन बाहरी पदार्थों में उपयोग जुटाकर खुद अपने को सुखी-दु:खी मान अनुभव करता हूँ। ये बाहरी पदार्थ मेरे को दु:खी नहीं करते, मेरे में कोई परिणति नहीं करते, ऐसा परिचय पा लेना यह ही आश्रयभूत कारण से हटना है। फिर और विशेष हटे एक संयम में बढ़ते हुए, पर इसका एक हटाव भी तो एक प्रारम्भिक कदम है।

1569- आश्रयभूत कारण से हटने की प्रक्रिया-

कोई भी बाहरी पदार्थ मेरे को सुखी-दु:खी नहीं करता, यह बात अब चित्त में नहीं रहती तो बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, कोई भी जीव मेरे को सुखी नहीं कर सकता। मैं ही स्वभाव से चिगता हूँ और अपने में कल्पनायें

बनाकर दु:खी होता हूँ। कभी किसी रिसाते हुए बच्चे को देखा होगा पैर फैलाकर बैठ जाता है और हाथ-पैर हिला-हिलाकर रोता रहता। अगर बहुत देर तक रोते-रोते कुछ रोना कम होता है तो फिर वह बल लगाता है और पैरों को तोड़-मरोड़कर फिर अपने में वह बात लाना चाहता है। तो जैसे वह बालक अलग बैठा-बैठा रोता रहता उसे कोई मार भी नहीं रहा पर रोने की आदत है ऐसे ही ये अज्ञानी जीव स्वयं अपने आपको दु:खी कर रहे, वस्तुत: कोई दूसरा जीव किसी दूसरे को दु:खी करने में समर्थ नहीं, अगर कोई सोचे कि इस दूसरे ने मुझे दु:खी किया तो वह उसका अध्यवसाय है, मोह है। ऐसी भिन्नता का परिचय होना यह कहलाती है आश्रयभूत कारण से हटने की प्रक्रिया।

1570- निमित्तकारण से हटने की प्रक्रिया-

अच्छा, और उक्त ही प्रक्रिया है निमित्त कारण से हटने की। मुझे अपने आपके विकार के कारणों से हटना है, कषाय का उदय आया, क्रोध प्रकृति का उदय आया, अन्य- अन्य प्रकृतियों का उदय आया यहाँ आत्मा में क्रोधादिक जगे और जो यह मानेगा कि देखो, अमुक ने क्रोध पैदा कर दिया, कर्म ने इस जीव में क्रोध परिणति कर दी, तो अब निमित्त से हटने की गुंजाइश कहाँ रही? निमित्तभूत कर्म प्रकृतियाँ इस जीव में रागादिक परिणमन नहीं करती, अगर करें तो ऐसे ही चाहे ईश्वर को मान लो, चाहे कर्म को, चाहे यह कहो कि ईश्वर ने दिया दु:ख-सुख, चाहे कर्म ने दिया यों कह लो, हाँ तो फिर कैसीबात भई? ये विकार कैसे पैदा हुये? विकार यों पैदा हुये कि उस कर्मविपाक के उदयकाल में ऐसा ही वह निमित्त योग है कि यह अशुद्ध उपादान वाला जीव अपनी परिणति से क्रोधरूप परिणम गया। अच्छा यही बता दो कि इतने श्रोता जो यहाँ पर बैठे हैं वे सब हमारे को ये सब परिणतियाँ कर रहे क्या? अरे !हमारी परिणतियों को दूसरा कोई नहीं कर रहा पर एक वातावरण ही ऐसा है कि इन सब श्रोताओं का ऐसा सन्निधान पाकर हम अपने अन्दर अपनी परिणति कर रहे, अगर ये सब श्रोता न होते और मैं इस जगह बैठा हुआ अकेला ही इस तरह से बोलने, हाथ हिलाने आदि की चेष्टायें करता तो देखने वाले लोग तो समझते कि आज तो महाराज जी, कुछ पागलों की जैसी चेष्टायें कर रहे, तो इस वातावरण के बिना मैं इस प्रकार कह नहीं सकता, यह ही तो बात है रागादिक परिणति की। कर्म के उदय के बिना यह जीव राग-विकार कर नहीं सकता, पर कर्म ने अपनी परिणति से राग कर दिया हो यह बात नहीं। तो निमित्त से हटना, आश्रयभूत कारण से हटना। इन दो का हटाव परस्पर कर्ता-कर्म बुद्धि के प्रतिषेध से हुआ।

1571- नैमित्तिक भावों से हटने की प्रक्रिया-

अच्छा, आश्रयभूत कारण व निमित्तकारण दो से तो हटा दिया, अब नैमित्तिकभाव से कैसे हटे? जो एक खास बात है, अत्यन्त निकट की बात है, खुद में जुड़ा हुआ ऊधम है, उससे जीव कैसे हटे? तो नैमित्तिक भाव से हटाने का उपाय निमित्तनैमित्तिक योग का परिचय करना है। अब आप यहीं प्रयोगात्मक देख लो, दर्पण रखा है, सामने लाल चीज रखी है, तो उस लाल चीज का फोटो दर्पण में आया हुआ है। अब वह लाल फोटो

हटाना है तो कैसे हटावें? जब यह ज्ञान में है कि यह फोटो अमुक लाल कपड़े का निमित्त पाकर हुआ है तो आपको उसके हटाने का भी उपाय मिल जाता, चूंकि ये दोनों अचेतन हैं इसलिए कपड़ा हटा दिया, फोटो हट गया। पर चेतन में तो यह विधि नहीं कि कर्मविपाक को हटा दे और जीवविकल्प हट गया। होता तो यों ही है कर्मविपाक न रहा तो विकार न रहे, जीव में होने की बात दूसरे ढंग की नहीं, पर यह जीव कर्मविपाक को हटाये कैसे? अपने ज्ञान को सम्हाले तो कर्म विपाक हटेगा। तो चूंकि ये रागादिक विकार नैमित्तिक हैं, मुझे इनसे प्रयोजन नहीं, रुचि नहीं, इनमें मैं न लगूँगा, ये दु:ख रूप हैं, दु:खी करने वाले हैं, इनसे मेरा प्रयोजन नहीं है। ऐसी उपेक्षा से ज्ञानस्वभाव में प्रवेश होता है।

1572- अनात्मतत्त्व से हटकर स्वभावाश्रय करने के पौरुष का प्रकाश-

आश्रयभूत कारण से हटना है, निमित्त कारणों से हटना है, नैमित्तिक भावों से हटना है और अपने सहज स्वभाव में आना है। जिस विधि से इन तीनों का हटाव बनता हो उस विधि से ज्ञानप्रयोग किया जाय। उद्देश्य यह है कि मैं सर्व पर और परभावों से हटकर अपने आपके स्वभाव में मग्न होऊँ। स्वभावदृष्टि, स्वभाव का आश्रय, यह है तृतीय भूमि। इसका भी नाम अप्रतिक्रमण हैं। और अज्ञानी होने से जो असंयमभाव हैं, जो दोष कर रहे हैं उन पर ग्लानि भी न आना आदिक जो एक उद्दण्डता उसे भी अप्रतिक्रमण कहते और द्रव्यप्रतिक्रमण मायने संयमी पुरुष के, व्रती पुरुष के कदाचित् कोई दोष लगजायें तो उन दोषों की निवृत्ति के लिए जो साधना करते, गुरु से निवेदन करते, प्रतिक्रमण करते यह कहलाता है द्रव्यप्रतिक्रमण और भाव से भी अपने साथ है तो यही भाव- प्रतिक्रमण है, तो यहाँ यह बात जानना कि अज्ञानीजनों का अप्रतिक्रमण तो अत्यन्त विष है ही, उसमें दूसरी बात सोचने की गुंजाइश नहीं, मगर ज्ञानी जीव के जो प्रतिक्रमण चलता है वह एक निगाह से देखा अमृतकुम्भ और एक जगह से देखा विषकुम्भ। और ये प्रतिक्रमण, व्रत, तप, संयम आदिक ये सब व्यवहार चारित्र, ये भी अमृत बने, इसका कारण क्या? वह तृतीयभूमि।

1573- ज्ञान के अवशिष्ट दोषों के प्रताप के परिचय से ज्ञानी के ज्ञानी की श्लाघ्यता-

ज्ञानी जीव के साथ, सम्यग्दृष्टि के साथ जो कुछ राग शेष रहता है व उस रागवश जो कुछ प्रवर्तन होता है उसकी भी बड़ी महिमा है। तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो गया तो क्या वीतरागभाव से बंध हुआ? उस सम्यक्त्व के रहते हुये जिनको भीतर में यह भावना उत्पन्न हुई है कि मैं लोगों का कल्याण करूँ उनके तो यह कर्तृत्वभाव बन गया, किन्तु ये जगत के जीव जिनको स्वभाव दृष्टिगोचर हो रहा है, यह जीव उपयोगस्वरूप खुद ही तो आनन्दस्वरूप है। ये जीव क्यों नहीं अपनी दृष्टि अपनी ओर लगाते और संसार संकटों को मेटते? इस भावना के फल में उन्हें तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता। तो देखिये- जैसे किसी बड़े मिनिस्टर के साथ छोटे-छोटे सिपाही भी हो तो उनकी भी महिमा होती है उनसे भी लोग डरते है, उनका भी लोग आदर करते हैं, उनका भी कुछ प्रभाव है। ऐसे ही ज्ञानी जीव के साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र जहाँ तक जो सम्भव है उसके साथ जो कुछ राग शेष रहा है उस राग की भी इतनी अद्भुत महिमा है कि इन्द्र, चक्रवर्ती

आदिक के बड़े ऊँचें-ऊँचें पद यह जीव प्राप्त कर लेता है। अगर लक्ष्य रहे अपने आत्मस्वभाव का तो इन दोषों में भी प्रभाव बनेगा इतना ऊँचा और आत्मस्वभाव का लक्ष्य नहीं है तो इन दोषों में भी बल नहीं होता। तो बात जो जहाँ जैसी है समझिये, अपने को ऊपर-ऊपर चलना है, नीचे नहीं उतरना है, मायने नीचे उतरने का यत्न नहीं करना है।

1574- प्रभुस्वरूपदर्शन का विशुद्धि में सहयोग-

अपने आपकी भावना में उत्कृष्टता जगे, विशुद्धि जगे, इन सबके उपाय बनायें, क्या-क्या उपाय बनें, बनावें? देखो, तीन बातें तो कहते आ रहे- देवदर्शन, स्वाध्याय, गुरुसेवा। इन तीनों का अद्भूत प्रभाव है। देवदर्शन करना, प्रभु के गुणों का स्मरण करना, अपने स्वभाव का स्मरण करना, प्रभु से और अपने उस अन्त:स्वरूप से तुलना करना और जब पर्याय की तनिक खबर भई, यह वीतरागता और यहाँ सरागता, इतनी बात में इतना बड़ा अन्तर है कि वे तो हैं पवित्रप्रभु, त्रिलोकाधिपति और यह मैं बन रहा संसारी, भिखारी; जब इसकी सुध नहीं आती तो यह एक खेद में होता प्रभु पूजा में, देवदर्शन में और जब स्वरूप की तुलना होती है तो एक अद्भुत आनन्द जगता है, उमंग जगती है कि मैं भी तो यह होसकता हूँ। जरा भी तो रुकावट नहीं, स्वरूप की समता है। तो भला कभी कोई ऐसी नदी देखो कि जिसमें दो नदियाँ एक जगह आकर मिल गई, एक नदी ठंडे जल वाली और एक नदी गरम जल वाली। देखा है कि रुड़की में है एक दृश्य ऐसा कि जैसे मानो पूरब दिशा से पश्चिम की ओर को नदी निकली और उत्तर दक्षिण को ऊपर से नहर निकली। उन दोनों का पानी एक जगह मिल जाता और वहाँ इञ्जिनियरों ने कोई ऐसा पुल बनाया है कि जिसमें पानी झरता रहता है, जिस दिन पानी का झरना बन्द हो जायगा उस दिन वह पुल टूट जायगा, ऐसा भी इञ्जिनियरों का कहना है। तो वहाँ जब दोनों का पानी एक जगह मिलता तो वहाँ गरम जल व ठंडा जल, ये दोनों भी अलग-अलग महसूस होते। तो ऐसी ही बात यहाँ देखना है कि प्रभुभक्ति के समय जो भक्त को अन्दर अश्रुपात होवे उसमें दोनों प्रकार के अश्रुवों का समावेश होना चाहिए, एकता आनन्द के अश्रु और दूसरे अपने दोषों के प्रति पश्चाताप के अश्रु। ऐसी स्थिति में अपने अन्दर एक बड़ी पवित्रता जगती है।

1575- सभी अनुयोगों के स्वाध्याय की लाभ करता-

अच्छा, अब स्वाध्याय की बात सुनो। स्वाध्याय में जो कुछ भी पढ़ें उससे अपने आत्मस्वभाव की दृष्टि बने, इस तरह के मुड से पढ़ना चाहिए, और पढ़ें सब। कभी कोई कथा ग्रन्थ भी लिया जाय, कभी चरणानुयोग ग्रन्थ लिया जाय, दार्शनिक शास्त्र, अध्यात्म शास्त्र, करणानुयोग लिया जाय देखिये- प्रगति के लिए बहुत से उपाय हैं सो आप खुद अनुभव कर लेंगे, क्योंकि मान लो हम एक ही तरह का छोटा शास्त्र लेकर बैठ गए, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता, बस वही चार छह दस बार बोलें रोज रोज, तो ऐसी रुटीन बन जायगी कि जैसे ठठेरे का कबूतर। जैसे एक ठठेरे की दूकान में कोई कबूतर रहता था, अब वहाँ तो 20 घंटे बस वही ठन-ठन की आवाज होती रहती थी, अब वह कबूतर वहाँ से उड़े ही नहीं, बस वहीं खूंटी पर बैठा

रहा करे। मानो किसी ने पूछा उससे कि अरे ! कबूतर तू तो जरा सी ठन-ठन की आवाज सुनकर उड़ जाने वाला पक्षी है, पर इस दूकान में तो बहुत ठन-ठन की आवाज होती ही रहती है वहाँ से क्यों नहीं उड़ता? क्यों बड़े ठाठ से बैठा रहता? तो मानो वह कबूतर बोला- भाई ! क्या करें, ऐसा तो रोज-रोज ही ठन-ठन होता रहता, हम कहाँ तक रोज-रोज उड़े? तो यहाँ आप प्रयोग करके देख लो, आपमें कुछ प्रगति होती है या नहीं, यदि नहीं होती है तो कुटेव छोड़ दो। दार्शनिक शास्त्र में जहाँ आत्मतत्त्व विवेचनात्मक चलता है, आपको आध्यात्मिक तत्त्व की जानकार बनेगी तो चूंकि यह युक्तिपूर्वक, अनुमानपूर्वक अविनाभाव का दर्शन कराता हुआ प्रतिपाद्य तत्त्व का वर्णन करता है तो आपको अपनी उस प्रक्रिया के वर्णन में अपने आपके ज्ञानस्वरूप के निर्णय में एक ऐसा स्पष्ट प्रकाश मिलेगा कि उपयोग आनन्द विभोर हो जायगा। आप पढ़ें कथानकों के ग्रन्थ, कभी कोई चारित्र पढ़ें, मानो श्रीराम भगवान का चरित्र पढ़ें तो उन प्रसंगों में आपको बड़ी उमंग जगेगी। जब वर्णन आता है चक्रवर्ती का इतना बड़ा वैभव और जब विरक्त हुए तो उपेक्षा का परिणाम न बनेगा क्या? थियेटर (नाटक) देखने के मायने क्या? वह एक प्रथमानुयोग का स्वाध्याय समझो। मान लो आप अकलंक-निकलंक नाटक देख रहे तो वहाँ आप क्या दृश्य देख रहे कि अकलंक निकलंक से बार-बार प्रार्थना करता है कि ऐ मेरे भैया ! देखो हम तुम दोनों को जैन-धर्मावलम्बी जानकर ये विद्वेषीजन अपने-अपने हाथों में खड्ग लिए हुए हम तुम दोनों को मौत के घाट उतारने आ रहे हैं, सो तुम यहीं कहीं छिप जावो किसी झाड़ी में या तालाब में, मैं इनके पास जाकर सहर्ष अपने प्राण न्योछावर कर दूँगा, तो वहाँ वह निकलंक क्या कहता है, भैया ! मुझे इस बात की भिक्षा दे दो, मैं तुमसे यह माँगता हूँ कि तुम तो किसी तरह से लुक-छिपकर बच जाओ और मुझे ही सहर्ष इनके पास जाकर प्राणों का दान दे देने दो।...इस प्रकार की बातें जब नाटक में देखते हैं तो वहाँ कैसा एक दया से हृदय भर जाता है, तो प्रथमानुयोग के ग्रन्थों को पढ़ने से भी एक बहुत बड़ी प्रेरणा मिलती। जब करणानुयोग के ग्रन्थ पढ़ें तो वहाँ भी इस बात का चिन्तन करना चाहिए कि मेरे अन्दर ये कोई कषायें न जगें, उसका ही तो प्रभाव बनता है, तो करणानुयोग के ग्रन्थों का विषय समझकर, अरहंत भक्ति से, चिंतन में जब यह उपयोग लगता है तो वहाँ कषाय नहीं जगती, वहाँ एकाग्रमन होता, और उसमें भी कर्म की चर्चा करना इसको अध्यात्म शास्त्र कहा। धवला वगैरह में देखो ये अध्यात्म शास्त्र हैं मायने आत्मा में जो गुजर रही उसका वर्णन करें।

1576- प्रभुपूजा, स्वाध्याय, गुरुसेवा करते हुए अन्तस्तत्त्व की उपादान से मोक्षमार्ग में निर्वाध प्रगति-

अब यहाँ अपने ढंग से सोच लो, निमित्त से हटना, नैमित्तिक से हटना, आश्रयभूत कारण से हटना है, यह लक्ष्य न छोड़े तो आप वहाँ भी कोई चीज पायेंगे? सर्व प्रकार से स्वाध्याय करें और जीवनभर करना। यहाँ ज्ञानार्जन करने के सिवाय और कुछ काम नहीं पड़ा है ऐसा अपना एक मजबूत निर्णय रखें, फिर गुरु सेवा, किस ढंग से सेवा होती, क्या होती जब चित्त समर्पित है तो गुरुसेवा है और जहाँ चित्त अलग है, वहाँ गुरुसेवा नहीं बनती। बहुत से भाई ऐसी बात सामने रखा करते कि हम तो बहुत-बहुत स्वाध्याय करते मगर

हमारे भावों में तो कुछ प्रगति नहीं होती, तो भाई यों कैसे भावों में प्रगति बने? इसके लिए तो तीन बातें चाहिए- देव दर्शन, स्वाध्याय और गुरुसेवा, इन तीनों से अपने जीवन में एक विकास करना है, बढे चलो। जो काम कर रहे आप वह क्या अमृत है? हाँ है, तो अमृत ही है? नहीं है। यह काम करने के लिए काम नहीं है, किन्तु एक शुद्ध अंतस्तत्त्व स्वभाव की प्राप्ति के लिए यहाँ से भी गुजर रहे, इस तरह अपने जीवन को निर्मोह और मंद कषाय इन दो विधियों में बितायें तो इससे भविष्य में आत्मगुणों का विकास होगा।

कलश 190

प्रमादकलित: कथं भवति शुद्धभावोऽलस:
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यत: ।
अत: स्वरसनिर्भरे नियमित: स्वभावे भवन्
मुनि: परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात् ॥190॥

1577- प्रमादकलित भाव की अशुद्धता-

इसमें ऊपर के छन्द में बताया कि जहाँ प्रतिक्रमण को भी विष कहा वहाँ अज्ञानी जनों का अप्रतिक्रमण अमृत कैसे बन जायगा? फिर हे भव्य जीवो ! क्यों प्रमाद करते हो? प्रमाद कर-करके क्यों गिर रहे हो, नीचे क्यों जा रहे हो? क्यों नहीं प्रमादरहित होकर ऊपर-ऊपर चढ़ते हो? याने प्रतिक्रमण से भी ऊपर जो एक तृतीय भूमि है उसमें निवास करें। आज के छन्द में कह रहे हैं कि प्रमाद क्या चीज है और होता क्या है और तब कर्तव्य क्या है एवं उसका फल क्या है? प्रमाद कहते हैं कषाय के भार से वजनदार हो जाने से जो मोक्षमार्ग के भाव में अलसता आती है ऐसी अलसता का नाम प्रमाद है। लोक में देखा जाता है कि जो प्रमाद लिये हुये हैं उसने कोई नशा का भार या जैसे बहुत ज्यादह नशेली चीज खाई है उससे एक बड़ा बोझ-सा होता है, वह गिर जाता है। ऐसी स्थिति को ही तो आलस कहते हैं। आलसियों की बहुत बड़ी विचित्र कथा है। उनकी क्या होड़ लगाते। उनकी एक कथा सुनी होगी। कोई तीन आदमी कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक जामुन के पेड़ के नीचे लेट गये। एक जामुन एक पुरुष के बगल में गिरा। एक दूसरे पुरुष की छाती पर गिरा और एक तीसरे पुरुष के बिल्कुल ओठों पर गिरा। अब वे इतने आलसी कि सभी एक दूसरे से बढ़ –बढ़कर। उनमें से एक कहता है कि भैया ! इस जामुन को कोई उठाकर हमारे मुख में धर देवे, जिसकी छाती पर जामुन पड़ा वह कहता कि कोई इस जामुन को उठाकर मेरे मुख में धर देवे, जिसके

ओठों पर जामुन धरा वह कहे भैया ! हमारे ओठ खोलकर यह जामुन कोई हमारे मुख के अन्दर कर देवे? ऐसी तो है इन लौकिक आलसियों की बात। फिर मोक्षमार्ग के आलसी के तो भाव ही नहीं। मोक्षमार्ग में आलसी कौन? जिसको अपने स्वभाव में मग्न होने के लिए उमंग न जगे उसे कहते हैं प्रमादी (आलसी)।

1578- प्रमाद की मुद्रायें-

छठे गुणस्थान में प्रमाद रहता है। लोग सुनकर जरा अटपट-सा ख्याल करते कि छठे गुणस्थान वाले मुनि महाराज को कहते हैं यह प्रमादी है, तो प्रमाद के मायने क्या? मोक्षमार्ग के उचित काम में, स्वभावदृष्टि में प्रमाद करना, अन्य-अन्य बातों में लगना- इसे कहते है प्रमाद। व्यवहार में लगना, शिक्षा देना, दीक्षा देना, उपदेश देना...ये सब प्रमाद हैं मोक्षमार्ग के लिए। इससे भी हटकर निर्विकल्प आत्मसाधना करना यह है अप्रमाद। चार प्रकार की कथायें- स्त्रीकथा, राजकथा, राष्ट्र कथा, भोजन कथा। ये चारों मोक्षमार्ग में बाधक हैं। स्त्रीचर्चा मायने स्त्रियों के साज-श्रृंगार, भोग-विलास सम्बन्धी चर्चायें करना; राजकथा- राजा के ठाटबाट, वैभव, साम्राज्य, यश, प्रतिष्ठा, भोग-विलास आदि की चर्चायें करना; राष्ट्र कथा- देश-विदेश की खबरें पढ़ना-सुनना आदि; भोजनकथा- खाने-पीने के, मौज उड़ाने आदि की चर्चायें करना- ये सब कथायें इस जीव के मोक्षमार्ग में बाधक हैं, ये सब इस जीव के प्रमाद कहलाते हैं। क्यों जी? कोई बहुत बड़ा पहलवान हो, वह खूब दण्ड-बैठक कसरत व्यायाम कर रहा हो तो बताओ वह प्रमाद कर रहा कि नहीं? अरे ! वैसे तो बाहर के देखने में वह प्रमाद नहीं कर रहा मगर मोक्षमार्ग में कदम रखने के लिए तो उसका प्रमाद चल रहा है, मात्र शरीर के पुष्ट रखने की उसकी दृष्टि है, शरीर की सेवा करने का तो उसे बड़ा ध्यान है, पर आत्मा की सेवा करने का उसने अपना प्रोग्राम ही नहीं बनाया तो फिर उसे मोक्षमार्ग में आलसी नहीं तो फिर क्या कहा जायगा? तो चूंकि जो प्रमाद से भरा हुआ जीव है वह आलसी है जो जिस काम में रुचि न रखे, प्रगति न करे उसे कहते हैं उस काम में आलसी। तो ऐसे जो प्रमाद से, आलसभाव से भरे हुये हैं उनके शुद्धभाव कैसे हो सकते।

1579- प्रमादभावों से हटकर अन्तस्तत्त्व में उपयुक्त होने के कर्तव्य का स्मरण-

देखो, अज्ञानी जनों का जो अप्रतिक्रमण है, अविरत है, असंयम है, वह जो आलस्य है, प्रमाद है, सो विष है, उसकी निवृत्ति के लिए जो व्रत, तपश्चरण आदिक किये जाते हैं उनमें रहने वाला जो विकल्प है वह विकल्प भी प्रमाद है। वहाँ से हटकर जो केवल एक विशुद्ध तत्त्व में उपयोग रखे, अप्रमत्त दशा में रहे यह है अप्रमाद। तो प्रमादरहित होने में पूरा भला है। देखो, जिसका होनहार भला है उसको ही इस अन्तस्तत्त्व की चर्चा सुहायेगी। इस अंतस्तत्त्व की साधना का संग सुहायेगा। यह अंतस्तत्त्व जहाँ प्रकट हुआ है, विकसित हुआ है उसकी भक्ति सुहायेगी। अंतस्तत्त्व का ध्यान सुहायेगा, और जिनका संसार में जन्म-मरण चलेगा उनको तो विषय-विष ही सुहायेगा। संसार में बतलाओ कौन सुन्दर है और कौन असुन्दर है? पुरुष लोग स्त्रीजनों के बारे में सोचते होंगे कि इनका रूप सुन्दर है और चाहे स्त्रीजन भी ऐसा ही पुरुषों के प्रति सोचती

हों। अब जरा एक व्यापक दृष्टि तो लावो- कौन सुन्दर, कौन असुन्दर? किसी को कोई सुहाता, किसी को कोई, जैसे देखा होगा कि गाय, बैल, भैंस वगैरह पशुओं में भी जब उनके पसन्द करने वाले लोग उनके पास जाते तो कोई किसी जानवर को पसन्द करता, कोई किसी को। ऐसे ही अपनी बात समझना। अरे ! इस जगत में कोई सुन्दर नहीं। इस जीव को रागभाव होता है वह परवस्तु को सुन्दर बनाता है। जिसके रागभाव नहीं है घृणाभाव है वह उस पदार्थ को असुन्दर बनाता है। नहीं तो बतलाओ जो यहाँ कंधे के बीच रखा है यह सिर मस्तक इसमें क्या-क्या गन्दी चीजें नहीं भरी हैं? अरे ! नाक, कनेऊ, थूक, कफ, कीचड़, खून आदि महा अपवित्र चीजें इसमें भरी हैं, बस ऊपर से एक पतली चाम ढकी हुई है। इतनी अपवित्रता का जिसे पता है उसको कैसे सुन्दर जँचेगा? जिसको रागभाव लगा, कामवासना लगी वह तो कुछ अपवित्रतायें न देखेगा, उसे तो एक अपूर्व चीज दिखती है, सुन्दर दिखती है। जगत में, बाहर में कुछ भी अपना हितकारी तथ्य नहीं है, अपना हित अपने को अपने में अंत:प्राप्त है। अपने रस से भरे हुए निज स्वभाव को देखो।

1580- अज्ञानहठ के परिहार से आत्मविकास-

कोई मनुष्य जगह-जगह डोलता है, ठोकरें खाकर घर में आराम से बैठता कि मेरे को बाहर में कोई शरण नहीं। यह जीव अनादिकाल से बाहरी-बाहरी चीजों में रमकर, ठोकरें खाकर अब तक इस तरह दु:खी होता आया है मगर अपने आनन्दमय घर में नहीं बैठ सकता। जिस भव में जाता उस भव में जो मिलता वह उसे ऐसा नया लगता कि मानो इसने कभी पाया ही नहीं। तो बाह्य वस्तुओं में रमना यह प्रमाद है, क्योंकि उसके साथ मोह और कषाय दोनों ही लग रहे हैं- अज्ञान है और कषाय है। जो जैसा करता है वैसा भरता है, ऐसा जानकर कषाय के हुक्म में अपने आत्मा को मत लगावें। जो कषाय ने हुक्म दिया, जो राग ने प्रेरणा दी उसमें ही बह गये, ऐसा पकड़कर रह गये ऐसा आग्रह न करो। इस आग्रह का फल बुरा होता है। इस आग्रह के सम्बन्ध में एक घटना सुनो- एक गाँव का कोई मुखिया किसी पंचायत में इस बात पर हठ कर गया कि 30 और 30 मिलकर 70 ही होते हैं। बाकी सब लोग कहें कि 60 ही होते हैं। कुछ शान में आकर मुखिया बोला कि यदि 30 और 30 मिलकर 70 न होते हों तो मैं अपनी सारी भैंसे हार जाऊँगा। अब तो सभी पंचों ने समझ लिया कि इस मुखिया की सभी भैंसे हम लोगों को मिल जायेंगी। उधर मुखिया की स्त्री को भी पता पड़ गया कि आज हमारे पतिदेव साहब पंचों के बीच इस-इस तरह से बोल गये सो वह बड़ी दु:खी थी, वह सोच रही थी अब क्या होगा, सारी भैंसे घर से चली जायेंगी, अब न जाने बच्चों का पालन-पोषण कैसे होगा? कमाई का और कोई जरिया भी नहीं है...इस प्रकार का चिन्तन करती हुई वह मुखिया स्त्री घर में उदास बैठी हुई थी। उसी समय मुखिया पहुँचा घर। स्त्री को बहुत दु:खी पाया। दु:खी होने का कारण पूछा। तुम्हारी करतूत ने हमको दु:खी किया।...अरे ! कैसी करतूत? यही कि तुम पंचों के बीच यह बोल आये कि 30 और 30 मिलकर अगर 70 न होते हों तो मैं अपनी सारी भैंसे दे दूँगा..., तो

मुखिया बोला- अरे ! तू तो बड़ी भोली है, जब मैं अपने मुख से कहूँगा कि 30 और 30 मिलकर 60 होते हैं तभी तो वे हमारी भैंसे ले सकेंगे। अब बताओ ऐसा तो आग्रह लोग करते। तो ऐसे पक्ष, आग्रह, विषय ये सब मोक्षमार्ग में बाधक हैं। इनसे हटना है। ऐसी प्रवृत्ति से भरा हुआ जो भाव अशुभभाव, पाप भाव, अज्ञान भाव, वह शुद्ध भाव कैसे हो सकता है और जब शुद्ध भाव नहीं है तो फिर शान्तिपथ में गमन कैसे हो सकता।

1581- स्वरसनिर्भर स्वभाव में स्थिर होने का कर्तव्य-

अब क्या करना है कि स्वरस से भरे हुये स्वभाव में स्थिर होते हुए, चैतन्यरस प्रतिभासमात्र सहज आनन्दमय अन्तर्भाव में नियमित होते हुये अपनी साधना में चलते हुये उस परम शुद्धता को प्राप्त करो। देखिये, जो जिस प्रकार का उपयोग रखता है, एकाग्र होकर जैसा ध्यान रखता है, बस उसकी वैसी ही वृत्ति बन जाती है। चाहे कोई खेल भी हो, नाटक हो, किसी जगह हो, जैसा अपने को सोचा उसके अनुसार उसकी वृत्ति बन जाती है। बच्चे लोग भी तो घोड़े का खेल खेलते। दोनों हाथ दोनों घुटने-याने पैरों से चलकर घोड़े का खेल खेलते, वे उस समय अपने को घोड़ारूप अनुभव करते, एक दूसरे के सिर से सिर भिड़ा देते, जोर-जोर से एक दूसरे के सिर में सिर मार देते, उनमें तेज लड़ाई-सी हो जाती। उस समय वे बालक अपने को घोड़ारूप अनुभव करते। ऐसे ही जब मान लो बालक पैदा हुआ तो उस समय पिता यह अनुभव करता कि मैं इस लड़के का बाप हूँ तो इस निर्णय के साथ ही साथ कितनी उमंग होती है, कितना भार होता है याने वे सब कलायें आ जाती जो कि बाप के अध्यवसाय में बना करती हैं। इस आत्मा का धन सिर्फ ज्ञान है और ज्ञान के द्वारा ये सब कुछ अपनी परिणतियाँ और भविष्य बना करते हैं। उल्टा सोचना, खोटा सोचना, अच्छा सोचना, सब कुछ इस ज्ञान पर ही निर्भर है, तो जब ज्ञानसाध्य ही ये सारी बातें हैं, तो कोई अनुभव ज्ञान बनाना चाहिए जिससे कि संसार-संकटों से अपनी निवृत्ति हो जाय। जो शुद्ध तत्त्व निरन्तर ध्यान में रखेगा वह शुद्ध बनेगा, जो अशुद्धरूप अपने को अनुभवेगा वह अशुद्ध बनता हुआ संसार में जन्म-मरण करेगा। शुद्ध तत्त्व के मायने अपना सहज स्वरूप। मैं स्वयं अपने आप क्या हूँ, उस भाव में अनुभव बनायें कि मैं यह हूँ। जो अनवरत अनवच्छिन्न धारा से अपने को शुद्ध स्वरूप में निरखेगा, उसके कषायें हटेंगी, अज्ञान हटेगा। ऐसा अध्यात्मयोगी एक अद्भुत आनन्द का अनुभव करता है, यह है परमधन जीव का जिससे कि यह अमीर कहलाता। भैया ! धन के कारण अमीर मानना भ्रम है, धन न होने के कारण गरीब मानना भ्रम है। उस दुनियाँ की गरीबी और अमीरी से आत्मा को क्या लाभ अलाभ है।

1582- दु:खियों द्वारा सुखमुद्रा की बनावट-

भैया, थोड़ासा जीवन है। इतने से जीवन में कुछ मान्यता सी बन गई, कल्पना बन गई, कल्पना से कुछ मौज मान रहा, सो उसमें भी जितना मौज माना उससे कई गुना कष्ट हैं, तो ऐसा लग रहा है यह सब दिखावा। जैसे अचानक कोई पुरुष किसी के घर पहुँचता तो वहाँ उसका पता पाते ही उस घर वाला पुरुष

क्या करता? पहले तो जैसा चाहे फटा-पुराना कोई कपड़ा पहने बैठा था, मानो फटे-पुराने तौलिया, बनियान ही पहने हो, पर उस पुरुष के आ जाने पर साफ, स्वच्छ कपड़े पहनता, कुछ तेल लगाकर कंघा से बाल ओंछता, कुछ अपना ढंग बनाता तब वह उस पुरुष से मिलता है। ठीक ऐसा ही हाल हम सबका चल रहा है। दु:ख, कष्ट, विकल्प, विरोध, ईर्ष्या और और भी बातें जीवन में चलती हैं मगर इनकी बाहरी मुद्रा देखकर तो यों समझ में आता कि इन्हें कोई कष्ट नहीं है, सब लोग बड़े आराम से बैठे हैं, तो यह उसी तरह की तो बात हुई जैसे वह पुरुष घर में कैसे ही फटे-पुराने वस्त्र तौलिया, बनियान वगैरह पहने था, पर किसी अतिथि के आने पर नये-नये पहन लेता, तेल, कंघा कर लेता...ऐसे ही ये देखने में तो बड़े शान्त, सुखी नजर आते पर जरा इनके भीतर की बात तो पहचानो, ये भीतर ही भीतर कष्ट की ज्वाला में झुलस रहे हैं। तो यह सब अज्ञान की लीला है। अज्ञानी की सारी बातें अज्ञानमय ही चलती हैं। अब क्या करना? अपने ज्ञानस्वभाव को निरखो, शरीर से कैसे ही रहो, लोग कैसा ही समझें, इन लोगों की समझ से अगर अपना आचरण बनाया व्यवहार बनाया, तो पार नहीं पा सकते; सबको हम खुश नहीं कर सकते। नम्रता करें तो कहते हैं कि ये कायर हैं, कठोरता करें तो कहते कि यह घमंडी है, थोड़ा बोले तो कहते कि यह तो कुछ नहीं जानता, किसी से इसको प्यार ही नहीं है। मौन से रहें तो कहते कि किसी का यह ख्याल ही नहीं करता, खूब बोलें तो कहते कि यह तो बड़ा बकवादी है, बहुत बोलता है।

1583- सबको प्रसन्न करने की अशक्यता-

यहाँ कोई किसी दूसरे को खुश नहीं कर सकता? मेरे खुश करने से सभी खुश हो जायें ऐसा हो नहीं सकता। कोई खुश होता तो कोई नाखुश भी। इसलिए यहाँ किसको खुश करना सोचते? इसके सम्बन्ध में एक दृष्टान्त लो- एक सेठ के चार बेटे थे और 5 लाख की सम्पत्ति थी। चारों खुशी-खुशी से सही न्यारे हो गए, तो सेठ बोला अपने बेटों से कि तुम लोग सहर्ष न्यारे हो गए अब इसके उपलक्ष में सभी लोग बारी-बारी से प्रीतिभोज कराना, बिरादरी की पंगत कराना।...ठीक है। सबसे पहले छोटे बेटे ने बिरादरी की पंगत किया तो उसने 5-7 मिठाइयाँ बनवायीं, बड़ा उत्सव मनाया, तो उस पंगत में बिरादरी के लोग जीमते जायें और कहते जायें कि मालूम होता है कि इसको सबसे अधिक धन मिला है। छोटा बेटा है प्यार भी इसी पर रहा होगा। चाभी भी तो तिजोरी की इसके हाथ में रहा करती होगी, इसने बहुत-सा धन तो दाब भी लिया होगा तभी तो यह बड़ा उत्सव मना रहा।...उसके बाद दूसरे बेटे की बारी आयी प्रीतिभोज कराने की तो उसने कोई दो तीन ही मिठाइयाँ बनवायीं। वहाँ बिरादरी के लोग जीमते जायें और कहते जायें देखो यह कितना बदमाश निकला, इसने तो बस दो-तीन मिठाइयों में ही टरका दिया, दाब रखा हो चाहे बहुत-सा धन। तीसरे बेटे की पंगत कराने की बारी आयी तो उसने मिठाइयों का नाम न लिया, बस वही पूड़ी साग बनवाया, वहाँ भी बिरादरी के लोग जीमते जाते और कहते जाते अरे ! यह तो बड़ा कंजूस निकला, इसने तो मिठाई का नाम तक नहीं लिया, बस पूड़ी साग में ही टरका दिया..., चौथे बेटे ने जब पंगत किया तो उसने मिठाई पूड़ी

साग ये कुछ न बनवाया, बस सीधी-सादी रोटी, दाल बनवाई, यहाँ भी बिरादरी के लोग जीमते जाते और आपस में बात करते जाते, अरे ! यह तो महा कंजूस निकला। इसने तो बस रोटी दाल में ही टरका दिया। यह सेठ का सबसे बड़ा बेटा था, सबसे पहिला प्यारा था। शायद सेठ ने इसको सबसे ज्यादह धन दे रखा होगा, पर यह सबसे कंजूस निकला। तो भाई यहाँ किसको खुश करना चाहते, आप कितना ही कुछ कर लें पर किसी को खुश नहीं कर सकते। दूसरों को खुश करने की बात चित्त से निकाल दो।

1584- लोक को प्रसन्न रखने के लिये कमर कसने वालों की विडम्बना-

यहाँ आप कितना ही कुछ कर लें, पर आपके करने से सभी लोग खुश हो जायें ऐसा हो नहीं सकता। एक दृष्टान्त है कि एक बार कोई बाप बेटा किसी दूसरे गाँव को जा रहे थे सो बाप तो बैठा था घोड़े पर और बेटा पैदल चल रहा था। तो जब किसी गाँव से निकले तो लोग बोले, अरे ! देखो यह बाप कितना चालाक है। खुद तो घोड़े पर लदा है और अपने सुकुमाल बेटे को पैदल चला रहा है, यह बात सुनकर बाप बोला अपने बेटे से, ऐ बेटे ! अब हम घोड़े पर बैठकर नहीं चलेंगे, लोग हमारा नाम धरते हैं, अब तुम घोड़े पर बैठकर चलो। ठीक है, बेटा घोड़े पर बैठ गया, अब दूसरा गाँव मिला तो वहाँ के लोग बोले- देखो यह लड़का कितना उद्दण्ड है, खुद तो हट्टा-कट्टा पट्ठा घोड़े पर लदा है और अपने बूढ़े बाप को पैदल चला रहा है। यह बात सुनकर बेटा बोला अपने बाप से पिताजी हम भी नहीं बैठेंगे इस घोड़े पर क्योंकि लोग हमारा नाम धरते हैं। खैर, दोनों में सलाह हुई कि अपन दोनों घोड़े पर बैठकर चलें। सो दोनों घोड़े पर बैठकर जा रहे थे, रास्ते में कई तीसरा गाँव मिला, वहाँ के लोग बोले मालूम होता है कि यह घोड़ा माँगे का है तभी तो ये दोनों हट्टे-कट्टे इस घोड़े पर लदे हैं। यदि खुद का घोड़ा होता तो ऐसा न करते। इस बात को सुनकर दोनों ने सलाह की कि देखो, इसमें भी लोग नाम धर रहे तो चलो अपन दोनों पैदल चलें। अब दोनों पैदल चल रहे थे घोड़े की लगाम पकड़े हुए, आगे चौथा गाँव पड़ा, वहाँ के लोग बोले ये दोनों बड़े मूरख मालूम पड़ते हैं, अरे ! जब पैदल ही चलना था तो फिर साथ में घोड़ा लेकर चलने की क्या जरूरत थी?...अब भला बतलाओ, क्या काम करें वे दोनों जिससे कि सभी लोग खुश हो जावें? शायद इस काम के करने से सब खुश हो जावेंगे कि घोड़े के चारों पैर रस्सी से बाँधकर उसके बीच एक लाठी फँसाकर दोनों (बाप बेटा) अपने-अपने कंधे पर लाठी रखकर घोड़े को लादकर चलें (हँसी)। अरे भाई ! यहाँ किसको खुश करना चाहते? यहाँ कितना ही कुछ कर लो, पर सबको खुश नहीं कर सकते। यहाँ मोहीजन सोचते हैं कि हमें तो ऐसा काम करना है कि जिससे ये सब लोग खुश रहें तो वे तो मोहियों के सिरताज कहलायेंगे। यों सिरताज शब्द सुनकर खुश न हो जाना, जैसे डाकुओं का सिरताज, बदमाशों का सिरताज, ऐसे ही मोहियों का सिरताज। अरे ! बाहर में कहीं कुछ न सोचो, अपने भीतर परख करो, अपने सहज स्वभाव को निरखो और उसको निरखते-निरखते अपने आपमें प्रसन्नता प्राप्त करो तो यह तो है भलाई का काम और इस अपनी

स्वरूप-सुध को छोड़कर बाहर-बाहर ही उपयोग भ्रमाया, भटकाया तो इसका फल नियम से दुर्गति पाना है, संसार में जन्म-मरण करना है।

कलश 191

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति य: स नियतं सर्वापराधच्युत: ।
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदित: स्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥191॥

1585- अशुद्धिविधायि परद्रव्य के त्याग का प्रथम कर्तव्य–

यह भव्य आत्मा किस प्रकार शुद्ध होता हुआ समस्त कर्मों से छूट जाता है उसका इसमें चित्रण किया है। इस जीव ने सर्वप्रथम तो अशुद्धि का विधान करने वाले समग्र परद्रव्यों का त्यागा, देखिये बात कुछ भी कहीं जाय आखिर दृष्टि में दोनों हैं, अपने अंतस्तत्त्व का परिचय हुए बिना समस्त परद्रव्यों को त्यागा कैसे जा सकता है? तो यह समझ इसमें अन्डरस्टुड (Understood) है, जो सही ज्ञान में, प्रवृत्ति में आयगा, रास्ते में आयगा कि यह जीव सर्वप्रथम समग्र परद्रव्यों का त्याग करेगा, परद्रव्य हैं क्या? समग्र आश्रयभूत पदार्थ, ये अशुद्धि को करने वाले हैं, इनका करने वाला मैं नहीं, पर अशुद्धि का जहाँ निर्माण होता है, वहाँ वह उसका आश्रयभूत है। चरणानुयोग का समग्रविधान इस ही कुञ्जी पर बना है कि अध्वयसान के आश्रयभूत जो-जो भी द्रव्य हैं उनका त्याग करें और अपने अन्तर में अपने स्वरूप को निरखें, परद्रव्यों का त्याग, आश्रयभूत पदार्थों का त्याग, और और भी परिग्रह परिमाण, अन्य अन्य का भी त्याग, इस प्रकार पर द्रव्यों का त्याग करें, क्योंकि ये अशुद्धि के उत्पन्न होने में आश्रयभूत हैं। तथा और कौनसे परद्रव्य का त्याग? निमित्तभूत कर्मद्रव्य का त्याग, उसका त्याग कैसे? यहाँ जानते ही नहीं कि कर्म हमारे बँधे हैं, तो फिर उनका त्याग कैसे करें? अरे ! कर्म के फल में भाव लगा रहा था ना? यह ग्रहण कर रहा था ना? कि यह मैं हूँ तो कर्मफल में अहंकार का, ममकार का जो त्याग बना वह यह साबित करता है कि कर्म का भी त्याग हो गया, और जान लिया इस युक्ति से कि कर्म कोई द्रव्य है अन्यथा ये विपाक, विभाव के निमित्तभाव होते कहाँ से?

1586- विकार की परभावता का परिचय होने से स्वयं उपेक्षा-

एक कुञ्जी है कि जगत में जिन पदार्थों में विकारभाव होते हैं, विलक्षणभाव होते है वे अन्य परद्रव्य के संग के निमित्त से होते है, अन्यथा विकारभाव, विलक्षणभाव, विषमभाव ये हो ही नहीं सकते। कोई भी पदार्थ अपने आपके ही द्वारा अर्थात् स्वयं निमित्त होकर विकार को उत्पन्न नहीं कर सकता, नि:संग पदार्थ में तो

अपने स्वरूप के अनुरूप ही परिणमन बनेगा। परिणमन करने का स्वभाव तो है आत्मा में और स्वयं परिणमने की उसके अन्दर बात है फिर भी विभावरूप परिणमने में स्वयं निमित्त नहीं है, वहाँ पर द्रव्यकर्म वही एक निमित्त है, उसके विपाककाल के वातावरण में यह जीव अपनी कमजोरी से अपने आपमें विकार भाव उत्पन्न किया करता है। इसी कारण ये नैमित्तिक हैं, परभाव हैं, और ये परिचय ऐसी उमंग दिलाते हैं कि तेरे स्वरूप नहीं हैं, विभाव तो इनसे निराला है, अविकार स्वरूप है, तो अशुद्धि को करने वाले निमित्तभूत पदार्थ का त्याग कर उस निमित्त सन्निधान में यहाँ उत्पन्न हुए आत्मा के जो विभाव हैं ये नैमित्तिक हैं, वे भी परद्रव्य हैं, इनसे भी उपेक्षा कर। जैसे यहाँ दर्पण में फोटो को निरखते हैं तो यह ज्ञात होता है कि यह लाल, पीला कपड़ा परद्रव्य है, ऐसा ही सहसा ज्ञात होता है निमित्त-नैमित्तिक योग से निरखते हुए में कि यह फोटो भी पर है, तो समग्र परद्रव्यों का पहले त्याग किया। अशुद्धता से विविक्त अपने आपके स्वरूप की परख में उद्यमी, यह भव्यात्मा क्या-क्या कर रहा हैं? अपने द्रव्य में यह रति को प्राप्त होता है।

1587- बाहरी पदार्थ में शरण्यता की असंभवता-

कहाँ प्रीति जगे, कहाँ वात्सल्य उमड़े, किसकी शरण में जाऊँ, वह शरण है स्वद्रव्य। बाहर में कुछ भी इस जीव को शरण नहीं है। राजा भोज के समय में एक बार सभी कवि राज दरबार में उपस्थित थे, तो राजा ने एक कवि के बाप से कहा कि तुम एक समस्या की पूर्ति करो। ''क्वं याम: किं कुर्म: हरिणशिशुरेवं विलयति।'' अब यह कोई नियम तो नियम तो नहीं है कि कवि का बाप भी कवि ही हो, मगर पूछ दिया कवि के बाप से। अब यह देहाती बिना पढ़ा-लिखा बाप था, वह क्या उत्तर दे सके? कवि से पूछता तो जवाब भी मिलता। तो वहाँ अपने पुत्र कवि से वह बाप बोला- अपनी देहाती भाषा में कि पुरा रे बापा, याने इस समस्या की तू पूर्ति कर दे। तो वहाँ उस कवि ने अपने पिता की शान, इज्जत रखने के लिए कि कोई यह न कह सके कि यह अज्ञानी है, मूर्ख है, सो पुरा रे बापा का ही एक श्लोक बना दिया- 'पुरा रेवा पारे गिरिरतिदुरारोहशिखरे। गिरौ सव्येऽसव्ये दववहनज्वालाव्यतिकर:। धनु:पाणि: पश्वान्मृगयुशतकं धावति भृशं क्व याम: किं कुर्म: हरिणशिशुरेवं विलयति'। जिसका अर्थ है कि सेवा नदी के एक पार एक हिरणी का बच्चा अपनी माँ से बिछुड़ गया। सैकड़ों शिकारी उसे मारने के लिये पीछा कर रहे। वह हिरण बच्चा शिकारियों से अपने प्राण बचाने के लिए भागे। आगे देखा तो नदी का भयंकर तीव्र प्रवाह था, दायें बायें देखा कि भयंकर अग्नि जंगल में जल रही थी अब वह हिरणी बच्चा यह दृश्य देखकर घबड़ाता है कि कहाँ जाऊँ, क्या करूँ? ठीक यही हाल इन संसारी जीवों का है। ये अज्ञानी जीव यहाँ नाना स्थितियों से घबराकर कभी घर में रहे वहाँ भी अशान्त, घर छोड़कर वन में रहे वहाँ भी अशान्त, त्यागी बने वहाँ भी अशान्त, क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? यह सोच सोचकर दु:खी होते हैं।

1588- अहंकार, ममकार आदि अज्ञानभावों के दूर होने में ही कल्याणपथ का लाभ-

देखिये, जब तक अज्ञानभाव दूर न हो, स्वद्रव्य के सही स्वरूप का बोध न हो, तब तक इस जीव को शान्ति नहीं मिल सकती। गृहस्थ हो चाहे त्यागी हो, जैसे चाहे जैन हो, चाहे हिन्दू हो, चाहे मुसलमान सबके पैदा होने व मरने की विधि एक है। जिस काम की जैसी विधि है वह काम उस ही विधि से होता है। तो शान्ति पाने की एक ही विधि है, दूसरी नहीं। अपने आपके सहज निरपेक्षस्वरूप का परिचय करें और उसकी दृष्टि करें, उसमें तृप्त होने का अपना परिणाम करें। दूसरा परिणाम नहीं है शान्त होने का। तो इस भव्यआत्मा ने समग्र परद्रव्यों का त्याग किया और निज द्रव्य में इसने रति की, अनुराग किया, वात्सल्य किया, अब यह जीव सर्व अपराधों से दूर हो गया, अपने आत्मा के सहजस्वरूप की प्राप्ति हुई उपयोग द्वारा, पूर्ण विकास हुआ। ज्ञान में ज्ञान आया और यह ज्ञान वहीं रमना चाह रहा, वहीं रमने का उद्यम कर रहा, यह तो अपराध से दूर है। जैसे कभी कोई मास्टर अपने शिष्यों से कहता है कि देखो जिस शिष्य ने यह अपराध किया हो वह बता दे तो उसका कसूर माफ, ऐसे ही यह जैन शासन कहता है कि जिसने ऐसा कसूर किया है वह यदि अपना कसूर समझ ले तो वह माफ हो जायगा। जिसने अपराध किया यदि अपना अपराध स्वीकार कर ले तो उसका दण्ड कम हो जाता है, अपराध यह हो रहा है कि यह जीव परवस्तुओं में अहंकार रख रहा, और उसका कारण क्या कि इसने अपने स्वभाव का विभाव से भेद नहीं किया। मैं क्या हूँ उस ओर इसकी प्रीति नहीं जगी। अपराध बन रहे, क्या अपराध बन रहे हैं अहंकार- बाहरी पदार्थों में यह मैं हूँ, इस प्रकार का अहंकार भाव, शरीर मैं हूँ और अनन्त भिन्न पदार्थ जो एक क्षेत्र में भी नहीं उनके प्रति भी कह रहा, यह मैं हूँ। मोही ऐसा ममकार ममता कर रहा, देखते ही क्या दृष्टि बनती है। खुद का लड़का दिख गया तो भीतर में मन खुश हो गया। भले ही ऊपर से अपनी मुद्रा दूसरों के सामने कुछ बनाये, मगर अन्दर से उसका हृदय खिल गया? और चाहे कोई बड़ा धर्मात्मा भी हो, साधु भी हो पर उसके प्रति हृदय में वात्सल्य का भाव नहीं उमडता, यह कितना एक ममता का गहरा विष पड़ा है, तो ममकार यह अपराध है, कर्तृत्व-बुद्धि भी यह जीव कर रहा, मैंने क्या किया, मैं ऐसा कर सकता हूँ, मेरे बिना भला कोई यह काम कर तो लेवे...। यह सब क्या है? अज्ञानभाव। यह अपराध कर रहे, जो अपराधी है वह शान्ति कैसे पा सकता? भोक्तृत्वबुद्धि- मैं भोगता हूँ, मुझे ऐसा आराम है। मेरे ऐसा पुण्य है, ऐसा प्रताप है, मैं उसको भोग रहा हूँ...ये सब बातें अज्ञानभरी हैं।

1589- अज्ञानापराध के दूर होने पर सत्समृद्धि का लाभ-

पहले यह तो परख कर लो कि मेरे ऐसी प्रवृत्ति चल रही या नहीं, चल रही तो इतना बड़ा तो अज्ञान बसाए हुए हैं, खुद तो इतने अधर्मी हैं फिर दूसरे जीवों के प्रति क्यों प्रतिकूल व्यवहार? अपराध रहित बनें तो शान्ति मिलेगी। अपराध रहते हुए शान्ति नहीं रह सकती। अब यह जीव जिसने कि परद्रव्यों से उपेक्षा की, निज सहज स्वभाव में रुचि की, वह अपराध से दूर हो गया। अपराध से दूर हुआ कि बंध का ध्वंस हो गया। बंधन तो अपराध तक था, अपराध की वासना तक था। जहाँ अपराध दूर हुआ वहाँ बंध तोड़ दिया गया। अब

इस जीव को जिसने स्वाभावाश्रय के बल से समग्र पर द्रव्यों से नितान्त उपेक्षाभाव सिद्ध कर लिया और जब उससे ऊपर बढ़ गया, धुन हो रही तो बीच-बीच में जो विघ्न आते हैं, विकल्प उठते हैं, आश्रयभूत पदार्थों में बसने के कारण विकल्प जग रहे हैं तो इतने समग्र आश्रयभूत का त्याग करना है। बाह्य में कैवल्य, अन्तरङ्.ग में कैवल्य, दोनों का सहारा लेकर चलना है, निर्ग्रन्थ केवल ज्ञानमात्र की धुन होना है। अपने आपके आत्मा में जो साधु हैं, जो परमेष्ठी है उनके उपयोग में मैं साधु हूँ, ऐसी आस्था नहीं होती। मैं चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ, अपने लक्ष्य को लिए जा रहे हैं, लक्ष्य में बढ़ते चले जा रहे हैं, अब समाधि बढ़ती जा रही, श्रेणी में पहुँच गए। वहाँ शुक्लध्यान चल रहा। शुक्लध्यान-अग्नि से स्वभावाश्रय के प्रयोक्ता के जो एकाग्रता से ध्यान चल रहा, स्वभावरूप अपने ज्ञान को प्रवर्त रहा ऐसा जीव कर्मों का ध्वंस करता जा रहा है। और अब उसके ऐसा ज्ञान प्रकट हुआ, वह भव्यात्मा ऐसा शुद्ध हुआ कि अब वह नित्य उदीयमान है।

1590- प्रभुस्वरूप की नित्य उदीयमानता-

कहते हैं ना कि यह सूर्य तो उदय होता और अस्त को प्राप्त होता, पर हे प्रभु ! आपका गुण, आपका पद, आपका प्रकाश यह अस्त को प्राप्त नहीं होता। 'नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्य: स्पष्टीकरोषि सहसां युगपज्जगन्ति। नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावं:, सूर्याति शायिमहिमासि मुनीन्द्र लोके'। लोग सूर्य को देवता कहा करते हैं। क्यों ? लोक में प्रसिद्धि है कि उसके कारण बड़ा उपकार चल रहा है। खेती अच्छी होती है। सूर्य की किरणें न मिलें तो खेती खतम, आराम खतम। एक दिन सूर्य न निकले तो देख लो लोगों की क्या दशा हो जाय? हरा-भरा रहना, यह सब उपकार देख करके पहले यह बात थी कि जिसका उपकार समझा उसी को देवता मानने लगते थे, उसी के प्रति बड़ी भक्ति रखते थे, सो लोकजन सूर्य को आराधनीय देवता मानते हैं। भैया, सूर्यदेव तो जरूर है ज्योतिषी देव, मगर आराध्य देव नहीं। उपकार तो हो रहा उसके निमित्त से, उपकार कोई किसी का करता नहीं, मगर पर के सान्निध्य में ये बातें चल रही हैं ऐसे ही सूर्य से भी अतिशायी है आपकी महिमा। वह तो बादलों से ढक जाय, पर हे प्रभो ! आपका ज्ञान किसी से नहीं ढकता, यह नित्य उदीयमान है। क्या हो रहा है वहाँ? उनकी ही स्वयं की जो ज्योति है ज्ञानप्रकाश, उस आत्मप्रकाश में जो बहुत स्वच्छ उछलता हुआ अमृत-प्रवाह है उससे जिसकी महिमा भरपूर है ऐसा वह सिद्ध होता हुआ समस्त कर्मों से युक्त होता है। नीति में कहते हैं न 'शीतलाश्चन्दन चंद्ररश्मयो' आदि याने शीतल चंदन नहीं, शीतल कूपजल नहीं, शीतल कोल्डस्टोरेज नहीं, शीतल एयरकंडीसन नहीं, शीतल तो सज्जनों के वचन हैं। मगर परमार्थत: शीतल तो अपने ज्ञान की स्वच्छ रश्मियाँ हैं, जहाँ केवल प्रतिभास है, रागद्वेष का कोई कालुष्य नहीं, विशुद्ध प्रतिभास। शीतलता तो वहाँ है, यही है चेतन अमूर्त। वह प्रवाह उनके निरन्तर चल रहा है। ज्ञानस्वभाव में से स्वभाव-विकास प्रतिसमय उठता चला जा रहा है। जैसे बड़े तेज प्रकाश में और कुछ रश्मियाँ भी दिखती, हल्के एक तीव्र प्रकाश के कण नजर आते और मानो वही-वही घूम रहा, प्रवाह हो रहा, ऐसा नजर आ रहा ना? ऐसे ही उस शुद्ध ज्ञान में चूँकि वहाँ ही विकास है अरहंत प्रभु का, सिद्ध प्रभु का, तो

वह जो शुद्ध ज्ञान-प्रकाश है तो मानो उस शुद्ध स्वभाव से उस अनुरूप निरन्तर अमृत का प्रवाह चलता है। उसी से जिसकी महिमा है।

1591- अनन्त आनन्द के अनुभव की सर्वोत्कृष्ट महिमा-

देखिये, भगवान की महिमा किस बात से है- सहज परम उत्कृष्ट आनन्द का अनुभव होने से। और, यह हो रहा है उस अनन्त ज्ञान के कारण, सो यह अनन्त ज्ञान, यह विशुद्ध सहज प्रकाश, इससे प्रभु की महिमा है। वहाँ तीनों लोकालोक ज्ञेय हो रहे, इससे महिमा नहीं, वह तो स्वरूप ऐसा है कि इन सब पदार्थों को अपना समर्पण वहाँ करना पड़ता है। इतना एक अतुल विकास है कि तीनों लोक को अपना समर्पण करना पड़ता हैं। वह वही है, मगर ज्ञेयाकार तो सब आया, उसी को कहा जाता कि समस्त पदार्थों को अपना ज्ञेयाकार समर्पण करना पड़ रहा है, हो रहा है। यह उस अद्भुत ज्ञान की महिमा है मगर इसके कारण भगवान हमारे लिए बड़े नहीं, किन्तु एक अद्भुत अलौकिक आनन्द के कारण भगवान बड़े हैं। तो सहज परम उत्कृष्ट आत्मीय आनन्दरस से परिपूर्ण तृप्त हैं इस कारण बड़े हैं। देखो, बड़े तो दोनों से हैं। अगर कहा जाय कि आपको हम बहुत ज्ञान करायेंगे- यह कला भी सिखायेंगे, वह कला भी सिखायेंगे, मगर आपको रोटी न देंगे...तो भला यह बात मंजूर करेगा क्या? न मंजूर करेगा। जब कभी देश में आन्दोलन चलता तो रोटी, कपड़ा पहिले देते, तो ऐसे ही अपने को चाहिये निराकुलता, अपनी रोटी यह है। अपने को निराकुलता चाहिए, शान्ति चाहिए। चाहे तीनों लोक का ज्ञान न हो मगर शान्ति चाहिए। एक कल्पना करो कि तीनों लोक का ज्ञान भी जग जाय और आकुलता बढ़ जाय, होता नहीं ऐसा मगर क्या आप उस ज्ञान को पसन्द करेंगे? अरे ! आप तो आनन्द चाहेंगे। उस शान्ति का मेल है केवल ज्ञान का, इसलिए स्वरूप बताया है कि केवल ज्ञान एक यह उत्कृष्ट तत्त्व है, ऐसी वहाँ अनाकुलता भी है। ऐसा अनुकूल स्वरूप, वह सहज ज्ञान, परिपूर्ण ज्ञान वहाँ उदित हुआ है, कैसे हुआ? जैसे हुआ वैसे अपना काम करें।

1592- आप्तवाणी की मंगलमयता-

आप्त की वाणी ही प्रामाणिक है। आप्त का सही अर्थ क्या है, जो धातु से निष्पक्ष हो। आप्त मायने पहुँचा हुआ होना। जैसे कोई बहुत बड़ा ज्ञानी हो तो कहते हैं कि साहब यह तो बहुत पहुँचे हुए आत्मा हैं। अरहंत भगवान तो बहुत पहुँचे हुए जीव हैं मायने जो समग्र तत्त्वों का ज्ञान करे, संसार पार कर जो उत्तम धाम में पहुँच चुके हैं उनकी वाणी पूर्ण प्रामाणिक है। जैसे कोई नदी को पार करके दूसरे किनारे पर पहुँच गया हैं उसका कहना सत्य है, अधिकारपूर्ण बात है कि इस दूसरे किनारे खड़े हुए लोगों से कहे कि देखो तुम इस गली से आओ, वहाँ गड्ढा है, वहाँ अमुक विपद है, वहाँ से हम चल करके पार हो गए, आप लोग सब इस रास्ते से चलो और इस किनारे आ जावो, ऐसे ही मानो प्रभुवाणी में यह ही संकेत कर रहे कि जैसे हम जिस जिस गली से चल-चलकर इस संसार-नदी को पार करके इस मोक्ष के किनारे पर लग गए हैं, ऐसे ही है भव्य जीव ! तुम भी इस गली से आना। अन्य किसी दूसरी गली से न आना, क्योंकि अन्य अगल

बगल की गलियों में विपत्ति है, क्या विडम्बना है, सो इस सही सुगम सहज इस रास्ते से आओ, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की गली से आओ और इस किनारे पर आ जाओ जिस पर हम हैं। प्रभु वाणी में यह ही तो संकेत है, यह रत्नत्रय का रास्ता बड़ा अच्छा है, अपनी शान्ति कर लो, सहज अपना ज्ञान करो और अपने स्वरूप में रम जाओ। और गलियाँ बड़ी खराब हैं, पर वस्तु में रमे, तो उसकी आशा, प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, उससे कृपा चाहेंगे, यह जरा प्रसन्न हो जाय तो मुझे सुख मिले। अरे !इन विषयों की गली छोड़ो, इनमें तो बहुत पराधीनता है, पर व्यर्थ के अज्ञान से पराधीनता बनी हुई है, तो इस गली से मत आइये नहीं तो डूब जावोगे, जिस गली से हम चले हैं उस गली से चलकर आओ और जहाँ हम है वहाँ आ जाओ, प्रभुवाणी में यह ही बताया है, जैसे हो वैसे इस स्वभाव का आदर करो। स्वभाव का आश्रय लो, अपने में सहज निरपेक्ष चैतन्य स्वरूप मात्र है, ऐसी अपन प्रतीति करें, सब कुछ मिलेगा इसके प्रमाद से। एक को साधा तो सब सध जायगा और जगत में बाहरी पदार्थों में किसी को मनायें, किसी का आश्रय लें तो न वह मिलेगा, न यह मिलेगा। वह तो यों न मिलेगा कि विनश्वर चीज है, आपका उस पर हक भी नहीं और खुद यों न मिलेगा कि आपने इन बाहरी पदार्थों में रुचि की वहाँ प्रभु प्रसन्न नहीं होता। वह मिलेगा कैसे? सो एक निज सहज निरपेक्ष अंतस्तत्त्व का आश्रय रखें, इसके प्रताप से अपना काम बनना है, और जैसा बनेगा यह पूर्ण विकसित हो जायगा। इस प्रकार ये प्रभु अपने स्वरूप में रमकर अपनी महिमा को पूर्ण कर शुद्ध होकर सदा के लिये संसार संकटों से, कर्मों से सबसे छूट गए और अनन्तकाल के लिए अपने निज सहज आनन्द का ही अनुभव करेंगे।

कलश 192

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।
एकाकार-स्व-रस-भरतो-ऽत्यन्त-गम्भीर-धीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥192॥

1593- सिद्ध होने का मूल उपाय बन्धच्छेद-

यह मोक्ष अधिकार का अन्तिम कलश है, कुछ ऐसा सुयोग है कि आज दसलक्षण के दिन पूरे हो रहे और आज ही यह अधिकार भी पूर्ण हो रहा है। और इस कलश में भी यही कहा जा रहा है कि यह ज्ञान अपनी अचल महिमा में लीन होता है। इस ज्ञानी की महिमा, बड़प्पन, विकास उदारता बहुत विशाल है। तीन लोक,

तीन काल के समस्त पदार्थ युगपत् प्रतिभासित हों, ऐसी ही इनकी महिमा, और यह महिमा अचल है, आज है, कल न रहे, ऐसा नहीं है, ऐसी अचल महिमा में अब यह ज्ञान लीन होता है। इस तरह क्या किया पहले, जो इतनी ऊँची बात मिल गई? सर्वप्रथम बंध का छेद हुआ उपयोग से, श्रद्धा से बंध का छेद बहुत पहले हो गया था, और अब विभावों से उपेक्षा करना, स्वभाव में ही उपयुक्त रहकर स्वभाव के ही अभ्यास में ऐसी महिमा बैठाये कि कुछ भी अविनाशी अनुपम मोक्षपद प्राप्त हो। मोक्ष की कोई उपमा हैं? सिद्ध भगवान को क्या सुख है, सिद्ध भगवान की क्या स्थिति है, इसके लिए कोई उपमा मिलेगी क्या? हाँ, मिल तो जायगी, बोलो अच्छा, सिद्ध भगवान का पद सिद्ध भगवान की तरह है, और दूसरा न मिलेगा कहने-सुनने को, तो बंध का छेद होने से इस अतुल अविनाशी मोक्ष को पाता हुआ यह ज्ञान ऐसा हो गया कि नित्य प्रकाशमान दशा जहाँ जिसका उद्योत निरन्तर चल रहा ऐसे प्रकाश के कारण जिसकी सहज अवस्था स्फुटित हो गई, प्रकट हो गयी।

1594- मोह में दुर्लभ संसार की सुगमता व सुगम मोक्ष की असंभवता-

देखो, सिद्ध बनने में कुछ व्यायाम नहीं पड़ा, कठिनाई नहीं पड़ी, पर संसार में रहने में बहुत कठिनाई पड़ती, न जाने किस-किस पर पदार्थ की आशा करें, किस-किस का मोह बतायें, किस-किस का संग्रह करें, किस-किस को मनायें, कितनी ही बातें करनी पड़ती हैं, तब ही तो इस संसार का मिलना बड़ा दुर्लभ है, यह अपने वश की बात नहीं हैं, आसानी से संसार नहीं मिलता, दुर्लभ है यह संसार न जाने क्या-क्या विकल्प करें, न जाने कितनी कितनी चीजों का संग्रह-विग्रह करें, बहुत दुर्लभ है संसार और मोक्ष यह बहुत सुगम है, खुद का खुद से मतलब, खुद को जाने, खुद में रमें, इसमें न कोई किसी की आशा, न किसी की प्रतीक्षा, और निज स्वभाव के आश्रय से बस वही स्वभाव प्रकट हो गया, सिद्ध बन गए तो सिद्ध होना कोई कठिन बात नहीं, कठिन बात तो यह है संसार में रुलना सो देखो हम आप लोग ये संसार के जीव हैं, ये सब संसार के लोग सिद्ध भगवान से भी बड़ा काम कर रहे, बड़ा अज्ञान छाया है इस निर्णय में कि ऐसे विरुद्ध पराश्रित अनेक मलिनताओं से यह संयोजन, ये काम तो लग रहे आसान और सिद्ध पद की प्राप्ति यह लग रही कठिन, इसको क्या कहा जाय? जो मोह का नशा ही कहना चाहिए। जो निज की बात है, सुगम है, सहज है, उसकी तो सुध तक नहीं है और जो असम्भव है उसमें कल्पना लग रही है, तो प्रभु का मार्ग कितना निर्विघ्न है, कितना अनुपम है और कितना एक विडम्बना रहित है, जो अपने आपकी ओर दृष्टि करे उसको तो मोक्ष पाना बिल्कुल स्पष्ट है, इस ज्ञान ने अब वह सहज अवस्था दृष्टि में प्राप्त की।

1595- सहज सौन्दर्य-

भैया, सहज अवस्था में ही सुन्दरता है। जो बहुत श्रृंगार किया जाता है शरीर पर तो यों समझ लो कि शरीर में खुद सुन्दरता नहीं इसलिए उसे सजाया जाता। खुद सुन्दरता हो तो सजाने की क्या जरूरत? जब अशुचिका भरा है यह शरीर तो कहीं से पसीना बन रहा तो कहीं से नाक बनती, कहीं से कीचड़ बनता, कहीं

से कुछ, तो यह अपवित्रता लोगों के ध्यान में नहीं आये और यह सुन्दर जँच जाय, इसका उपाय यह ही है कि चमकदार कपड़े पहिन लिये जायें और चमकदार हाथ में कंगन पहन लिये जायें, वे चमकते रहेंगे तो यह भीतर की पोल ढकी रहेगी, यह भाव है श्रृंगार का। जो अपवित्र शरीर है, जिसे देखकर घृणा होनी चाहिये, अब उस बाहरी बात को ढकने का क्या उपाय है? बस यही उपाय है। सो ज्यों-ज्यों हम उपाय करते हैं त्यों-त्यों क्या बात घटित होती है कि यह कपड़ा, यह हीरा, यह अंगूठी, यह तो सही है, ढंग है, जिसके कारण शरीर की अशुचिता ध्यान से हटकर बढ़िया बताना चाहते। बताओ अब वह शरीर बढ़िया रहा कि कपड़ा? सहज अवस्था वही सुन्दर अवस्था है और बनावट अवस्था विकृत अवस्था है, वह एक चिन्ता उत्पन्न करने वाला है। प्रभु की अवस्था सहज अवस्था है, यह ज्ञान अपने नित्य चेतनप्रकाश के उदित होने से सब सहज अवस्था में आ गया।

1596- सहज परमात्मतत्त्व की एकाकारस्वरसनिर्भरता-

अब यह ज्ञान एकान्त: शुद्ध है, मायने अत्यन्त शुद्ध है, पर्याय शुद्ध। स्वभाव शुद्ध तो था ही, पर्याय शुद्ध और हो गया, ऐसा यह ज्ञान अब अपनी अचल महिमा में लीन हो रहा है। अब क्या है? एकाकार। मानो जो कुछ जाना जा रहा है वह उसमें रहा स्वभाव के अनुरूप, जान गए तो भी जाना गया सा नहीं, क्योंकि वह ज्ञातादृष्टा की स्थिति है, सामान्य अवस्था है। सहज अवस्था है, इसलिये अब एकाकार हो गया और वही उसका स्वरस है, इसी से वह भरपूर है। जो था सो ही रह गया, केवल रह गया, शुद्ध पर से रहित जो कुछ है सो ही वह नानाकार होकर भी एकाकार हैं। तीन लोक, तीन काल को जानते हुये भी विकल्पों की दृष्टि में न जानने की तरह, ऐसी स्वभाव के अनुरूप दशा बनी है। भला एक दृष्टि तो बनाओ, कहते हैं कि रूप, रस, गंध, स्पर्श पुद्गल हैं। हमें तो विविधता बहुत अच्छी जँचती है। नाक से सूँघों तो गंध लगती, आँखों से देखें तो रूप दिखता और रसना से चखें तो रस समझ में आयगा, और हाथ से छुवें तो स्पर्श समझ में आयगा, मगर सिद्ध भगवान के तो शरीर ही नहीं, इन्द्रिय ही नहीं। उन चारों का ज्ञान किस ढंग से होता होगा? कोई अंदाज किया जा सकता है? जैसे वहाँ नानाकारता इसको ध्यान में आती है ऐसी नानाकारता वहाँ चलती है क्या? जानता है और नहीं जानता यों कह लो, जानना भी नहीं जानना सो हो रहा। एकाकार, स्वरस, सब कुछ जान गए मगर स्वरस झरता, अपने ही स्वरस के फल से वह अत्यन्त गंभीर है, ऐसा ज्ञान ही अपनी महिमा में लीन हो रहा।

1597- स्वरूपपरिचय से स्वरूपसर्वस्व की सिद्धि-

भैया, ऐसी पवित्रता का अपना कार्य बने- इस ज्ञान में स्वरूप का बोध, परभाव का बोध, परपदार्थ का बोध, आत्मवस्तु की कला, स्वभाव का परिचय, उसका अभ्यास। देखिये जिसके ज्ञान में स्वरूपसर्वस्व आ जाय उसको सरल हैं सब और जिसके मन में स्वयं का तत्त्व नहीं आता उसको कठिन है। जब सुकौशल आदिक की कथा सुनते हैं सुकौशल की पत्नी के शुरू-शुरू का गर्भ, छोटी अवस्था, वैराग्य हो गया, वन में

पहुँच गये, दीक्षा लेने लगे तो मोहियों को अचरज होता और सम्भव है कि कई-कई मोही तो यह भी कह उठते होंगे कि कुछ दिमाग खराब तो नहीं हो गया। अरे ! स्त्री को छोड़कर जा रहा। और ज्ञानीजन आचरण करते इस बात पर कि जहाँ कुछ मिलता-जुलता नहीं, वहाँ ये मोही लोग क्यों रम रहे? अज्ञानी इस पर आश्चर्य करते कि यह सबसे उदास होकर अपने में, ज्ञान में, अपनी दीक्षा में लगे, तो कोई दिमाग में फितूर तो नहीं हो गया। जिसको जो बात रुचती है उसके लिए वह बात सुगम है। अब पर पदार्थ रुच जाय तो उसे नफा क्या मिलेगा और स्वरुच गया तो पवित्रता, कल्याण, साक्षात् शान्ति सब कुछ मिल गया। तो यह भाव क्यों नहीं बनता कि मुझे परपदार्थ न रुचे, स्व ही रुचे और इसके लिए थोड़ा ऐसा जानकर प्रयोग करें। बच्चे पर, मानो आपका हजारों रुपया खर्च होता तो गैर पर, औरों पर उसका कुछ अंश तो खर्च करने की आदत बनाओ, जिससे धीरे-धीरे यह बात समा जाय कि सब जीव समान हैं, अब उस मोह का विकल्प कर रहे, सुन रहे, सब कर रहे, वही इसके लिए प्राण न्योछावर हैं दूसरे को कुछ नहीं, इतना गहरा जहाँ आग्रह है दृढ़, तो वहाँ एक ऐसा प्रयोग कीजिए कि यह कुछ अपने में प्रगति कर सके। प्रयोग बनाओ, छोड़ना तो है ही सब, छूटेगा तो है ही सब। न कोई किसी का लड़का, न कोई किसी का कुछ। इस जिन्दगी में भी नहीं, मृत्यु बाद तो फिर होगा ही क्या? अपने सबसे निरालेपन की, भावना बने तो धर्मलाभ भी मिलेगा। तो मोह, ममत्व से दूर हों तो कल्याण बने।

1598- मोक्ष तत्त्व के निरख की सम्पूर्णता-

जिसको स्वरूपज्ञान हुआ, उसको अभ्यास बना, कर्म की निर्जरा हुई। कर्म की बात कर्म में चलेगी, आपकी बात आपमें चलेगी। क्या सोचना किसी दूसरे की बात? खुद का खुद में करें ना? अंतस्तत्त्व की दृष्टि का अभ्यास होते-होते यह ज्ञानलीनता हो जाती है। वह आराधक ज्ञान ऐसे ज्ञानस्वभाव में आत्मा के परिपूर्ण है, वहाँ चलनपना नहीं, ऐसा यह ज्ञान अब इस अपने अचलस्वरूप में लीन होता है। लीन हो गया मायने बस वह साफ पार हो गया। अब इसको करने को कुछ नहीं रहा। वहाँ तो यह हुआ और यहाँ आराधक का, साधक का, अन्तस्तत्त्व का स्वरूप निरखने वाले का उपयोग भूमि में किये हुये इस नाटक में क्या हुआ कि मोक्ष का वर्णन करते आ रहे थे, तो अब मोक्ष का वर्णन समाप्त हो रहा, मायने ज्ञान में जो मोक्ष की बात शुरू हो रही थी, भेष था सो यहाँ मोक्ष का निष्क्रान्त हुआ, केवल मोक्ष की चर्चा करने वाले, ज्ञान करने वाले उसका उपयोग कर रहे थे, अब दूसरा उपयोग चलेगा। मोक्ष तत्त्व का वर्णन हो चुकने के बाद अब क्या रह गया कहने के लिये? क्योंकि कहने के लिये इतनी सारी बातें और रह गई जितनी कि कह चुके। क्यों रह गई। हुआ तो सब मगर राग-वासना से ये सब भूल गये। अब वही चर्चा फिर होना। किन्तु लेखन की रचना में वह अधिकार तो कुछ नहीं आता कि वे सब अधिकार तो इस साधक के चिंतन में मनन में, कई बार आयेंगे। मगर लिखने में कुछ भी अधिकार न आयगा। सारभूत जिसका आश्रय करने से संकट टलते हैं, मुक्ति प्राप्त होती है, बस एक निचोड़ रूप, सारभूत ब्रह्मस्वरूप सर्वविशुद्ध ज्ञान, बस उसकी चर्चा सुन लेने के

नाते से होगी, बाकी जो वक्तव्य था सात तत्त्वों के बारे में संक्षिप्त, वह इस अधिकार में अब समाप्त हो रहा है।

।इति समयसार कलश प्रवचन चतुर्थ भाग समाप्त।